भारत में राजनीति

रजनी कोठारी

सेंटर फार द स्टडी

आफ डेवलपिंग सोसाइटीज

अनुवादक

अशोकजी

(सपादक स्वातन्त्र भारत लखनऊ)



ओरिएण्ट लॉगमैन

ओरिएण्ट लाँगमैन लिमिटेड
रजिस्टड कार्यालय ३/७, आसफ अली रोड, नयी दिल्ली १
१७, चित्तरजन एवेन्यू, कलकत्ता १३
निकल रोड बैलाड एस्टेट, बम्बई १
३६ ए माउण्ट राड मद्रास २
वी ३/७ आसफ अली रोड, नयी दिल्ली १

भारत में मुद्रित
सुजित पटवधन, सगम प्रेस लि, १७ कोथरूड पूना २९
द्वारा मुद्रित और वा ह पटवधन मनेजर ओरिएण्ट लागमन लि
वी ३/७, आसफ अली राड नयी दिल्ली १ द्वारा प्रकाशित

रावजी भाई सी पटेल को
प्रेरणा के स्रोत और आलोचक

भारतीय राजनीति

मूल अंग्रेजी पुस्तक इंडियन पॉलिटिक्स सन १९६८–६९ मे लिखी गई थी। तब से भारतीय राजनीति मे बहुत से नये अनुभव हुए हैं। इन अनुभवो से अधिकतर इस पुस्तक की सामान्य स्थापनाओ की पुष्टि ही हुई, जैसे राजनीति की स्वतन्त्र सत्ता, भारतीय समाज मे परिवर्तन लाने मे शासन की सक्रिय भूमिका, भारतीय राजनीति की अपनी अलग शैली, जो पश्चिमी ढाचे के वर्गहिता के समुच्चयीकरण और आर्थिक शक्तियो की सार्वभौमता के मार्क्सवादी ढाचे, दोनो से भिन्न है, इसके सास्थानिक विश्लेषण की जिसमे एक दल की प्रधानता को मुख्य स्थान है, देश मे आनेवाले सकटो की चुनौती से राजनीति और शासन की कार्यप्रणाली मे होने वाले बडे परिवर्तन, लोकतान्त्रिक पद्धति और राज्य की मुख्य नीतियो की सफलता के बारे में आशावादी दृष्टिकोण। यह ही पुस्तक की मुख्य स्थापनाएँ है।

भारत में इधर जो घटनाएँ हुई हैं इनसे भारतीय राजनीति की ये स्थायी विशेषताएँ और उदभासित हुई है। यदि १९६७ के आम चुनाव से इन विशेषताओ के बारे में कुछ शकाएँ उत्पन्न भी हुई थी, तो इन नई घटनाओ से उनका निराकरण हुआ है। इस पुस्तक मे देश की व्यवस्था के जिन बुनियादी तत्त्वो का निरूपण किया गया था उनको बल मिला है, देश में आत्मविश्वास बढा है तथा आगे जो काम करने है उनके प्रति अधिक चेतना और जिम्मेदारी का भाव आया है। यह भी ध्यान देने की बात है कि हाल में देश के नेतृत्व और नीतियो में जो परिवर्तन हुआ है वह काग्रेस के प्रभाव में कमी होने से नही बल्कि उसकी अपने रग ढग को बदलने की क्षमता के कारण हुआ है, जिस पर इस पुस्तक में काफी विस्तार से विचार किया गया है।

साथ ही इन नयी घटनाओ के कारण इस पुस्तक में जिन बातो पर जोर दिया गया था और जो व्याख्याएँ की गई थी, उन में थोडा सशोधन भी करना पडेगा। जैसे काग्रेस दल मे जो सकट १९६९ मे शुरू हुआ और १९७२ मे समाप्त हुआ, उस से १९६२ मे चीन के आक्रमण और नेहरू के देहान्त के बाद लोकतान्त्रिक

पद्धति में जो शिथिलता आ गई थी, वह और भी उजागर हो जाती है। अब यह स्पष्ट हो गया है कि पूरे एक दशक तक देश एक सहमति के रूप में काम नहीं कर रहा था, यद्यपि इसी अवधि में खेती में कुछ बड़ी उपलब्धियाँ हुईं, देश की सुरक्षा-व्यवस्था मजबूत हुई और भाषा-समस्या के समाधान में प्रगति हुई। इस पुस्तक के दो और विश्लेषणों में भी संशोधन आवश्यक है। एक नेहरू और लाल बहादुर शास्त्री के उत्तराधिकारी के चुनाव और दूसरे १९६३ में कामराज योजना के बाद उदित प्रादेशिक नेताओं के गुट या समूह के बारे में। अब यह स्पष्ट हो गया है कि यद्यपि दोनों बार नए नेता के सुव्यवस्थित ढंग से चुनाव से यह शंका दूर हो गई कि नेहरू के बाद क्या होगा, किंतु जिस प्रकार सहमति की प्रक्रिया द्वारा ये दोनों चुनाव हुए उनसे सर्वोच्च स्तर पर सत्ता के लिए ऐसा संघर्ष छिड़ गया, जिससे केंद्रीय सत्ता की अस्थिरता और दुर्बलता का एक लम्बा दौर भी शुरू हो गया। इसका अंत तभी हुआ जब इन्दिरा गांधी ने संघर्ष और संकट मोल ले कर केन्द्र और कांग्रेस के शासन पक्ष की प्रधानता को पुनः स्थापित किया।

इस दोहरी प्रक्रिया में भारत की अंतर्राष्ट्रीय स्थिति में नाटकीय परिवर्तन आया और यह प्रकट हो गया कि देश की आंतरिक शक्ति का उसकी बाहरी या अंतर्राष्ट्रीय क्षमता से कितना घना संबंध है। इस पुस्तक के दसवें अध्याय में इस संबंध का विश्लेषण किया गया है किंतु इस में कुछ कमी और अस्पष्टता रह गई है। अब से भारत के नेता लगातार ऐसी नीतियों के निर्धारण में लगे रहेंगे जिससे देश की स्वतन्त्रता सुरक्षित रहे, वह नई चुनौतियों का सामना कर सके और अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में अपनी भूमिका अदा कर सके।

अंत में यह प्रश्न है कि व्यवस्था किस प्रकार काम करती है। इस विषय पर काफी विस्तार से (अध्याय ८ से ११) विचार किया गया है। वस्तुतः इसकी मुख्य बात यही है कि राजनीतिक प्रक्रिया के सफल संस्थानीकरण और सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्र में इसकी अपेक्षाकृत विफलता के कारण एक विरोधाभास या अंतर पैदा हो गया है और यह समस्या अब बहुत तीव्र हो उठी है। देश के सामने जो विकट समस्याएँ उपस्थित हुई हैं उनको सुलझा सकने में भारत की लोकतन्त्री व्यवस्था कहाँ तक सफल होती है इसी पर इस व्यवस्था का और देश का भविष्य निर्भर है। मूल पुस्तक का यही मुख्य संदेश और स्थापना थी, परन्तु अब इसने ऐसा निश्चित रूप ग्रहण कर लिया है, जो पुस्तक के अंतिम अध्याय में निरूपित निष्कर्षों से आगे चला जाता है।

परन्तु पुस्तक की मुख्य स्थापना अभी भी कायम है और पिछली घटनाओं से उसकी और पुष्टि हुई है। स्थापना यह है कि राज्य और राष्ट्र के निर्माण का जो लोकतन्त्री ढांचा भारत ने निर्मित किया है वह सफल हो सकता है और इतिहास में एक उदाहरण कायम कर सकता है, बशर्ते भारत के नेतागण ने जिस

पद्धति का स्वय निर्माण किया है, उसकी वास्तविक गतिशील प्रकृति को वह समझे और उसी के अनुसार काय करे। सन १९६६ मे जब मूल अग्रेजी पुस्तक प्रकाशित हुई थी, उसके मुकाबल आज सन १९७२ म जब इसका हिदी सस्करण निकल रहा है देश इस परीक्षा मे सफल होने की कही अच्छी स्थिति मे है। इसी प्रकार यदि यह विफल हुआ तो इस से ऐसी प्रवत्तिया का जम होगा, जिनको सभालना कठिन होगा। इस सीमा तक इस पुस्तक मे कुछ प्रश्ना पर जो सदिग्ध रख लिया गया था, उसकी बजाय भारत म लोकतन्त्र की परिणति या फलश्रुति को और स्पष्टता से समझना पडेगा।

इस पुस्तक के अग्रेजी सस्करण की जिन आलोचको ने ध्यानपूवक समीक्षा की ह, सावजनिक और विद्या जगत् के जिन लोगो ने उपयोगी विचार प्रकट किए है और राजनीतिशास्त्र तथा अय विषयो के अध्यापको ने इस कठिन पुस्तक का, जो पाठ्यक्रम में लगाने के लिए नही लिखी गई थी, अध्यापन मे जो उपयोग किया है उसके लिए मैं उनका आभारी हूँ। इही अध्यापक मित्रो के प्रोत्साहन से इस पुस्तक का हिदी अनुवाद हो सका है। इस अनुवाद की व्यवस्था कराने म आरिएण्ट लॉगमैन्स के श्री वा ह पटवधन ने विशेष रुचि ली ह और मेर सहयोगी डा रामाश्रय राय ने इसको ध्यान से दखा ह, जिस से अनुवाद मूल क अनुरूप हो सके, मै इन दोनो मित्रो का आभारी हूँ।

रजनी कोठारी



अनुक्रम

सैद्धान्तिक विवेचन

यदि आधुनिकीकरण हमारे युग की मुख्य प्रवृत्ति है, तो राजनैतिकीकरण इसकी सचालक शक्ति है, और इस शक्ति पर मनुष्य अभी अधिकार नही कर पाया है, क्योकि एक हदतक वह अभी भी दकियानसी विचारो से अपना पल्ला नही छुडा सका है। १७ और १८ वी शताब्दी म मनुष्य के सामने मुख्य चुनौतिया थी, प्रकृति की शक्तियो पर अधिकार और धार्मिक कट्टरता की और १९ वी शताब्दी मे जनसख्या के और आर्थिक प्रवृत्तियो के नियत्रण की। हमारे समय मे मनुष्य की सबसे बडी समस्या है सरकार और राजनीति के फैलते हुए क्षेत्र की। राजनीति की कला और विज्ञान पर अधिकार के द्वारा ही मनुष्य अपना कल्याण कर सकता है। यह समस्या राजनीति या समाजशास्त्रियो की ही नही, सब श्रेणी के नेताओ और जनमत के निर्माताओ की भी है।

राजनीति की प्रक्रिया का सबध अनेक वर्गो और सगठनो से है—राजनैतिक दल और चुनाव तत्र, जनमत के विविध माध्यम (प्रेस, रेडिओ आदि), गैर साप्रदायिक और साप्रदायिक विभिन्न हितो के सगठन, बुद्धिजीवियो तथा सफेदपशा व्यवसायो और सरकारी नौकरो का बढता हुआ वर्ग। आधुनिकता की प्रक्रिया से ये सब वर्ग प्रभावित होते है, और एक दूसरे पर प्रभाव डालते है, आकाक्षा और अवसर मे जो अतर है उसका ये अनुभव करते है, व्यवस्था से इस आकाक्षाओ की पूर्ति की माग करते है और इस प्रकार उसकी क्षमता और कुशलता की परीक्षा करते हैं।

राजनैतिक विकास का सदर्भ

नये राष्ट्र का पद पाने वाली पुरानी सभ्यताओ के विकास या परिवर्तन की प्रक्रिया बडी व्यापक, दूरगामी और विषम है। सामाजिक परपरा और परिवर्तन जन्य उग्रवादिता मे विरोधाभास से हम अनस्थिर स्थितिमें स्थिरता का भ्रम नही करना चाहिए। मूल बात सामाजिक पुरानी रीति-नीति नही बल्कि परिवर्तन की विचारधारा का प्रभाव है। समाज का पुराना ढाचा, जाति और कबीले की व्यवस्था

थोडे समय के लिए उपयोगी हो सकती है (भारत में वे हैं भी) परतु अत में उनको परिवतन की शक्तियों के सामने आत्मसमपण करना होगा। जिन नए विचारा, सिद्धाता और नयी सस्थाओ को नए राष्ट्र में विधान के द्वारा स्थापित किया गया है, उनके फलिताय को स्पष्ट रूप से समझना और स्वीकारना होगा। सोद्देश्य परिवतन की योजना बनाने वाला के सामने सबसे बडा प्रश्न यही होता है कि क्या उन्हे इनके लिए समय मिलेगा ? राजनैतिक और आर्थिक विकास का काय एक दिन का नहीं है। इसमें समय लगता है और आवश्यक नही कि यह सीधे रास्ते पर चले और उत्तरोत्तर बढना चले। दूसरी ओर नये मूल्या और आकाक्षाओ का प्रसार एक बार शुरू होने पर बडी तेजी से होता है और उस पर बाहरी बाता का प्रभाव पडता है। इस कारण आधुनिकीकरण करने वाले सब नये राष्ट्रा के सामने स्थिरता और जन समथन की समस्या खडी होती है। वही अस्थिरता और उथल-पुथल अधिक होती है वहीं कम।[1]

स्थिरता या अस्थिरता इस पर निर्भर होती है कि राज्यतत्र या व्यवस्था को क्या काम करना है और समाज की विभिन्न उपव्यवस्थाओ या वर्गों से उसका क्या सबध रहता है। मुख्यत दो प्रकार की व्यवस्थाए हो सकती हैं – एक अतिकेंद्रित, जिसमें सारे अधिकार केन्द्रीय नेतत्व के हाथ में रहते हैं, दूसरी अनेकात्मक और साझेदारी वाली जिसमें अधिकार बटे रहते हैं और मध्यम व निचले स्तर के नेताओ को भी अधिकार में भाग मिलता है। पर अपने शुद्ध रूप में दोनो व्यवस्थाए कहीं नहीं पायी जाती।

मुख्य समस्या यह है कि भारत जैसी अपेक्षाकृत खुली राजनैतिक व्यवस्थाओ को ऐसे काम उठाने पडते है, जिनसे 'उन्नत' राज्यव्यवस्थाए भी हिचकिचाती हैं, जबकि इनके पास वे आर्थिक, प्रौद्योगिक और प्रशासनिक साधन नहीं हैं जो उन्नत देशो के पास होते हैं। गैर पश्चिमी राष्ट्रो ने पश्चिमी राष्ट्रो के आदर्शों और सामाजिक आकाक्षाओ को अपना लिया है, लेकिन पश्चिमी राष्ट्रो की तरह इनको पहले अपनी राजनैतिक व्यवस्था को जमा लेने और आर्थिक और बौद्धिक साधनो का निर्माण कर लेने का समय नही मिला। इस दृष्टि से ससार के सिमटने से इन देशो को कठिनाई हुई है, क्योंकि उन्नत देशो के सपर्क के कारण उनको इनकी सामाजिक, राजनैतिक विचार सरणिया अपनानी पडी है, जबकि उसी के अनुसार स्थिर और सुसगत परिवतन के लिए भौतिक और सस्थागत साधन इनके पास नही है।

भारत में इस समस्या को स्पष्टत देखा जा सकता है। यहा इतिहास के लबे क्रम में ऐसे सामाजिक, धार्मिक आदोलन हुए, जिनसे एक विशिष्ट भारतीय परपरा

[1] यहाँ उस अस्थिरता या उथलपुथल का जिक्र है जो आकाक्षाओं की पूर्ति न होने से पैदा होती है परिवतन के विरोध या उसकी प्रतिक्रिया से नहीं। यद्यपि ये दोनों ही बातें साथ साथ भी चल सकती हैं।

का निर्माण हुआ, जिसने यहाँ फूट और पृथकता की अतर्निहित प्रवृत्तियों पर अकुश रखा। राजनैतिक स्थिरता की कुंजी सामाजिक व्यवस्था थी। अब यह सामाजिक व्यवस्था विघटित हो रही है और बदल रही है। नेतृवर्ग के सामने यह समस्या है कि यदि टूटती हुई सामाजिक सस्थाओं की जगह नयी सस्थाए नहीं स्थापित की गयी, नए अवसर नहीं प्रस्तुत किये गये और नयी मान्यताओं और मूल्यों की स्थापना नहीं की गयी तो राजनैतिक विकास के अवरुद्ध होने के साथ साथ राजनैतिक व्यवस्था के टूटने की नौबत आ जाती है। इस स्थिति में प्रशासन तत्र और नई सस्थाओं के निर्माण की ओर ध्यान देना कठिन हो जाता है और इनके बिना व्यवस्था का टिकना कठिन हो जाता है।

भारत जैसे नवस्वतत्र राष्ट्र के राजनैतिक विकास का अर्थ यह होता है कि एक प्राचीन देश अपनी पुरानी परंपरा और विविधता को बनाये रखते हुए, आधुनिक युग की सब से अच्छी बातों को ग्रहण करने की कोशिश करता है। इस प्रकार भारत ने आधुनिक युग से लोकतत्र के आदर्श को ग्रहण किया है और इसके लिए स्थानीय स्तर से लेकर राष्ट्रीय स्तर तक सस्थाए स्थापित की हैं तथा पिछले दो दशकों से वह इसका मेल अपनी पुरानी परंपरा से बिठाने का यत्न कर रहा है। स्वतत्र राष्ट्र के महान नेताओं की पहली पीढी अब समाप्त हो चुकी है और नयी पीढी को उनसे विरासत में एक ओर अगर काफी सुदृढ राज्यतत्र और स्वीकृत लक्ष्य व आदर्श मिले हैं, तो दूसरी ओर न तो उसे मालूम है कि आवश्यक समस्याओं को सुलझाने के लिए इस राज्यतत्र का उपयोग किस प्रकार किया जाए न ही उस में इतनी शक्ति है। इस नए नेतृत्व में माओ या स्टालिन जैसी सकल्प की दृढता और क्रूरता से आगे बढने की ताकत नहीं है, दूसरी ओर उसे बुद्धिवादी विचारधारा में अभी पूरी आस्था नहीं हुई है न वह निश्चय कर पाया है कि भारत का राजनैतिक लक्ष्य क्या हो, जिसमें सबका भला हो। भारतीय समाज का स्वरूप भी अभी तक गैर राजनीतिक है। इस स्थिति में यह नेतृत्व आतरिक और वैदेशिक समस्याओं को सास्थानिक कुशलता और विकेन्द्रित राजनैतिक व्यवस्थाजन्य अनुभवों से ही निपटाने का यत्न करता है।

भारत में राजनीति, मुख्यत देश की एकता को बनाये रखने की राजनीति है। यह स्वीकारा जाता है कि देश के विकास का काम जरूरी है मगर देश की एकता से ज्यादा जरूरी नहीं। किसी भी परिवर्तन को इस दृष्टि से देखा जाता है कि उससे देश की एकता को बल मिलेगा या नहीं। नतीजा यह है कि विकास के काम में जल्दबाजी या व्यग्रता नहीं की जाती और हर काम में अनिश्चय, असमजस और जरूरत से ज्यादा समझौते की प्रवृत्ति दिखाई पडती है। राजनैतिक दिशाए निर्धारित हो चुकी हैं सिर्फ उस ओर धीरे धीरे बढने के लिए समय की जरूरत है। मगर समय का ही तो अभाव है। समय का मिलना इस पर निर्भर है कि

सामाजिक और सास्कृतिक परपरा जनता में अभाव और गरीबी स उत्पन्न होने वाले क्षोभ और लोकतत्र से उत्पन्न होने वाली आकाक्षाओ के विस्फोट को कब तक रोक सकेगी। मुख्य कसौटी यह है कि भारत की पुरानी परपरा का उसकी नयी स्थापित व्यवस्था से कहा तक सामजस्य या मेल हो रहा है। क्या इस प्रकार का सामजस्य स्थापित होने के पहले ही आधुनिकता के आघात स पुरानी परपरा ढह न पडेगी ? क्या वह आर्थिक विकास म देश के सक्षम होने तक बनी रह सकेगा ? नये व पुराने का मेल क्या रूप लेगा और क्या वह भविष्य में कायम रह सकेगा ? भारत की नयी राज्यव्यवस्था की कसौटी सामाजिक परपरा, राजनैतिक शक्ति और आर्थिक परिस्थितियो की परस्पर प्रतिक्रिया से होगी ।

तुलनात्मक दृष्टिकोण

इससे स्पष्ट है कि भारत जैसे वैविध्यपूर्ण और प्राचीन परतु आधुनिकता से प्रभावित समाज का विश्लेषण करने में अनेक दृष्टिकोणो का प्रयोग आवश्यक है। यह इस लिए और आवश्यक हो जाता है कि विश्लेषक एक पूर्ण सुसगठित इकाई का विश्लेषण करता है न कि उसके खडो का। इस विश्लेषण से ऐसे तथ्यगत निष्कर्ष निकलेगे जो समरूप समाजो पर लागू होगे। ऐसे विश्लेषण में एक समस्या यह होती है कि दृश्यमान वास्तविकता को सैद्धातिक रूप देना तो आवश्यक है परतु ऐसा करने म यह लाभ होता है कि निरूपित सिद्धातो से तथ्यगत अनुमान किए जाए। ऐसे प्रलोभन से बचने के लिए सैद्धातिक दृष्टिकोणो का सहारा लेना चाहिए।

हमने भारतीय व्यवस्था के विकास के विवेचन म तुलनात्मक विश्लेषण के वृत्तात्मक सप्रदाय के तरीको से काम लेने के अलावा अन्य कई दृष्टियो से भी विचार किया है—जैसे ढाचे में परिवर्तन, राजनैतिक तथा सामाजिक सस्कार, और परपरा की नयी व्याख्या। सस्थानीकरण और राजनैतिक गठबधन के महत्त्व को दिखाने के लिए हमने केन्द्र और परिधि (अतरग और बाहरी) के सबध की चर्चा की है और व्यवस्था की कसौटी विभिन्न स्तरो पर समस्याओ को सुलझा सकने की उसकी क्षमता को माना है। हमने अपने विवेचन में कुछ प्रचलित धारणाओ की भी आलोचना की है। हमने यह दिखाया है कि विकास के क्रम मे प्राचीन और आधुनिक में कोई अतर्विरोध नही है। हमने इस पर भी शका प्रकट की है कि अमुक प्रकार की राज्यव्यवस्था अमुक प्रकार के समाज और अमुक प्रकार की स्थितियो में ही सभव है। हमने इस धारणा पर भी शका की है कि इस विकासक्रम में दिशाहीनता का सकट भी उत्पन्न हो। हमने इस सिद्धात से भी असहमति प्रकट की है जो राजनीतिक दलो या मध्यस्थ सस्थाओ को परस्पर असबद्ध मानता है और इस दृष्टिकोण की त्रुटियो को भी दिखाया है जो यह मानता है कि राजनतिक प्रक्रिया स सिर्फ

विभिन्न वर्गहितो का समुच्चयन मात्र होता है। इस प्रकार हमने राजनैतिक विकास के भारतीय प्रयोग को ठीक ढग से समझने की कोशिश की है। इससे अन्य विकासमान देशो के राजनैतिक विकास को समझने में भी कुछ मदद मिल सकती है।

जब हम किसी समाज के विकास की प्रक्रिया को अपने सामने होते हुए देखते है, तो हमें इसे इस समाज के सदस्यो की निगाह से, खासकर उन लोगो की निगाह से देखना चाहिए जो इस विकास-प्रक्रिया के सचालक है। इसमें हमें दो बातो पर ध्यान देना होगा, जिनकी अक्सर उपेक्षा कर दी जाती है, एक सस्थागत विश्लेषण और दूसरे नेता या अगुआ वर्ग की भूमिका। इस प्रकार भारतीय व्यवस्था का विवेचन करते समय हमे राजनैतिक सस्थाओ को मूल सामाजिक और आर्थिक गतिविधियो को समाविष्ट करने वाला एक तरह का ढाचा मात्र न समझ लेना चाहिए। इसी तरह यह न समझ लेना चाहिए कि नेताओ का काम जनता की मागो को सरकार तक पहुचाना और उनकी पूर्ति कराना मात्र है। वास्तव में सारी प्रक्रिया की शुरुआत एक सवैधानिक और राजनैतिक व्यापक ढाचे की स्थापना से होती है, जो नेताओ के प्रयत्नो से समाज के विभिन्न स्तरो म प्रवेश करती है, और तब क्रमश उसके जवाब मे नीचे से नए गठबधनो या व्यूहो की रचना होती है। इस प्रकार अगुआ या नेता और सस्थाए जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्यापक परिवर्तन के माध्यम बन जाते है और विभिन्न स्तरो पर नयी चेतना का जन्म देते है और नयी शक्तियो का मैदान में लाते है। वे राष्ट्रीय व्यवस्था के एकीकरण, सगठन और विविधीकरण में सहायक होते है। इस स्थिति मे राजनीति एक महान रचनात्मक शक्ति का काम करती है, जो प्रतिनिधित्व की मशीनरी या तत्र मात्र नही होती जो बाहरी दबाव पर काय करे और विभिन्न हितो के समुच्चयन का मौका दे।

तुलनात्मक राजनीति के हाल के ग्रथो मे यह माना तो जाता है कि राजनीतिक प्रक्रिया का सामाजिक ढाचे और मूल्यो को बदलने म बडा हाथ होता है, फिर भी पुरानी भ्रातिया बनी रहती है। एक भ्राति का मूल धर्मनिरपेक्षता का वह अस्पष्ट सिद्धात है जो जातिसस्था का स्वरूप ठीक से समझने में विफल हो कर यह मानता है कि विकास का क्रम अनिवायत साप्रदायिक से स्वच्छिक सगठन के रूप में परिवतन होने म निहित है।

राजनैतिक दलो को शासनप्रक्रिया से वियुक्त कर मात्र प्रतिद्वद्वी सगठनो के रूप मे देखने के कारण इस बात की उपेक्षा कर दी जाती है कि सरकारी व्यवस्था में भी उनका योग रहता है। सत्ताधारी दल केवल वोट जुटाने और चुनाव लडने का ही काम नही करते वरन योजना के कार्यक्रमो और अन्य सरकारी गतिविधियो मे योग देकर जनता में प्रवेश करने का यत्न करते है और जनता को राजनैतिक

प्रक्रिया में भाग लेने को प्रेरित करते हैं। कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि अशिक्षित या अल्पशिक्षित और सामाजिक दृष्टि से (जातिपाति में) बंटे हुए देश में राजनैतिक गतिविधियों के कारण विघटन की प्रवृत्तियां बढ़ती हैं। इसका एक कारण यह है कि पश्चिम के लोग यह समझते हैं कि गैर पाश्चात्यों में चुनाव आदि की दलों की राजनीति में भाग लेने की क्षमता ही नहीं है और दास मनोवृत्ति से प्रभावित होकर गैर पश्चिमी राजनीतिक आलोचक भी उपर्युक्त आशंका प्रकट करते हैं। दूसरे, पश्चिमी विचारक यह मानते हैं कि आर्थिक विकास और सामाजिक सस्कार होने के बाद ही आम लोगों को वोट देने और राजनीति में भाग लेने का अधिकार देना चाहिए। तीसरे, राष्ट्रीयता की ही धारणा का सब से अधिक या एकमात्र महत्त्व दे कर इस बात की उपेक्षा कर दी जाती है कि प्रांत, भाषा या जाति की अपेक्षाकृत सकीर्ण भावना या निष्ठाएं भी राजनैतिक सगठन में और राज्य व्यवस्था को सस्थापित करने में सहायक होती हैं और राजनैतिक मांगों पर अंकुश रखती हैं। आजकल एक और नारा बहुत चल पड़ा है – बढ़ती हुई आकाक्षाओं की क्रांति। यह बात भी पश्चिमी देशों पर ज्यादा लागू होती है, जहां व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य मांगों की पूर्ति है।

विकसित या उन्नत देश, नव स्वतंत्र देशों के बारे में, खासकर भारत के बारे में क्या सोचते हैं इसे भी देखना चाहिए। पश्चिम में यह आम धारणा रही है और पश्चिमी देशों के संबंध में अब भी है, कि जनसाधारण के राजनीति में भाग लेने से व्यवस्था की लोकप्रियता और शक्ति बढ़ती है। लेकिन यह बात कम विकसित देशों के लिए ठीक नहीं समझी जाती और कहा जाता है कि इन देशों में यदि जनता को राजनीति में भाग लेने और मतभेद या विरोध की स्वतंत्रता दी गयी तो इससे विघटन की शक्तियों के उभरने और व्यवस्था के छिन्न भिन्न होने का खतरा है। यद्यपि इस धारणा के लिए बहुत कम प्रमाण है क्योंकि ऐसे नए राष्ट्रों की संख्या ही इनी गिनी है, जहां जनता को राजनैतिक अधिकार प्राप्त हों, फिर भी यह काफी व्यापक है। यह साम्राज्यवादी देशों की इस धारणा का ही दूसरा रूप है कि पराधीन देश स्वशासन के योग्य नहीं है। उपयुक्त विचार के लोग यह भी समझते हैं कि अंत में भारत भी विघटन की शक्तियों का शिकार होगा।[२]

भारत में अब तक लोकतंत्र कैसे चल रहा है और यहां की व्यवस्था क्यों नहीं टूटी, इसके लिए ये पाश्चात्य आलोचक तरह तरह की सफाई देते हैं। पहले यह

२ मारिस जोन्स के शब्दों में — भारत के विघटन की भविष्यवाणी करने वालों को शायद यह देखकर बड़ा बुरा लगता है कि इतनी भारी कठिनाइयों के सामने भी वह कैसे टिका हुआ है। भारत में अपनी आलोचना की जो प्रवृत्ति है उससे इन अशुभ चिंतकों को बल मिलता है। किंतु भारत की सफलता इनको झूठा सिद्ध कर देती है। 'लैंग्वेज ऐंड रिजन विदिन इंडियन यूनियन'-सेलिग हैरिसन तथा 'इंडिया ऐंड सीलोन यूनिटी ऐंड डाइवर्सिटी' (लंदन-१९६०)।

कहा जाता था कि अंग्रेजों का छोड़ा हुआ 'नौकरशाही का फौलादी ढांचा' भारत को बचाये हुए है, फिर कहा जाने लगा कि यह नेहरू का चमत्कार है, इसके बाद यह कहा गया कि कांग्रेस दल देश को एक में बांधे हुए है। जब ये सब बातें चूक गयीं, तो लोग चकरा गए। अब भी उनके मन में आशंका है कि भारत की व्यवस्था ज्यादा दिन चलने वाली नहीं और कोई न कोई समस्या ऐसी उठेगी, जो इसे तोड़ देगी, या तो केन्द्र और राज्यों में संघर्ष या चीन अथवा पाकिस्तान से पराजय, और कुछ नहीं तो आर्थिक विकास में विफलता। इस प्रकार समझ या सहानुभूति के अभाव से (क्षेत्रीय विशेषज्ञों को छोड़ कर) ये आलोचक भारत की सफलता या विफलताओं का ठीक ठीक जायजा नहीं ले पाते। बल्कि शीत युद्ध की मनोवृत्ति से प्रभावित होकर पहले के प्रशंसक भी अब विरोधी बन गये हैं।[3] यह भी एक विडंबना है कि जब सारे संसार में बौद्धिक जागरण फैल रहा है, तब जिन देशों में उसका पहले प्रकाश फैला था, वे इतनी जड़ता और कुंठा के शिकार हैं।

भारतीय विकास का स्वरूप

भारत के विकास का अनोखापन इस बात में है कि आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन और विकास की महत्त्वपूर्ण बातें ऊपर से तय की जाने पर भी लोकतंत्री और स्वतंत्र राजनैतिक व्यवस्था के अंतर्गत कार्यान्वित की जाती हैं। इसका अर्थ यह है कि कुछ प्रमुख विचारों के प्रभाव में जो राजनैतिक परिवर्तन हो रहे हैं, उनमें ऐसे तत्त्वों का हाथ है जैसे राजनैतिक स्पर्धा में तीव्रता, शक्ति और प्रभाव का विस्तार तथा राजनैतिक प्रक्रिया में बहुजन वर्ग का भाग लेना। इसमें लोगों को डंडे के जोर पर इच्छित दिशा में हांकने की कोशिश नहीं की जाती, वरन उन्हें निर्दिष्ट ढंग से खुद अपना विकास करने को प्रेरित किया जाता है। व्यक्तियों और समूहों को राजनैतिक प्रक्रियाओं और संस्थाओं में भाग लेने का अवसर दिया जाता है जिससे व्यवस्था का आधार ज्यादा व्यापक होता है। राज्य के हित को ऊपर रख कर व्यक्ति के हित को कुचलने के बजाय व्यक्ति के हित का राज्य के हित से सामंजस्य किया जाता है। राज्य नेता जनता को समझा कर उसे साथ ले चलने का प्रयास करते हैं।

इसके अलावा अधिकार और सत्ता पर किसी अभिजात वर्ग या सीमित शासक

---

३ पहले आम चुनाव के दो वर्ष बाद मैंचेस्टर गार्जियन ने लिखा था–एशिया में संसदीय व्यवस्था सफल नहीं हो सकी है — पेरिक्लीज ने कहा था कि एथेंस सारे यूनान का शिक्षक है। मि नेहरू भी इसी तरह बिना शेखी बघारे कह सकते हैं कि दिल्ली सारे एशिया का शिक्षक है। (जून ५, १९५४)। इसके करीब १३ वर्ष बाद टाइम्स के भारत स्थित संवाददाता ने कई लेखों में यह कहा कि चौथे आम चुनाव ही भारत में आखिरी चुनाव होंगे। इस भविष्यवाणी का पश्चिम में सहानुभूतिपूर्ण स्वागत किया गया।

वर्ग का एकाधिकार नहीं है। नये नये तत्वों को सत्ता में भाग लेने का मौका दिया जाता है और सारे समाज को अधिकार का भागीदार बनाने की कोशिश की जाती है। इस विषय में भारत उन पश्चिमी देशों से भिन्न है, जहाँ तीव्र औद्योगिक क्रांति और सामाजिक परिवर्तन के युग में राजनैतिक सत्ता केवल उच्च वर्ग के हाथ में रही। इसी तरह वह उन कम्युनिस्ट तथा गैर कम्युनिस्ट अधिनायकवादी देशों से भी भिन्न है, जहाँ क्रांति के बाद पार्टी की आंतरिक गुटबंदी एवम सैनिक षडयन्त्र के अलावा राजनैतिक दलों की गतिविधियों पर पाबंदी लगा दी गयी और उन्हें देश के विकास में राय देने या भाग लेने से वंचित कर दिया गया। भारत में न तो राजनैतिक गतिविधियों पर रोक है न उस पर अल्पसंख्यक उच्चवर्ग का कब्जा है। इसके विपरीत आर्थिक विकास और सामाजिक परिवर्तन संबंधी निर्णय राजनैतिक वादविवाद और लोकतन्त्री प्रक्रिया से किए जाते हैं।

कुछ समय तक यह बात इतनी साफ नहीं थी क्योंकि बालिग मताधिकार और अनेक दलों के होते हुए भी सत्ता या शासन वास्तव में एक छोटे और सुसंगठित समूह या गुट के हाथ में था। किन्तु क्रमशः राजनैतिक प्रतिद्वंदिता और चुनाव की प्रक्रिया के प्रसार के कारण अन्य समूह या गुट भी सत्ता के दावेदार हुए। शासन में जनप्रतिनिधित्व का तत्त्व आया, सीमित साधनों के वितरण के लिए विभिन्न वर्गों और क्षेत्रों में माग बढ़ी सामाजिक वर्गों और राजनैतिक गुटों या दलों में संगम बढ़ा, पुराने सामाजिक भेदों ने राजनैतिक रूप धारण किया और पद-प्रतिष्ठा के नये मानदंड स्थापित हुए। देश की राजनीति और विकास प्रक्रिया पर इन प्रवृत्तियों का प्रभाव पड़ रहा है।

साथ ही यह भी ध्यान रहना चाहिए कि भारत में विकास का काम प्रशासन के विकसित और सुगठित ढाँचे के अंतर्गत शुरू हुआ। जितने भी महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम बने, औद्योगीकरण सामुदायिक विकास, शिक्षा खेती का विकास, यहाँ तक कि स्थानीय स्वशासन – सब इसी नौकरशाही या प्रशासन तंत्र के द्वारा संचालित थे। अब इसमें राजनैतिक तत्त्वों और मूल्यों का प्रवेश हो रहा है।

इस प्रकार भारत में राष्ट्र निर्माण की दो प्रक्रियाएं चालू हैं। एक सरकारी प्रशासनिक प्रक्रिया है जो विकास योजना के कार्यों को बढ़ाने और उनमें एकसूत्रता रखने का यत्न कर रही है। दूसरी राजनैतिक प्रक्रिया है जिससे एक ओर केन्द्रीय सत्ता या राजनैतिक केन्द्र की स्थापना हुई है, दूसरी ओर सत्ता का विकेन्द्रीकरण हुआ है और उसमें नए तत्त्वों का प्रवेश हुआ है तथा नये संगठन और संस्थाएं सक्रिय हो उठी हैं। धीमे धीमे ये दोनों प्रक्रियाएं एक दूसरे के समीप आ रही हैं और उनका रुख बदल रहा है।

भारत में होने वाला परिवर्तन बहुत सीमा-तक राजनैतिक सरकारी परिवर्तन है। भारत इस सिद्धांत का अपवाद या विरुद्ध प्रमाण है कि आर्थिक – सामाजिक

शक्तिया राजनीति और सरकार की नियामक होती हैं। भारत में बहुत हद तक राज्य समाज का नियामक है। इसका यह अर्थ नहीं कि विकास की प्रक्रिया में सामाजिक और आर्थिक शक्तियों का कोई हाथ नहीं। प्रत्युत ऐसा सभव है कि सत्ता के विकेंद्रीकरण से इन शक्तियों का प्रभाव बढ़े।[४] ध्यान देने की बात यह है कि सामाजिक हित अधिकाधिक राजनतिक रूप ले रहे हैं और राजनीति के द्वारा ही सगठित हो रहे हैं।

अक्सर इसका यह अर्थ लगाया जाता है कि एक या अनेक सामाजिक समूह (जाति या सप्रदाय) राजनीति के द्वारा अपनी प्रधानता स्थापित करने और प्रतिष्ठा तथा प्रभाव बढ़ाने की कोशिश कर रहे हैं। समय गुजरने के साथ साथ जिस व्यापक सगठन के अतगत यह परिवतन–प्रक्रिया चलती है और राजनैतिक तथा प्रशासनिक मानदड प्रतिष्ठित होते हैं उनके कारण राजनैतिकीकरण की प्रक्रिया परिपक्व हो जाती है। परतु इससे अत में समाज के राजनतिकीकरण में मदद मिलेगी और सामाजिक मूल्य राजनैतिक मूल्य तथा सामाजिक पद–प्रतिष्ठा राजनैतिक पद–प्रतिष्ठा में बदल जाएगे।[५]

राजनीति का स्थान

भारत में समाज के विखडित ढांचे में राजनैतिक सस्थाओं, मूल्यों और विचारों का प्रवेश हो रहा है। भारतीय समाज–व्यवस्था अराजनैतिक रही है, अब यहाँ एक राजनैतिक केंद्र की स्थापना हो रही है और समाज के विविध वर्गों को राजनैतिक व्यवस्था में स्थान मिला है, उन्हें इसका लाभ और अधिकार मिला है और उन पर इसकी जिम्मेदारियां भी आयी हैं। अब तक जो गाव राजनैतिक व्यवस्था से दूर रहे वे इसके पास आ रहे हैं।

यह एक नयी बात है। अपने हजारों वर्षों के इतिहास में भारत की सबसे बडी विफलता यही रही है कि वह एक टिकाऊ आधिकारिक राजनैतिक सत्ता का निर्माण नहीं कर सका। वह राजनतिक केंद्र या केंद्रीय सत्ता का निर्माण नहीं कर सका। इसी से हम भारतीय समाज–व्यवस्था को अराजनतिक समाज का नाम देते हैं, न कि उसके विशिष्ट सांस्कृतिक तत्त्वों के कारण। इस पृष्ठभूमि में भारतीय नेतावर्ग के कर्तृत्व और अभिनवता की मौलिकता और महत्त्व स्पष्ट है। उनका काम एक केंद्र की स्थापना करना और इसे समाज के उपकेंद्रों में फैलाना है। यहाँ

---

४ अध्याय ९ में इस पर विस्तार से विवेचन किया गया है।

५ इससे न केवल विशेष हितों का सगठन होता है, बल्कि पुरानी निष्ठाएं और आवश्यकताएं भी बदलती हैं। एक बार इस प्रकार की राजनैतिक व्यवस्था के कायम होने के बाद हितों के ये सगठन राजनीति को प्रभावित करेंगे। इस बीच 'हित समूह' या 'हित विशेष' के दलों का अधिक महत्त्व नहीं।

सामाजिक परिवतन राजनैतिक रूप मे हो रहा है।

इसके फलिताथ को समझ लेना आवश्यक है । आर्थिक विकास का जो सिद्धात ह उसने ऐसा मत प्रतिपादित किया है जा सामाजिक परिवतन को एकार्थी, एकागी और प्रमुखत द्वैधात्मक रूप मे देखता ह । भारत की जटिल विकास-प्रक्रिया की व्याख्या ऐसे एकागी सिद्धात स सभव नही । क्योकि यह स्पष्ट है कि पारपरिक समाजशास्त्रीय और अथशास्त्रीय सिद्धाता की सहायता से यहा की राजनैतिक प्रक्रिया को नही समझा जा सकता । हम एक ऐसे समाज का विश्लेषण कर रहे ह, जहा परिवतन किसी विशिष्ट शक्ति-सतुलन का न तो परिणाम है न उसकी प्रतिच्छाया ह । भारत जैसे समाज में राजनीति का आयाम सीमित भी है और स्वायत्त भी ह । अनेक प्रकार से राष्ट्रीय लक्ष्या और साधना की प्राथमिकता का निर्धारण राजनैतिक निणयो स हाता ह । राजनीति के रूप भी इस सदभ में महत्त्वपूण हो जाते है । हालाकि आधिकारिक सस्थाओ की तह में जो राजनीतिक तत्त्व है उसका असली स्वरूप नेतवग के सामाजिक सस्कार और गठबधन के तरीका म प्रतिलक्षित होता है । फिर भी राजनीतिक सस्थाओ का दृश्यमान रूप अपनी एक गतिशीलता और प्रमुखता प्राप्त कर लेता है और समाज के लक्ष्या को स्पष्ट करता है तथा समाज की वास्तविकता को समाविष्ट करता है । ये दोना पहलू घुलमिल जाते है । नेतृवग का सामाजिक सस्कार सामाजिक वर्गों के राजनतिकीकरण से अभिन हो जाता ह और राजनतिक व्यवस्था भी आधिकारिकता, सामाजिक रूपो और निष्ठाओ के राजनैतिक नवरूपातर पर निभर करती है । इस कारण से पारपरिक विकास के सिद्धान के बजाय विश्लेषण के नए मानदड आवश्यक हो जाते हैं ।

भारत में लोकतत्री राजनैतिक व्यवस्था के अतगत एक प्राचीन और बडे विविधतापूण समाज का आधुनिकीकरण किया जा रहा है । इसमें क्या सामाजिक और आर्थिक प्रवध करने है, यह बिलकुल स्पष्ट होना चाहिए । वरना देश ने जो सस्था योजना स्वीकार की है, उसका रूप विकृत हो जाएगा । दूसरे, इस पद्धति में विकास के जो परपरागत लक्ष्य हैं, अर्थात आर्थिक विकास की दर, विकास के शिक्षा जसे सामाजिक साधन और नय विचारा व मूल्या का प्रसार, वे भी काफी हद तक इस पर निभर ह कि राजनतिक व्यवस्था या राज्यतत्र कैसा काम करता है और विकास के द्वारा विभिन्न तत्त्वा को एकता के सूत्र मे बाध पाता है या नही । इसके लिये यह आवश्यक है कि राज्य के नेता ऊचे अधिकारी और जनमत के निर्माता वास्तविक स्थिति और लक्ष्या का समझ । सामाजिक और आर्थिक सबधा को विकास की दिशा में मोड देना आसान काम नही है । दसरा प्रतिरोध पुराने लोगो की ओर से ही नही होता बल्कि शिक्षित पेशा, सरकारी नौकरा और बुद्धिजीवियो जसे आधुनिक तत्त्वा की ओर स भी होता ह । विकास के पुराने शास्त्रीय सिद्धात

और पुराने राजनतिक और सामाजिक विचार विकास की उस पद्धति में बाधक होते हैं, जिसे देश ने अपनाया है । यह पद्धति द्वद्व के जरिये एकता स्थापित करने की है । ध्यान यह रखना ह कि इसमें कितावी सिद्धात और सरकारी नौकरा की निरकुशता और जनता की भावनाआ की उपक्षा बाधक न होने पाए ।

भारत ने विकास की जिस पद्धति का अपनाया है उसके निए अधिक विवेक पूर्ण सकल्पना की जरूरत है । अब यह अनुभव किया जा रहा है कि आर्थिक विकास महज एक आर्थिक प्रक्रिया ही नही है और उसकी सफलता अनेक मोर्चो पर की गई प्रगति पर निभर है । अभी तक इसके लिए आर्थिक विकास की आवश्यक पूवस्थितियो पर ही जोर दिया जाता ह । समझने की मुख्य वात यह है कि जिस राष्ट्र और समाज का विकास अथवेत्ताआ को करना है, अभी उनकी स्थापना नही हो पायी ह । विकास का अथ जनता के कुछ या सब वर्गो की उन्नति ही नही करना है, वरन् राष्ट्र का निर्माण भी करना है । लोगो को उत्पादनवृद्धि के काम में लगाने का मतलव केवल वचत करना आर उसे आर्थिक काम मे लगाना नही है, इसमे जनता के प्रोत्साहन, मनोवल, दिलचस्पी और मागो की सतुष्टि के भी प्रश्न उठते है । इसमें समाज के वतमान ढाचे को वदलने, ऊपर और नीचे के तबका का जोडने वाले मध्यवर्तिया के सगठन की जरूरत पडती ह और समाज को उत्पादन की ओर उन्मुख करना पडता है । राजनैतिक ढाचे की कसौटी इन्ही कार्यो की सपादन-क्षमता होगी । इसके विवेचन के लिए वह धारणा काम नही देगी जो आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्रा मे महज सबद्धता दिखाती है । विकास की यह ऐसी पद्धति है, जिसमे अब तक बटे हुए और विभाजित ढग से सोचने वाले समाज के सामने नये मूल्य प्रस्तुत होत है और उसका वास्ता ऐसी नयी सस्थाओ के ढाचे से पडता ह जिसका उद्देश्य राष्ट्र का एकीकरण और आयोजित उत्पादन है । वदले में समाज के विभिन्न वर्गो को विकास के कार्यो का लाभ और राजनैतिक अधिकार प्राप्त होत है । इससे प्रकट है कि सामाजिक परिवर्तन म राजनैतिक व्यवस्था की भूमिका कितने महत्त्व की है ।

यह परिवतन आसान नही है । पश्चिम मे राजनीति के विवेचका को सरकार के रूप से ध्यान हटा कर समाज में शक्ति, सत्ता और हित के वास्तविक सगठन पर ध्यान दने में कई दशक लगे । भारत जैसे आर्थिक रूप से पिछडे हुए और जटिल सामाजिक ढाचे वाले देश में नयी राजनैतिक व्यवस्था का विवचन करते समय शक्ति या सत्ता के ढाचे और उसकी सोद्देश्यता के सबध में और गहराई मे जाना पडेगा । जब किसी समाज म विजातीय ढग की सरकार या शासन-प्रणाली स्थापित की जाती है तो उसकी एक अनोखी प्रतिक्रिया होती है और समाज मे नयी चेतना और नयी निष्ठाए उत्पन्न होती है । क्रमश इनसे सरकारी काम के मूल्याकन के नए नापदड स्थापित हाते ह, जिनसे अक्सर स्थापित व्यवस्था की

स्थिरता खतरे में पड़ जाती है। विकास के वास्तविक क्रम में पुरानी और नयी दोनों तरह की बातें होती हैं। इसलिए पहले से यह नहीं निश्चित किया जा सकता कि संवैधानिक सरकार किस रास्ते पर चले।

सहवर्ती परिवर्तन की समस्या

तार्किक दृष्टि से ऐसा माना जाता है कि समाज जिस प्रकार की संस्थाओं को स्थापित करता है उसी के अनुरूप उसे विकास के लक्ष्य भी अपनाने चाहिए। किंतु यह अनिवार्य नहीं। बल्कि भारत में विकास की आरंभिक अवस्था में स्थापित संस्थाओं और उनके उद्देश्यों में मेल या अनुरूपता की कमी दिखाई पड़ी। स्वतंत्रता के बाद भारत में जो राजनीतिक और आर्थिक विचारधारा स्थिर हुई वह इन बातों पर केंद्रित है – (१) देश में बालिग मताधिकार पर आधारित संसदीय शासन की प्रणाली की स्थापना करना और जनता को चुनावों के जरिये शासन में अधिक से अधिक भाग देना। (२) विकास की केंद्रित सरकारी योजना बना कर तेजी से आर्थिक उन्नति करना। विरोधाभास के बावजूद क्या ये दोनों लक्ष्य राष्ट्र निर्माण में सहायक होंगे, अथवा संस्थाओं का यह ढांचा इन लक्ष्यों की पूर्ति में सहायक हो सकता है, यह कुछ महत्त्वपूर्ण बातों पर निर्भर था।

एक तरीका था अधिनायकवादी ढांचा स्थापित करना जो प्रारंभ से शासन की पूरी शक्ति विकास में लगाता। यह या तो नौकरशाही का फौलादी ढांचा हो सकता था, जिसे राजनीतिक दबाव की कोई परवाह नहीं होती, या एक दलीय ढांचा होता या दोनों का मिश्रण हो सकता था। यह केंद्रीयकरण को राष्ट्रनिर्माण की प्रक्रिया का एक अनिवार्य भाग बना देता। इसमें समाज को नये लक्ष्यों की पूर्ति में लगाने के लिए उसका राजनैतिकीकरण किया जाता लेकिन राजनैतिक गतिविधि दलों का संगठन और प्रतिद्वंद्विता को अत्यंत सीमित एवम संकुचित कर दिया जाता। स्थानीय लोगों और समूहों से परामर्श सिर्फ राजनैतिक कौशल का रूप लेता जिससे जनता को वृद्धि के कार्यों में लगाने की सुविधा होती पर इसको राजनैतिक व्यवस्था में भागीदारी का रूप नहीं दिया जा सकता था। इसी तरह सामाजिक न्याय और समता के लक्ष्य को स्वीकारा तो जा सकता था और साधन उपलब्ध होने पर उनकी पूर्ति का आश्वासन तो दिया जा सकता था, किंतु देश की समृद्धि और प्रगति की भूमि तैयार करने की खातिर लोकहितकारी राज्य के आदर्श और उपभोग बढ़ाने की नीति को तब मुल्तवी रखा जाता।

भारत ने विकास के इस तरीके को नहीं अपनाया। एक राष्ट्रीय राजनैतिक मोरचा बनाने और सामूहिक या लोक-समर्थित लोकतंत्र की स्थापना करने के लिए नेताओं को सत्ता की राजनीति पर अर्थात मतदाताओं का समर्थन प्राप्त करने की आवश्यकता पर ध्यान देना पड़ा और स्वतंत्रता के बाद इसने त्याग और

सादगी के जिन आदर्शों पर जोर दिया था, उन्हे क्रमश छोड देना पडा। अब यह स्पष्ट है कि देश की मध्यवर्गी और वंचित जनता को विकास के काम मे लगाने के लिए नेतृत्व ने उनसे केवल अधिकाधिक धन और साधन खींचने के बजाय उनको विकास के लाभ और राजनैतिक अधिकारो मे भाग देने की नीति अपनायी। जनता से देश के विकास के लिए अधिकाधिक धन लेना, अभी भी उसका एक मुख्य लक्ष्य है, मगर इस लक्ष्य की सिद्धि वह जबदस्ती, अन्य सब मागो को कुचल कर नही, बल्कि जनता के सामाजिक और राजनैतिक संगठन के द्वारा करना चाहता है।

इस काम मे गलतिया भी हुई, क्योकि ऐसा कोई उदाहरण न था, जिसका अनुसरण किया जाता। देश के राजनैतिक और आर्थिक विकास के साथ साथ समाज के पुराने कठुआए हुए ढांचे को बदलने का काम एक अभूतपूर्व प्रयत्न था। दूसरी ओर यह भी निश्चित नही है कि अधिनायकवादी तरीका सफल ही होता, खास कर भारत ऐसे देश मे जहां केन्द्रीय सत्ता के प्रतीको का प्रवेश प्रातो या प्रदेशो मे नही हो सका है और जहा प्रांतीय निष्ठाओ को अभी राष्ट्रीय निष्ठा का रूप देकर संघ के स्थायी ढाचे की स्थापना करना बाकी है। वास्तव मे दिल्ली सारे देश पर शासन इसी प्रकार कर सकती है कि वह प्रदेशो को सत्ता मे भागीदार बनाये और प्रदेश भी अपने अंतर्गत उपप्रदेशो या स्थानीय इकाइयो को साथ लेकर चले। इस स्थिति मे लोकप्रिय राज्य और बालिग मताधिकार को केवल आदर्श और भावना की खातिर नही, बल्कि व्यावहारिक कारणो से स्वीकार किया गया, क्योकि इसके द्वारा राष्ट्रीय एकीकरण, सामाजिक संगठन और आर्थिक विकास का आधार मिलता था। स्वाभाविक था कि इस पद्धति पर चलने मे शुरू मे काफी दुविधा और गडबडी होती। पर जैसा कि हम आगे व्यवस्था के काम की समीक्षा संबंधी अध्याय में देखेंगे, इस पद्धति से न केवल राजनैतिक केन्द्र की स्थापना और सस्थानीकरण मे और उसमें देश के विविध तत्वो को शरीक करने में सफलता मिली, वरन जब जब आर्थिक और सामाजिक नीतियो में दोष दिखाई दिये, तब तब उन्हे सुधारने में भी मदद मिली।[६]

इस संबंध मे एक बात और ध्यान देने योग्य है। राष्ट्र या राष्ट्र-निर्माण की धारणा अधिकतर पश्चिमी देशो से ली गयी है जहा राष्ट्रो की स्थापना साम्राज्यो, सामंती व्यवस्थाओ और ईसाई चर्च के आधिपत्य के टूटने से हुई थी। इससे सुदृढ और सर्वशक्तिशाली केन्द्रीय सरकार का सिद्धान्त प्रचलित हुआ। इसी-लिए राष्ट्र की भावना पर इतना जोर दिया जाता है और नये देशो मे प्रातीय या

६ पश्चिम में इस पद्धति के महत्व का कुछ कुछ अनुभव अब किया जाने लगा है। देखें—चार्ल्स ई लिन्डब्लम के दो अप्रकाशित निबंध 'पोलिटि डिमोक्रेसी ऐंड डिमिनिश्ड डेवल्पमेंट—द केस आफ इंडिया' और 'पालिटिक्स, पालिसी मेकिंग ऐंड प्लानिंग फार इंडियन इकनामिक डेवल्पमेंट'।

भाषा आदि की सकीर्ण प्रवत्तिया पर चिंता प्रकट की जाती है। पर यह स्पष्ट नही है कि केन्द्रीय सत्ता की शक्तिमत्ता पर इतना जोर देना और स्थानीय या प्रातीय प्रवत्तिया का दमन नये राष्ट्रो के हित मे होगा। प्रत्युत इससे एकता के स्थान पर पृथक्ता उत्पन्न हो सकती है। नए देशो के नेताओ के सामने काम है केन्द्र की स्थापना, उसके प्रतीको का प्रसार, दूसरे उपकेन्द्रो का आश्वासन और सुविधाए देकर उनको केन्द्र म शामिल करना और जनता में नयी व्यवस्था के प्रति निष्ठा और अपनापन फैलाकर उनको इसका भागीदार बनाना और इस क्रम में नए राजनैतिक सघीय रूपो की रचना करना। इस काम में राजनैतिक सूझबूझ और रचनात्मक प्रतिभा की बडी जरूरत है। इस दृष्टि से देखने पर भारत के विकास की पद्धति का सही महत्त्व और अथ समझ म आएगा।

जब राजनीति के द्वारा देश का आधुनिकीकरण किया जाता है तब सामाजिक और आर्थिक सस्थाए भी इमस प्रभावित होती है और उनकी स्वायत्तता नष्ट हो जाती है। जिस हद तक राजनैतिक व्यवस्था व्यक्तियो और समूहो की आवश्यकताओ और आकाक्षाओ की पूर्ति कर सकती है उसी हद तक समाज और अथ व्यवस्था पर उसका प्रभाव उपयोगी होता है।

व्यवस्था की कसौटी काय-सपादन

किसी भी व्यवस्था की उपयोगिता की कसौटी, उसकी कायक्षमता है। ऐतिहासिक और सैद्धातिक कारणा से ही व्यवस्था का औचित्य सिद्ध नही हो सकता। उसे लोगा की आकाक्षाओ और समय की माग को पूरा कर सकने में भी समथ होना चाहिए। एक गतिशील और बहुमुखी विकास की पद्धति का मूल्याकन करने के लिए कुछ कसौटिया होनी चाहिए। विकास और परिवतन के क्रम में कुछ समस्याए स्वभावत उठती हैं। मगर इनमे उन समस्याओ का भेद करना चाहिए जो नेतत्व की भूलो और गलत तरीका के कारण उठती हैं। हो सकता है कि शुरू मे अटकलपच्चू काम हो, मगर यथाशीघ्र रास्ते मे आने वाली कठिनाइयो की कल्पना की जानी चाहिए और उनका उपाय सोच रखना चाहिए। बेशक सभी समस्याओ और परिस्थितियो की कल्पना नहा की जा सकती। मगर हर बात को रामभरोसे छोड देना और तदथता स काम लेना अर्थात यह सोच बैठना कि जो होगा सो देखा जाएगा, अव्यवस्था का निमत्रण देना और बुद्धि का तिलाजलि देना है। इसका अथ तो यह होगा कि यहा सकट आने पर ही आख खुलेगी और काम होगा, अन्यथा नही।

भारतीय राज्यतत्र किस हद तक वगहित के बदलते ढाचे का अथपूण और क्रमबद्ध शृखला में सगठित और मुखरित करने मे समथ है, जिससे अनुभूत सामाजिक विभेद और एकात्मकता के द्वारा निरूपित प्रश्न निणय का रूप लेले और देश के

विकास के लिए सहायक बनते है ?

राजनैतिक प्रक्रियाए और सस्थाए समाज के लिए उपयोगी होनी चाहिए। उन्हे सामाजिक और आर्थिक समस्याओ को समझ कर सरकार पर जोर देना चाहिए कि उनको सुलझाने के लिए समुचित निर्णय ले और उन्हें ठीक ढग से और समय से कार्यान्वित करे। दूसरी ओर लोगो को सही प्रेरणा देने और यथार्थवादी दृष्टि की समस्या है। जब एक जटिल और रूढिग्रस्त समाज–व्यवस्था मे आधुनिक ढग की राजनैतिक व्यवस्था काम करती है तो परिवर्तन और सामजस्य या अनुकलन की बडी नाजुक समस्याए उठती हैं, जिनको बडे धीरज तथा दृढ सकल्प से सुलझाना पडता है। समता, विविधता और जनसहयोग की समस्याएँ नया अर्थ ग्रहण कर लेती हैं और उनको समझने के लिए नये बौद्धिक सस्कार की जरूरत होती है। यदि व्यवस्था इन समस्याओ का सामना न कर सकी, तो इसका नतीजा या तो यह होगा कि या तो लोग विरक्त होकर समझ लें कि स्थिति मे कोई सुधार नही हो सकता, और जो चलता है उसे चलने दो या देश का जो स्वतन्त्रता का वरदान मिला है, उसकी गहरी प्रतिक्रिया हो।

जब राज्यतत्र के रूप म स्थायित्व आता है तो उसका प्रवेश समाज के हर स्तर में होता है और उधर से उसकी अनुकूल प्रतिक्रिया होनी है। सरकार की सफलता की कसौटी यह है कि प्रचलित सस्थाओ और वैधानिक तरीको से वह समाज के विभिन्न वर्गो और स्तरो से मिलने वाले समर्थन को सगठित करे और इच्छित दिशा म मोडे। इसके लिए इन बातो का अध्ययन आवश्यक है – (१) राजनैतिक और सरकारी सस्थाओ का समाज में प्रसार (२) समाज की ओर से इसकी प्रतिक्रिया और (३) समाज के विभिन्न स्तरो की आवश्यकताओ की पूर्ति में राजनैतिक व्यवस्था की सफलता। इस विवेचन का केन्द्र बिंदु यह होगा कि विकास का जो व्यापक तरीका अपनाया गया है उसने कैसा काम किया है। इस विवेचन के लिए हमें कुछ गहराई में जाना पडेगा जसे देश की ऐतिहासिक और सामाजिक परपरा तथा राजनैतिक और सामाजिक सस्कार आदि की समीक्षा करनी पडेगी। इस पुस्तक में हम इन विषयो का उसी हद तक विवेचन करेगे, जिस हद तक इनका सबध राजनैतिक व्यवस्था से है। इसलिए हम उतने विस्तार में नही जा सकेंगे जितना विस्तार इन विषयो पर अलग लिखी पुस्तको में मिलेगा।

प्रस्तुत पुस्तक तीन खडो मे बाटी है — ऐतिहासिक सिंहावलोकन (अध्याय १ से ३), प्रचलित राजनैतिक व्यवस्था का विवेचन (अध्याय ४ से ७), व्यवस्था के कार्य का मूल्याकन (अध्याय ८ से ११)। हमारा केन्द्र बिंदु है सास्थानिक विकास तथा सरकार की कार्यक्षमता में सबध। भारत ने जिस प्रकार की पद्धति को अपनाया और जिसकी परिणति दलो की पद्धति में हुई, उसके विवेचन पर हमने विशेष ध्यान दिया है। इसी से सबधित विषय है पुरानी और नयी व्यवस्था का परस्पर सबध

और इसमें अंतर्निहित राजनैतिक संस्कार। पर इस सब विवेचन का मुख्य प्रयोजन है स्थापित व्यवस्था या पद्धति की क्षमता की परीक्षा।

दूसरी तरफ हमने राजनैतिक विवेचन के कुछ रूढ़ विषयों पर कम ध्यान दिया है। जैसे हमने (अध्याय ५ में) भारत में विभिन्न हितों के संघों की चर्चा करते हुए, श्रमिक या अन्य प्रकार के संगठनों या संस्थाओं का इतिहास देने की चेष्टा नहीं की है। इसी प्रकार सामाजिक सेवाओं के प्रसंग में हमने प्रचार के माध्यमों की (रेडियो, अखबार, फिल्म आदि) वैसी समीक्षा नहीं की है जैसी पश्चिमी आलोचकों के ग्रंथों में मिलती है। इसी तरह हमने संविधान तथा न्याय और कानून की पद्धति के विकास का इतिहास भी नहीं दिया है। इस प्रकार हमारा विवेचन विकास की प्रक्रिया पर केन्द्रित है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

प्रस्तावना वाले अध्याय में उठाए गए प्रश्न को अधिक अच्छी तरह समझने के लिए हमें भारतीय समाज की ऐतिहासिक और सामाजिक पृष्ठभूमि को देखना चाहिए और जिन विचारधाराओं और शिल्पिक विधियों ने उसे प्रभावित किया है उन पर गौर करना चाहिए। किसी भी देश में लोकतन्त्र कितना सफल होता है या क्या रूप ग्रहण करता है यह इस पर निर्भर होता है कि उसकी परपरा क्या रही है उसकी समाज-व्यवस्था और आदर्शों व विचारों में नई बातों को ग्रहण करने की कितनी शक्ति है, उस पर बाहर के क्या प्रभाव पड़े हैं और इतिहास की किन परिस्थितियों में उसने नए प्रभावों का ग्रहण किया है।

काफी लबी अवधि से भारत पर जो विभिन्न प्रकार के प्रभाव पड़े है, उन्ही से उसके वर्तमान राजनीतिक रूप की रचना हुई है। इसमें तीन बातें मुख्य है। एक है हिंदू समाज जो भारतीय जीवन की आधारशिला और उसकी एकता का सूत्र है। दूसरा है अंग्रेजी राज, जिसकी कानून और शासन व्यवस्था सारे देश को एक केन्द्रीय सत्ता के अधीन ले आई। यही नही इसने हमारी राजनीतिक विचारधारा और पद्धति पर भी गहरा प्रभाव डाला है। तीसरा है स्वतन्त्रता के पहले का हमारा रचनात्मक राष्ट्रवाद। यह राष्ट्रवाद विदेशी शासन के प्रभाव और उसके द्वारा सप्रेषित नए युग की चुनौती से उत्पन्न हुआ। इस राष्ट्रवाद का उद्देश्य लोकतन्त्री व्यवस्था के अतर्गत देश की राजनीतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति और समाज का सुधार था। आगे हम इन्ही तीन प्रभावों के अतर्गत आधुनिक भारत के विकासक्रम का विश्लेषण करेंगे।

हिंदू समाज

भारत का इतिहास हजारों वर्षों का है। यहा बडे साम्राज्यों से लेकर छोटे राज्य और गणराज्य, जैसे अनेक प्रकार के राजतन्त्र रहे हैं। जिसे हम हिंदू युग कहते है वह ईसा से पहले १५ वीं शताब्दी और दसवी शताब्दी के बीच स्थिर हुआ। इसी

अवधि में मध्य एशिया से आने वाली आय जातिया ने देश के उत्तरी और पश्चिमी भागा में अपनी बडी बडी बस्तिया स्थापित की। उन्होने यहा के आदिम निवासियो को हराकर अपने अधीन कर लिया और बहुतो को दक्षिण की ओर धकेल दिया। ईसा पूव १५ वी सदी से लेकर ईसा की १० वी सदी के बीच यहा उत्तर में मौय, गुप्त वश तथा हप के और दक्षिण में चोल और पल्लव वश के बडे साम्राज्य कायम हुए। दसवी सदी के बाद भी जब भारत मे मुसलमाना के आक्रमण होने लगे दश के कुछ भागो मे हिंदू राज्य बने रहे। पश्चिम भारत में १६ वी सदी में मराठे मुगलो से लोहा लेते रहे और बाद मे उन्होने अगरेजो से भी टक्कर ली। लेकिन १० वी, ११ वी सदी के बाद से देश में हिंदू शक्ति का क्षय होने लगा और धीरे धीरे देश म मुस्लिम आक्रमणकारियो की सत्ता कायम हो गई।

हिंदू युग मे स्थापित बडे बडे सामाज्यो के काल मे देश में महान कलाकृतिया, मदिरो, पुराण, इतिहास, काव्य और शास्त्रो की रचना हुई। महाभारत, रामायण और अय काव्य तथा कलाकृतियो ने भारतीय मानस पर गहरा और स्थायी प्रभाव डाला है। अतीत की इस गौरवमय परपरा ने आधुनिक युग मे देश के जागरण म योग दिया। इसका राजनीतिक महत्त्व ह। किंतु इसका असली महत्त्व यह है कि इसने ऐसी सामाजिक व्यवस्था तथा ऐसी परपरा और मूल्या का निर्माण किया, जिन्होंने बाद के युगो पर भी स्थायी प्रभाव डाला।

इस हिंदू समाज-व्यवस्था के विकास के क्रम का हमें ठीक ठीक पता नही। विशाल क्षेत्र में फैले, राजनीतिक और सामाजिक शक्ति के केंद्रो से दूर, तथा एक केंद्रीय राजनीतिक सत्ता और परपरा से विहीन भारतीय आर्यो ने ऐसी समाज-व्यवस्था का विकास किया जो उनकी विविध आवश्यकताओ की पूर्ति करती थी। यह थी चार पदानुक्रमिक वर्णों की व्यवस्था, जो आर्यो के आगमन के पहले से चली आई आदिम और ढीली ढाली जातियो की व्यवस्था के ऊपर स्थापित कर दी गयी थी। यह व्यवस्था विवाह और कुटुब के सबधो पर आधारित थी और बहुत से गौण कार्यो को सभालती थी। इसमें झगडो के निपटारे का काय भी था जो राजनीतिक कार्यों की श्रेणी में आता है। यह वण-व्यवस्था कम या कामधधे के बटवारे पर आधारित थी और प्रत्येक धधे के साथ उसकी मान-प्रतिष्ठा भी जुडी हुई थी। धीमे धीमे छोटी बडी जातिया और वर्णों का यह ढाचा कठोर होता गया और उसका एक दाशनिक आधार और आचार भी विकसित हो गया।

जाति-व्यवस्था

सिद्धात रूप में चार वर्ण, गुण-कम के अनुसार हैं। ब्राह्मण का काय ज्ञान-दान, क्षत्रिय का रक्षा, वैश्य का उद्योग और शूद्र का श्रम है। लेकिन वास्तविकता में ऐसा नहीं है। यथाथ स्थिति बहुत जटिल है। जाति या बिरादरी जमगत होती है और

विवाह–सबध जाति के अदर ही होता है। ज्यादातर जातिया स्थानीय या एक क्षेत्र में सीमित होती है, यद्यपि अनेक जातिया दूर दूर तक भी फैली मिलती है। इस प्रकार जातिया की सख्या चार नही हजारो है। हर जाति की अपनी पचायत होती है, जो जाति के नियम और आचार–विचार का नियमन करती है। गावो की पचायत या पच विभिन्न जातियो के भी हो सकते है। ऊची जातिया से अलग, नीचा धधा करने वाले और अछूत समझे जाने वाले अत्यज, हरिजन या अनुसूचित जातिया के लोग हैं। ये भी अनेक एक दूसरे से नीची–ऊची जातियो में बटे हुए है। अवण होते हुए भी ये हिंदू समाज के ही अग है। हिंदुओ में ही नही आदिवासी कबीलो, विशेष अल्पसख्यको (जैन, सिख आदि) यहा तक कि ईसाइयो और मुसलमानो मे भी जाति-व्यवस्था पायी जाती है। सब मिला कर जाति की व्यवस्था ने भिन्न भिन्न वृत्तिया के और विभिन्न नस्ल के लोगो का–जैसे आदिवासी, बाहर से आकर बसने वाले या आक्रमण करने वाले और विभिन्न मजहबो के लोगो को, एक साथ, एक धर्मनिरपेक्ष या बहुधर्मी समाज और सस्कृति के ढाचे में लाने का काय किया है। छठे अध्याय में हम देखेंगे कि किस प्रकार यह काय, अब राजनीतिक सस्थाए कर रही हैं। फिर भी जाति–व्यवस्था की इस भूमिका को ध्यान मे रखना जरूरी है।

फिर भी अधिकाश जातिया को वण के अनुसार बाटा जा सकता है। इधर राजनीतिक उद्देश्य से कई जातियो का एक वण से सगठित करने की प्रवृत्ति दीख पडी है। अपनी प्रतिष्ठा बढाने के लिए अनेक जातिया किसी ऊचे वण की होने का दावा करती है। इससे आधुनिक युग में भी जातिव्यवस्था के महत्त्व का पता चलता है।[1] ध्यान रखने की बात यह है कि जाति की व्यवस्था ने स्थानीय सामाजिक ढाचा प्रस्तुत किया, जिसका सगठन प्रारभिक समूहो के आधार पर हुआ जिनकी जीविका और काय एक दूसरे पर निभर थे, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का पद और काम जन्म से ही निश्चित होता था और जिससे आपसी झगडो के निपटारे की व्यवस्था के द्वारा सामाजिक एकता को बल मिलता था। ऐसी ही व्यवस्था समय के थपेडो, निरतर युद्ध, बाहरी जातियो और सस्कृतियो के आक्रमण और राजनीतिक परिवतनो को झेल सकती थी। सैकडो वर्षों मे जातियो के परस्पर सबध या पद–मर्यादा में परिवतन भी होते रहे। ये परिवतन कभी आर्थिक कारण।

---

१ छठे अध्याय में हमने आधुनिक लोकतत्री राजनीति के प्रभाव से जातिव्यवस्था में आने वाले परिवर्तन पर विचार किया है। १९ वीं सदी म भी जनगणना करने वालों और गजेटियर का सकलन करने वालों ने छोटी जातियों म अपने को ऊचे वर्ण की बताने का प्रवृत्ति देखी थी। वास्तव में वह प्रवृत्ति और भी पुरानी रही होगा। १९११ की सेंसस रिपोर्ट में बगाल, बिहार, उडीसा और सिक्किम के विवरण में बताया गया है कि गणना अधिकारियों के पास सैकडों अर्जियाँ आई जिनमें छोटी जातियों ने अपने को क्षत्रिय या वैश्य जैसे ऊचे वर्ण में दर्ज करने की प्रार्थना की थी।

से हुए कभी राजनीतिक कारणों से या युद्ध से, कभी प्रशासनिक कारणों से, जैसे मुगलों या अंग्रेजों के राज्य में किसी जाति विशेष को राजस्व उगाहने का काम मिला, इससे उसकी प्रतिष्ठा बढ़ गयी। मगर जाति-व्यवस्था ने सैकड़ों वर्षों के इन परिवर्तनों को झेला, बाहर से आने वाले नये तत्त्वों को, नए विचारों को, और नए विश्वासों को पचाया और आज भी यह ऐसी वास्तविकता है, जिसकी उपेक्षा भारत की कोई भी राजनीतिक व्यवस्था नहीं कर सकती।

अराजनीतिक समाज

जाति-व्यवस्था पर ऊपर जो विचार किया गया, उससे पुराने भारत में समाज और राजनीति के परस्पर संबंध के एक महत्त्वपूर्ण पहलू पर प्रकाश पड़ता है। इस पद्धति के द्वारा भारत में एक परिवर्तनशील और अस्थिर राजनीतिक व्यवस्था तथा एक अत्यंत स्थिर और पक्की समाज-व्यवस्था में एक ढीला सामंजस्य स्थापित किया गया। यह समाज-व्यवस्था (जाति-प्रथा) अधिकतर एक या अनेक गांवों तक सीमित होते हुए भी स्थिरता तथा सुरक्षा प्रदान करती थी। दूसरी ओर राज्यतंत्र विशाल क्षेत्र, विपुल सैन्यबल एवम् राजमहिमा से मंडित हुए होने भी अस्थिर और अव्यवस्थित रहता था। जैसा कि हमने पिछले अध्याय में देखा, भारत की एक बड़ी विफलता यह थी कि वह एक स्थिर केन्द्रीय राज्यतंत्र की स्थापना न कर सका। इस दृष्टि से भारत की परंपरागत समाज-व्यवस्था अराजनीतिक ही कही जाएगी।

इसका अर्थ यह नहीं कि पुराने जमाने में भारत में राजनीति थी ही नहीं। गांवों में राजनीति चलती थी, लेकिन दूसरी तरह की। यह राजनीति गांव की मुखियागिरी और दलबंदियों की थी, और इसका आधार कुटुंब और बिरादरी होती थी। दूसरी राजनीति देश या प्रदेश के शासन या राज्य व्यवस्था से संबंध रखती थी जिसमें अप्रत्याशित उलट फेर हुआ करता था। शासन या राज्य का दखल गांवों के मामलों में होता था, यह झगड़ों का निपटारा करता था और जातियों की पद-मर्यादा में समय समय पर परिवर्तन में भी इसका हाथ रहता था। इस प्रकार की व्यवस्था विभिन्न समूहों के परस्पर संबंधों का नियंत्रण तो करती थी, किंतु यह एकतारबद्ध राजनीतिक ढांचे का निर्माण न कर सकी।

स्थानीय एकता

इस प्रकार की सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था ने पुराने भारत में एक विशिष्ट प्रकार के आचार, प्रगल्भ विचार और मूल्यों को जन्म दिया, और उन्हीं से शक्ति भी ग्रहण की। इससे स्थानीय एकता की दृढ़ भावना उत्पन्न हुई। इस एकता के दो रूप थे — एक प्राथमिक समूह के प्रति निष्ठा, अर्थात् अपने परिवार

और सबधियो का साथ देना और दूसरा इससे बडे समूह, अर्थात गाव, कबीले या जाति के प्रति निष्ठा। इस बडे समूह का अधिकार और व्यवहार के प्रतिमान उस पर लागू होते थे और वह उन्हे मानता था। प्रत्येक व्यक्ति का स्थान जन्म से ही उसकी जाति और कुल के द्वारा निश्चित रहता था। बडे समूह मे भी उसका स्थान, उसके परपरागत पशे, जाति और गाव के प्रति उसके सबध और परिवार के प्रति उसकी जिम्मेदारी, के द्वारा निश्चित रहता था।

उसके कर्तव्य भी सुनिश्चित थे। समाज ने उसे जो जिम्मेदारिया सौपी थीं उनका पूरा करने के बदले उसे सुरक्षा मिलती थी। व्यक्तिगत कमजोरियो और विशिष्टता का समूह ख्याल रखता था। समूह की स्थिति पर ही उसकी स्थिति निर्भर थी। उसी के साथ वह उठती या गिरती थी। इस प्रकार समूह के अतर्गत व्यक्तिया के पारस्परिक सामजस्य एवम सहयोग का आधार निर्मित होता था। प्राथमिक समूह यानी परिवार और सबधिया के अलावा बडे समूह या समाज से भी सबध निश्चित थे। मध्यवर्ती समूह और नेता, जसे पचायत राजस्व उगाहने वाला अधिकारी, गाव का मुखिया या पटेल और गाव के दस्तकार, जमीदार और काश्तकार, बनिया, धाबी, भगी आदि विभिन्न वर्ग या व्यवसायी समूह भी अपना अपना काम करते थे। किसका क्या क्या करना है यह किसी किताब म नही लिखा था फिर भी सबका मालम था। सामाजिक बधन बहुत मजबूत थे क्योकि ये खून के रिश्ते पर आधारित थे, जो मनुष्य के सबसे मजबूत बधनो मे है। सामाजिक आचार या व्यवहार इस प्रकार रिवाज या परपरा पर आधारित था। शताब्दियो तक राजनीतिक अस्थिरता के कारण भारत में ऐसी स्थायी राजनीतिक व्यवस्था न कायम हो पाई, जिसे भारतीय जनता अपना सकती, इस कारण भारतीय समाज म छोटे छोटे समूहा का प्राधान्य स्थापित हुआ जो आज भी नष्ट नही हो सका है।

धर्म या नैतिक व्यवस्था

रीतिरिवाज और परिवार तथा समाज के बधन को धर्म या नैतिक व्यवस्था से और बल मिला। धर्म शब्द अग्रेजी के "रिलिजन" से अधिक व्यापक है। इसमें व्यक्तिगत, सामाजिक, नैतिक और धार्मिक सभी प्रकार के कर्तव्य आ जाते हैं। इसमें यह सब आ जाता है कि किन स्थितिया में आदमी किस प्रकार व्यवहार करे, अपने रिश्तेदारा और अन्य लोगा के प्रति, बडे और छोटे के प्रति, पति पत्नी के प्रति, गरीब, वृद्ध, असहाय, ब्राह्मण, क्षत्रिय, व्यापारी, जमीदार चमार, भगी, नौकर, धर्म, ईश्वर और स्वय अपनी आत्मा के प्रति क्या व्यवहार करे। हर स्थिति का, हर व्यक्ति का निश्चित व्यवहार, धर्म है। सबके लिए और सब स्थितियो के लिए एक-सी नैतिक सहिता की कल्पना हिंदू जीवन पद्धति से मेल नही खाती। धर्म का अर्थ विभिन्न परिस्थितिया में सही व्यवहार है, यही सदाचार का आधार

के कारण इस व्यवस्था को बल मिला, क्योंकि इनके कारण देश में स्थिरता आई, उद्योग व शिल्प को बढ़ावा मिला। सड़कें और नहरें बनी, कला, साहित्य और धर्म के क्षेत्र में बड़े बड़े काम हुए। राजनीतिक और सांस्कृतिक उत्कर्ष के इन युगों में ब्राह्मण वर्ग की शक्ति बढ़ी और संस्कृत साहित्य की समृद्धि में उसने बहुत योगदान किया। ब्राह्मण ही हिंदू समाज के नेता थे इसलिए इनके उत्कर्ष से हिंदू समाज-व्यवस्था की मजबूती बढ़ी।

उच्चवर्ग की भूमिका

ज्ञान और संस्कृति के प्रसार में ब्राह्मण की भूमिका अत्यंत महत्त्व की रही है। समाज में उसका स्थान सब से ऊँचा था। वह परिवार का पुरोहित था, वही शिक्षा दान करता था, शास्त्रों, स्मृतियों और परंपरागत नियमों और विधिविधान की वही व्याख्या करता था, पीढ़ी दर पीढ़ी वह पुरानी परंपरा और आचार विचार को जीवित रखता था। समाज के नेता, शिक्षक, स्मृतिकार और न्यायाधीश के रूप में ब्राह्मण वर्ग का जो ऊँचा स्थान, प्रतिष्ठा और प्रभाव प्राप्त था, उससे विभिन्न जातियों व समूहों में बँटे अनेकात्मक हिंदू समाज को एक सामान्य सामाजिक पद्धति, प्रतीक और परंपराएं मिलीं। इस उच्चवर्ग की आंतरिक एकता किसी शास्त्रीय सिद्धांत के बल पर नहीं, उसके विशिष्ट जन्म, शिक्षा-दीक्षा, समाज के नेतृत्व और इन कारणों से समाज में उसके उच्च स्थान और प्रतिष्ठा के बल पर कायम थी। उसकी प्रतिभा ज्यादातर शास्त्र और दर्शन की व्याख्या में प्रकट होती थी। उसकी व्यवस्था या निर्णय का बहुत सम्मान किया जाता था। ऐसे बौद्धिक और शिक्षक वर्ग के नेतृत्व के कारण सैकड़ों वर्षों तक हिंदू समाज आपस में बँधा रहा और सात सौ वर्षों के विदेशी शासन के धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक प्रभुत्व के धक्कों को सह सका।

सुधार और परिवर्तन

ब्राह्मणों ने हिंदू समाज की रक्षा की, किंतु उनमें कट्टरता और रूढ़िवाद की प्रवृत्ति भी आ गयी और वे समय के अनुसार आवश्यक परिवर्तन और सुधार की व्यवस्था न कर सके। यह कार्य औरों ने किया। इनमें क्षत्रिय जाति के बुद्ध और महावीर प्रमुख थे। इनके समय से लेकर आधुनिक काल तक धर्म सुधारकों की एक अटूट परंपरा चली आई है। धर्म-सुधार के इन आंदोलनों और इनके फल-स्वरूप स्थापित अगणित मतमतांतरों ने भारतीय सभ्यता के संवर्धन में ही नहीं उसको जीवित रखने में भी योग दिया है। इनसे हिंदू समाज की प्राणशक्ति बढ़ी है और उसे नई बातों और भिन्न विचारों को ग्रहण करने की सामर्थ्य मिली है। इससे हिंदू समाज के बुनियादी ढांचे में मजबूती और लचीलापन आया है।

शासक और पुरोहित वर्गों के प्रभाव से हिंदू धर्म में जो कर्मकांड और आडंबर आ गया था उसके विरुद्ध इन सुधारकों ने आवाज उठाई। इन आंदोलनों में आधुनिक काल के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण भक्ति आंदोलन था। इस आंदोलन के नेता संत और भक्त थे जिनमें से अनेक बहुत नीची जातियों के थे। ये संत देश के सभी भागों में हुए। इनमें छोटे और गरीब लोग व स्त्रियां भी थीं। इनमें मीरा बाई जैसी राजरानी भी थी जो महलों को छोड़कर भक्तों के साथ राह-बाट की खाक छानती फिरी। भक्ति-आंदोलन के फलस्वरूप अनेक नए पंथ व संप्रदाय चले जिनमें बहुत बड़ी संख्या में साधारण जनता शामिल हुई। ऐसा ही एक पंथ 'सिख पंथ' था जिसने अत्याचारों का सामना करने के लिए सैनिक रूप धारण किया और जिसके अनुयायियों ने भारत में आधुनिक अंतर के प्रसार में बहुत योगदान किया है। भक्ति-आंदोलन के अनेक प्रवर्तक दक्षिण भारत में भी हुए जिनके उपदेश भारतीय मानस के अंग हैं। प्रादेशिक सीमाओं को लांघने और संस्कृत के बजाय लोकभाषा का सहारा लेने के कारण भक्ति-आंदोलन ने सांस्कृतिक और राजनीतिक एकता की भावना पैदा की जो विरोध के आंदोलन के लिए दुर्लभ बात है। जात-पात का विरोध करके और मनुष्य की समानता पर जोर देकर भक्ति-आंदोलन ने आधुनिक युग के समानता के सिद्धांत का रास्ता तैयार किया।

इस प्रकार अपनी समाज व्यवस्था पुराणों और महाकाव्यों के आदर्श ब्राह्मण वर्ग के नेतृत्व और समान धार्मिक आंदोलनों के कारण हिंदू धर्म में एकता और निरंतरता की भावना बनी रही। भारत एक राष्ट्र भले ही न बन सका हो किंतु उसने एक समाज और सभ्यता का निर्माण अवश्य किया और भारतीयों में यह भावना काफी व्यापक थी। इस गहरी एकता और आत्मबोध या अस्मिता के बिना अंग्रेज शासकों और राष्ट्रीय नेताओं के लिए देश की राजनीतिक एकता की स्थापना आसान न होती। दूसरी ओर इस एकता की भावना के बावजूद और इसके विशिष्ट स्वरूप के कारण पूरे हिंदू युग के दौरान समाज और राजनीति का पार्थक्य बना रहा। इसका अर्थ यह था कि राजपरिवर्तन का प्रभाव समाज के जीवन पर ज्यादा नहीं पड़ता था। साम्राज्यों का उत्थान और पतन होता रहा लेकिन भारतीय समाज का अधिकांश अपने रास्ते पर चलता रहा। एक केंद्रीय सत्ता और निष्ठा की स्थापना का कार्य अधूरा ही रहा।

मुस्लिम आक्रमण और उनके नए शासन ने इस व्यवस्था में गड़बड़ी जरूर पैदा की, किंतु बुनियादी तौर पर वह इसे बदल न सका।

मुस्लिम प्रभाव

मुसलमानों (अरब अफगान मुगल) के छिटपुट आक्रमण ८वीं शताब्दी में सिंध में शुरू हुए। १० वीं और ११ वीं सदी में ये आक्रमण तेज हो गए और

१२०६ ई में दिल्ली सलतनत कायम हुई। मुस्लिम सत्ता का चरम उत्कर्ष मुगल साम्राज्य (१५२६ ई – १७०७ ई) में हुआ। १८५७ तक नाम के लिए मुगल बादशाह कायम रहे। सन् १८६२ में मुगल शासन का विधिवत अंत हो गया।

इस युग की चार बातें ध्यान योग्य हैं। पहली यह है कि मुस्लिम राज्य बुनियादी रूप में सैनिक शासन था, यद्यपि इसने देश में नागरिक शासन की भी अच्छी व्यवस्था की। मुस्लिम शासन काफी समय तक कायम रहा फिर भी यह सारे देश को एक राजनीतिक सत्ता के अधीन न ला सका। राज्य के विस्तार के लिए निरंतर युद्ध होते रहे, जिससे बडी बरबादी और अव्यवस्था पैदा हुई। यद्यपि १६७७ से लेकर १७०७ तक मुस्लिम सलतनत काफी मजबूत और स्थिर रही, किंतु इसके साथ ही गद्दी के लिए षडयंत्र और लडाइयां जारी रहीं और बादशाहत को राजपूतों और मराठों के अलावा विद्रोही मुस्लिम सूबेदारों की चुनौती का सामना करना पडा।

दूसरी बात यह है कि मुसलमानों का मजहब और समाज-व्यवस्था हिंदुओं से बिलकुल भिन्न थी। यद्यपि अधिकांश मुस्लिम शासक चाहते थे कि दोनों मजहब साथ साथ रहें, खास कर अकबर हिंदू मुस्लिम मेल का सबसे बडा समर्थक था, फिर भी मुस्लिम मजहब अपनानेवालों को फायदा होता था और मुस्लिम धर्म-प्रचारक, सूफियों और मौलवियों को धर्मांतरण कराने की खुली छूट थी। खास कर उत्तर भारत में मुस्लिम धर्म का काफी प्रचार हुआ। बीच बीच में कट्टर मुस्लिम शासकों के राज में धार्मिक अत्याचारों की लहर उठती थी और इनके कारण दोनों मजहबों में झगडा और नफरत फैलती थी। भारत की परंपरागत धर्म-सहिष्णुता को इससे धक्का लगता था। और दोनों मजहबों में सामाजिक व्यवहार और एकता स्थापित न हो सकी। फिर भी दोनों मजहबों ने एक दूसरे को प्रभावित अवश्य किया। मुसलमानों में भी खास खास पेशेवाली जातियां बन गईं और इससे वे हिंदुओं के ज्यादा नजदीक आए-खास कर मुस्लिम सत्ता के कमजोर होने के बाद। दूसरी ओर हिंदुओं ने भी मुसलमानों के बहुत से तौर तरीके, कला-कारीगरी, शासनपद्धति, दरबारी शिष्टाचार आदि अपनाए। मुगल शासन में राजपूत सेनानायकों और हिंदू दीवानों का बडा सम्मान था। शहर मुस्लिम साहित्य, स्थापत्य और कला के केंद्र बन गए और शिक्षित हिंदुओं ने इस संस्कृति में योगदान किया। लेकिन इसके बावजूद दोनों धर्म और समाज एक दूसरे से अलग रहे, क्योंकि मुस्लिम सत्ता की नींव धर्मपरिवर्तन और सैनिक बल के ऊपर कायम थी।

तीसरी बात भारत में मुस्लिम शासन पद्धति के विकास से संबंध रखती है। इन्होंने एक विशिष्ट राजनैतिक पद्धति एक अधिकारिक केंद्र और व्यापक एवं कार्यकुशल शासन-प्रणाली स्थापित की जिसमें केंद्रीय सत्ता के अंतर्गत सूबों और जिलों में राजस्व की वसूली और प्रशासन के लिए बडे और छोटे अधिकारी तैनात किए

गए। इनका पद सैनिक होता था और इनको शासन में काफी स्वतन्त्रता रहती थी। इनसे अक्सर ये अपनी ताकत बढ़ा कर खुदमुख्तार बन बैठते थे। अंग्रेजों ने मुस्लिम शासन-व्यवस्था की बहुत सी बातों को जारी रखा, लेकिन उन्होंने इसमें एक महत्वपूर्ण परिवर्तन किया। यह था सैनिक शासन को नागरिक शासन से अलग कर देना और नागरिक या दीवानी शासन में अधिक एकरूपता लाना। ये दोनों बातें अंग्रेजों की राजनीतिक परंपरा में थीं।

चौथी बात यह है कि मुस्लिम प्रभुत्व और शासन व्यवस्था का प्रभाव गांवों में रहने वाली जनता की रहन सहन, रीति रिवाज और उनकी संस्थाओं पर बहुत कम पड़ा। अधिकतर पुराना सामाजिक और व्यावसायिक ढांचा कायम रहा। गांव का प्रबंध पंचायतों के हाथ में बना रहा। नए शासन और मालगुजारी के बंदोबस्त से सरकारी हाकिमों के कारण कुछ जातियों और वर्गों की पद-मर्यादा घटी बढ़ी किन्तु इस प्रकार का सामाजिक परिवर्तन पहले भी होता रहता था। इससे समाज और राज्य के ढांचे में कोई परिवर्तन नहीं होता था। केन्द्रीय सत्ता स्थानीय संस्थाओं के अधिकांश कार्यों में कोई दखल न देती थी। गांवों में रहने वाली मुस्लिम जनसंख्या ने भी इस पद्धति को अपना लिया और उनमें भी अलग अलग पेशों के हिसाब से जातियां और पंचायतें बन गई। मुसलमान शासकों ने मालगुजारी के बंदोबस्त, नहर आदि के निर्माण के लिए प्रशासन की काफी अच्छी व्यवस्था का विकास किया, फिर भी यह देश की जड़ तक या साधारण जनता तक न पहुंच सकी। परदेशी होने के कारण मुस्लिम शासन ज्यादातर शहरों में केन्द्रित रहा। दूसरे स्थानीय संस्थाएं इतनी मजबूती से जमी हुई थीं कि उन्होंने केन्द्रीय शासन को अपने ऊपर हावी न होने दिया। तीसरे मुसलमानों ने क्षत्रियों जैसी पुश्तैनी शासक जाति का विकास न किया। यह सल्तनत सिराज या कर लेकर, सूबों और जिलों का शासन और फौजी प्रबंध जागीरदारों या सूबेदारों को सौंप देते थे, जो समय समय पर बदला करते थे।

हिंदू धर्म पर प्रभाव

मुस्लिम शासन की स्थापना से हिंदू समाज का आंतरिक संतुलन भंग हो गया। देश में जो हिंदू राज्य कायम थे, खास कर दक्षिण और पश्चिम में, उनसे मुसलमानों के निरंतर युद्ध होते रहे। इन युद्धों से और इनके फलस्वरूप होने वाली लूटपाट, अत्याचार, मन्दिरों की तोड़फोड़ आदि से साधारण जनता त्रस्त रहती थी। जनता में असंतोष और देश में अस्थिरता और भय बराबर बना रहता था। इससे हिंदू समाज का ढांचा अस्तव्यस्त हो गया और उसके धार्मिक व सामाजिक नेता आत्मसंरक्षण में लग बैठे। इस स्थिति में जब हिंदू समाज की रक्षा करने वाली राजनीतिक शक्ति न रही तो धर्म और विचारों के क्षेत्र। उस कुछ सहारा लिया।

पराजित और लांछित हिंदू जाति ने भगवान का सहारा लिया और परलोक पर ध्यान लगाया। उसकी जीवनी शक्ति, दूसरों को आत्मसात कर लेने की क्षमता मारी गयी, जात-पात के ढांचे में बड़ी कठोरता आ गयी और उसकी दृष्टि निराशावादी और भाग्यवादी हो गई।

मुस्लिम प्रभुत्व का धक्का बड़ा जबर्दस्त था किंतु इसका प्रभाव स्थायी न रहा, सिवा इसके कि देश भर में मुसलमानों की संख्या बहुत बढ़ गई। बाहरी प्रभाव या धक्के को झेलने का हिंदू समाज का अपना तरीका है। या तो वह बाहरी तत्वों को अपने भीतर पचा लेता है, या जहां ऐसा संभव नहीं है, वह उसका सीधा मुकाबला करने के बजाय अपने हाथ पांव सिकोड़ कर, उसके वेग के अपने आप खतम होने का इंतजार करता है।[२] ब्रिटिश प्रभाव को भी उसने इसी प्रकार झेलने का प्रयत्न किया। मुस्लिम धक्के में जो अव्यवस्था और आंतरिक अशांति फैली थी उसको अंगरेजी राज ने अपनी सुव्यवस्थित शासन प्रणाली से दूर किया।

मुस्लिम राज के स्थायी प्रभावों में एक है सांप्रदायिक समस्या। मुसलमानों के प्रभुत्व के समय दोनों संप्रदायों के नेताओं में शत्रुता और द्वेष का भाव था, यद्यपि साधारण जनता एक दूसरे के पास आ रही थी। अंग्रेजी राज्य में स्थिरता आई, और हिंदू मुसलमान साथ साथ रहना सीख गये उनके अपने अपने काम धंधे और प्रभाव क्षेत्र बन गए और अनेक क्षेत्रों में वे साथ मिल कर काम करने लगे। लेकिन अंगरेजी राज के उत्तरार्ध में राष्ट्रीय स्तर पर विरोध और अलगाव पैदा हुआ और सांप्रदायिक संबंध बिगड़ गए। इसी से सांप्रदायिक अलगाव की समस्या पैदा हुई। इसका अध्ययन इसी अध्याय में हम आगे करेंगे।

मुस्लिम प्रभुत्व का दूसरा परिणाम उसके पतन के बाद हिंदुओं में उसकी प्रतिक्रिया या हिंदू जागरण के रूप में प्रकट हुआ। इस जागरण में अंग्रेजी राज का भी योग था और पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति का भी प्रभाव था। अंग्रेजी शासन में शांति और स्थिरता कायम हुई और पाश्चात्य शिक्षा का प्रसार हुआ। इसी के साथ साथ संस्कृत अध्ययन को भी बल मिला और देश की प्राचीन संस्कृति के लिए गौरव का भाव बढ़ा। इसमें संस्कृत के यूरोपीय विद्वानों ने भी योग दिया। हिंदू पुनर्जागरण के साथ साथ पाश्चात्य संस्कृति का भी प्रभाव बढ़ा। मुसलमानी जमाने की अव्यवस्था और दमन के बाद ये दोनों धाराएं हिंदू जागरण और पाश्चात्य संस्कृति का प्रचार, मुक्ति और आशा का संदेश लेकर आईं।

अव्यवस्था का युग

कुल मिला कर मुस्लिम युग का प्रभाव बहुत गहरा या व्यापक नहीं रहा।

[२] हरदत्त वेद और नीरद चौधरी जैसे भिन्न विचार वाले लेखकों ने इस प्रवृत्ति की चर्चा की है। हरदत्त वेद, 'हिंदू सोसायटी इन ट्रांजिशन' (पूना १९६१) और नीरद चौधरी 'द कांटिनेंट आफ सर्सी' (लंदन, १९६६)

सामाजिक परंपरा या अधिकांश जनता के मन में इसकी जड़ गहरी न जा सकी।[3] किंतु सामाजिक ढांचे, शासनतंत्र, कला व साहित्य तथा उच्च वर्ग की रहन सहन और तहजीब या शिष्टाचार पर इसका प्रभाव प्रत्यक्ष है। वास्तव में मुगल साम्राज्य का अंत १७०७ में औरंगजेब की मृत्यु के समय हो गया और इसी समय से यूरोपीय शक्तियों ने अपने राज्य का विस्तार करना शुरू कर दिया। पूरी १८ वीं और १९ वीं शताब्दी के प्रथम भाग में राजनीतिक गड़बड़ी कायम रही, भारतीय शक्तियों का पतन और यूरोपीय शक्तियों का उत्थान होता रहा। १५० वर्ष के मुगल शासन में केंद्रीय सत्ता की शक्ति बढ़ी किंतु उसे लगातार चुनौतियों का सामना करना पड़ा और अंत में मराठों के प्रतिरोध ने उसे जर्जर कर दिया। उसके कमजोर पड़ते ही उसके प्रांतीय सूबेदारों और जागीरदारों ने भी सिर उठाया। इस प्रकार मुगल युग के अंत में भारत में कोई केंद्रीय शक्ति न रही और वह *आपस में लड़ने वाले छोटे राज्यों में बंट गया। इस स्थिति में यूरोपीय शक्तियों* की बन आई और मुगल साम्राज्य के खंडहरों पर अंग्रेजी साम्राज्य कायम हुआ।

ब्रिटिश प्रभाव

भारत में पश्चिमी प्रभाव कई चरणों में आया। (१) पहले चरण में १५ वीं, १६ वीं और १७ वीं शताब्दी में पुर्तगाली, डच फ्रांसीसी और अंगरेज व्यापारियों ने हिंद महासागर में प्रवेश किया और अपनी व्यापारी कोठियां व बस्तियां कायम कीं। (२) ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने फ्रांसीसियों को हरा कर (यूरोप के सप्तवर्षीय युद्ध से लाभ उठा कर) यहां अपनी प्रधानता कायम की। इसके बाद कंपनी ने जर्जर मुगल साम्राज्य से व्यापक व्यापारी सुविधाएं बड़े बड़े क्षेत्रों पर आर्थिक और प्रशासनिक अधिकार प्राप्त किए। इसके बाद उसने कुछ भारतीय राज्यों से सहायक संधि कर के और एक एक करके मराठों, टीपू सुलतान और अंत में सिखों को हरा कर, भारत पर अपनी प्रभुता कायम की। (३) १८५७ के विद्रोह के बाद कंपनी के स्थान पर ब्रिटिश सरकार का सीधा शासन (रानी और पार्लामेंट) स्थापित हुआ। वास्तव में कंपनी और ब्रिटिश सम्राट के शासन को एक ही समझना चाहिए। फिर भी १८५७ के विद्रोह से एक नया युग शुरू होता है।

१८५७ का विद्रोह

१८५७ का विद्रोह न तो मात्र ब्रिटिश सेना के हिंदुस्तानी सिपाहियों का

३ इसमें कुछ अपवाद भी हैं। उत्तर पश्चिम भारत में जहां संस्कृत की परंपरा बहुत गहरी नहीं गई थी, इस्लाम ने हिंदू संस्कृति को नष्ट कर दिया और आज भी वहां इस्लामी परंपरा का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। देखिए डी आर चानन, 'संस्कृताईजेशन, वेस्टर्नाईजेशन ऐंड इंडियाज नार्थ वेस्ट' *इकनामिक वीकली*, भाग १३, सं ९, मार्च ४, १९६१

गदर था न यह स्वतन्त्रता का सग्राम था। ब्रिटिश ईस्ट इडिया कपनी ने मालगुजारी, अदालत, कानून, शासन और आर्थिक सगठन, व्यापार आदि की जो नई व्यवस्था चालू की थी, उससे नए अधिकार प्राप्त वर्गों का उदय हुआ और पुरानी सामती व्यवस्था की चूलें हिल गईं। इसकी गहरी प्रतिक्रिया १८५७ के विद्रोह में हुई। इस विद्रोह में अधिकतर उत्तर भारत के मुस्लिम, नवाब, जागीरदार और तालुकेदार वर्ग के लोग शामिल थे, जिनकी शक्ति और प्रभाव फिरगियो ने छीन लिया था। अवश्य ही इस विद्रोह में अनेक हिंदू राजा और तालुकेदार भी थे। विद्रोह विफल रहा और अग्रेजो ने बडी क्रूरता से विद्रोह का दमन किया, इससे अग्रेजो के प्रति बहुत कटुता, खासकर मुसलमानो, मे पैदा हुई। अग्रेजो ने भी १८५७ के तुरत बाद मुस्लिम विरोधी रुख अपनाया। फिर भी इस विद्रोह का जितना प्रभाव अगरेजो के मन पर हुआ, उतना भारतीयो पर नही। उत्तर भारत के अलावा शेष भाग में इसका प्रभाव नही पडा था। इस विद्रोह से अग्रेजो के मन में यह भाव आया कि उनका राज्य स्थायी नहीं है और वे भारतीयो पर शक और अविश्वास करने लगे। भारत मे सुधार और नई व्यवस्था और सभ्यता लाने में उनको उत्साह न रहा। भारतीयो के मन मे भी १८५७ की याद बनी रही और वे भी यह समझने लगे कि अगरेज अजेय नहीं हैं। यद्यपि १८५७ का विद्रोह पुरानी सामती व्यवस्था की पराजय का द्योतक था फिर भी उससे राष्ट्रीय स्वतत्रता के आदोलन को प्रेरणा मिली। १८५७ के विद्रोह से अगरेजो ने भारतीयो की धार्मिक भावनाओं से छेड़छाड़ न करने का सबक सीखा और सन १८५८ में मलका विक्टोरिया की घोषणा में यह आश्वासन दिया गया कि भारतीय जनता की परपराओ का सम्मान किया जाएगा और शासन को उदार बनाया जाएगा। मगर जितनी ही भारतीय जनता को सतुष्ट करने की कोशिश की उतना ही उसका असतोष बढता गया। १८५७ के बाद अगरेजी शासन ज्यादा अच्छा और कुशल हो गया किन्तु जनता ने उसे स्वीकार नहीं किया और उसकी जडें गहरी नहीं जा सकी। १८५७ के विद्रोह ने अगरेजी राज्य के विरोधाभास को स्पष्ट कर दिया। यद्यपि इसका प्रभाव क्रातिकारी था, फिर भी इसने प्रतिक्रियावाद और विद्रोह को जन्म दिया।

अग्रेजी शासन का प्रभाव

अगरेजी राज का प्रभाव क्रातिकारी था परन्तु वह गहरा न था क्योकि वह विदेशी था। फिर भी यह बडा शक्तिशाली और स्थिर था। अगले अध्याय में हम औपनिवेशिक या विदेशी शासन के प्रभाव का विश्लेषण करेंगे। यहा हम देखेंगे कि भारत को उसकी क्या देन रही।

केन्द्रीय सत्ता की स्थापना — अग्रेजो ने पहली बार सारे देश में एक टिकाऊ

केंद्रीय शासन स्थापित किया, जिसके अंतर्गत बाहरी आक्रमण और आंतरिक अशांति से मुक्ति मिली। यद्यपि देश के एक तिहाई भाग में देशी राजाओं का राज्य कायम रहा, पर वे भी पूरी तरह ब्रिटिश प्रभुसत्ता के अधीन थे। यह बहुत बड़ी सफलता थी और अंगरेजी राज्य ने भारत में और जो कुछ किया, उसकी यही बुनियाद थी। भारत की राष्ट्रीय एकता भी इसी बुनियाद पर निर्मित हुई।

कानून और व्यवस्था

मुस्लिम काल में निरंतर लड़ाइयों के कारण देश में बड़ी अशांति और भय छा गया था। अंगरेजी शासन की स्थापना के बाद शांति और कानून की व्यवस्था हुई। इसलिए बहुत से लोगों ने और लेखकों व कवियों ने भी अंगरेजी राज का स्वागत किया।

प्रशासन और न्याय की नई पद्धति — अंगरेज पहली बार सारे देश को एक सत्ता के नीचे लाने में सफल रहे। मुगलों के समय में जिस तरह देश सूबों और जिलों में बंटा था, अंगरेजों ने उसको कायम रखा और उसे एक नया रूप दिया। सब से महत्त्व का सुधार उन्होंने यह किया कि इसको उन्होंने नागरिक या असैनिक रूप दिया। जिले का अधिकारी केंद्रीय शासन का नौकर था। उसे कोई सैनिक अधिकार न था, न वह प्रजा का शोषण करके अपना अधिकार बढ़ा सकता था। अंग्रेजों ने भारत में आधुनिक ढंग की नौकरशाही या अधिकारीवर्ग कायम किया, जिसमें नियुक्ति योग्यता के आधार पर खुली परीक्षा लेकर होती थी। ब्रिटेन से भी पहले भारत में यह तरीका लागू किया गया। इसके फलस्वरूप आइ सी एस (इंडियन सिविल सर्विस) की सृष्टि हुई। पहले इसमें सब अंगरेज अफसर होते थे, बाद में भारतीयों को भी लिया जाने लगा। इनका चुनाव बड़ी सावधानी से होता था और योग्यता तथा विद्या-बुद्धि के साथ ऊंचे कुल का भी विचार किया जाता था। इन लोगों को जिलों में अमन कानून बनाए रखने का, राजस्व वसूली का और न्याय का भार सौंपा गया।

आइ सी एस के आदमी जिले के शासक ही नहीं थे वे न्याय भी करते थे। धीमे धीमे ब्रिटिश न्याय के सिद्धान्त, नियम, नजीर और प्रक्रिया पर आधारित अदालतों की नई व्यवस्था स्थापित की गई। इसके बाद जनता की भलाई के उद्देश्य से सामाजिक और आर्थिक प्रशासन का भी ढांचा खड़ा हुआ और अत्यधिक अन्यायपूर्ण विषमता को घटाने के लिए कुछ सुधार भी किए गए।[४] इससे शासन में नए विचार और नई दृष्टि आने लगी जो बदलते हुए समय के ज्यादा अनुरूप थी।

[४] यह धारणा ठीक नहीं है कि भारत में अंग्रेजी शासन का मतलब केवल शांति और कानून की व्यवस्था करने से था। इस शासन ने आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में भी बहुत से कदम उठाए जिनका सभी वर्गों पर प्रभाव पड़ा। स्वतंत्रता के बाद जो काम हुए हैं उनमें से अनेक की शुरुआत अंगरेजी राज के समय में ही हो चुकी थी।

मध्यमवर्ग का जन्म – १८३५ में मैकाले के प्रसिद्ध नोट के फलस्वरूप ब्रिटिश राज ने अपना सबसे महत्त्वपूर्ण निर्णय किया। यह था अंग्रेजी माध्यम से हाईस्कूल और कालेजों में शिक्षा देने का। इसके पहले भी पाश्चात्य संस्कृति से आकृष्ट होकर अनेक व्यक्ति अंग्रेजी सीखने और अंग्रेजी के काव्य, साहित्य, कानून और विज्ञान के ग्रंथों को पढने लगे थे। अब ऐसे लोगों की संख्या बहुत बढ़ गई। ध्यान रहे कि अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा देने का फैसला जनता की इच्छा के खिलाफ नहीं किया गया। राजा राममोहन राय और अन्य बहुत से भारतीयों ने इसकी मांग की थी। इस शिक्षा ने अंगरेजी पढे लिखे एक नए वर्ग की सृष्टि की, जो पाश्चात्य संस्कृति और राजनीतिक विचारों से प्रभावित था और अंगरेजी अफसरों के नीचे काम करने को तैयार था। बहुत से अंगरेजी शिक्षितों ने वकालत का पेशा अपनाया। कुछ अध्यापक हुए और कुछ व्यापार, उद्योग में लगे। थोडे में भारतीय उच्च शिक्षा प्राप्त करके आइ सी एस बनने की आकांक्षा में इंगलैंड भी पहुंचे। अनेक भारतीयों ने डाक्टरी और पत्रकारी की वृत्ति शुरू की और कुछ ने राजनीति में प्रवेश किया।[५]

यह भारत का नया मध्यवर्ग था। इस वर्ग के जरिये अंगरेजों ने भारत पर राज किया। इसी वर्ग के जरिये व्यक्ति की स्वतंत्रता और वैधानिक शासन के विचार फैले और इसी वर्ग से अंग्रेजी राज को चुनौती देने वाले राजनीतिक नेता उठे। इस वर्ग का देश पर व्यापक प्रभाव पडा। अंग्रेजी शिक्षा की उपज और स्वतंत्रता, लोकतंत्र तथा समाजवाद के विचारों से प्रेरित यह वर्ग ब्रिटिश राज की सबसे बड़ी विरासत है। इसी वर्ग ने अंत में अंगरेजों से सत्ता ग्रहण की और भारत को स्वतंत्र लोकतंत्री राष्ट्र घोषित किया।

सामाजिक सुधार–

भारत में आधुनिकता का प्रचार एक छोटे से अंगरेजी पढे लिखे वर्ग के द्वारा हुआ। इसी से देश की एक बहुत बडी समस्या–शिक्षित उच्च वर्ग और साधारण जनता में दूरी की समस्या–पैदा हुई। आगे हम इस पर विचार करेंगे। इस बीच यह बात ध्यान में रखने की है कि इसी वर्ग के साथ साथ भारत में सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तनों की और अंत में अंगरेजी राज से पूर्ण स्वतंत्रता की मांग भी उठी।

सबसे पहले हिंदू समाज की कुरीतियों को दूर करने का आंदोलन उठा। इस विषय में उदार अंगरेज शासकों के विचार भारतीय नेताओं से मेल खाते थे। वास्तव में ये सुधारक हिंदू समाज की बुराइयों को दूर करके उसके प्राचीन गौरव

५ इस मध्यवर्ग के उदय के ऐतिहासिक विवरण के लिए देखें–बी बी मिश्र,'द इंडियन मिडिल क्लासेज – देयर ग्रोथ इन मार्डर्न इंडिया'(लंदन, १९६१)

का पुनरुद्धार करना चाहते थे। सुधार के सबसे पहले कदम लार्ड विलियम बैंटिक के शासन में उठाए गए जो १८२८से१८३५ तक यहा के गवनर जेनरल रहे। इन सुधारो के लिए राजा राममोहन राय जैसे भारतीय सुधारको ने जोर दिया था। इन सुधारो में सती प्रथा और नवजात कन्या की हत्या का अत और ठगी का उन्मूलन था। लडकियो का वध और नरबलि को अपराध घोषित कर दिया गया। अपराधो के फैसले का काम पचायतो के हाथ से ले कर नवस्थापित अदालतो को सौंप दिया गया। स्त्रियो पर अत्याचार पर भी रोक लगाई गई।

१८५७ के विद्रोह से अगरेज शासको और भारतीय सुधारको के जोश पर रोक लगी। भारत का शासन सीधे ब्रिटिश सरकार के हाथ में चला गया और उसने लोगो के रीति रिवाज और आचार विचार मे दखल न देने की नीति अपनाई। अब से यह नीति चली कि सुधार सरकारी कारवाई के द्वारा नही, स्वय भारतीय नेताओ के प्रयत्नो से किए जाए। यद्यपि पहले भी सुधार की कारवाई, भारतीय नेताओ की माग पर ही की गई थी परन्तु अब सामाजिक और धार्मिक सुधार के क्षेत्र में सरकारी कारवाई उत्तरोत्तर कम होती गई।

विदेशी शासन का रवया

ध्यान रखना चाहिए कि भारत मे विदेशी सरकार का कार्यक्षेत्र क्रमश सिकुडता गया। विदेशी शासन के क्रातिकारी प्रभाव के बावजूद उसमें भारतीय समाज के पुनर्निर्माण की न तो क्षमता थी और न ही इच्छा। इसने आधुनिक नौकरशाही और कुशल शासन-तन्त्र की स्थापना की तथा लोक-कल्याणकारी शासन के भी बीज डाले, किंतु व्यापक सामाजिक और आर्थिक प्रश्नो पर इसका रुख अनुदार और दकियानूसी ही रहा। और यह ऐसे समय जब समाज में बडी उथल पुथल हो रही थी। १९ वी सदी के उत्तरार्ध और २० वी सदी के पूर्वार्ध में भारत की जन सख्या तेजी से बढी मगर खेती की पैदावार उतनी नही बढ सकी। प्रति व्यक्ति वास्तविक आय भी नही बढी, बल्कि, कुछ गिर गई। पुराने घरेलू उद्योगधधे, नई मिलो और बडे कारखानो के कारण बरबाद हो रहे थे। इन सब से देश में अभाव और कष्ट बढा। इसी अवधि में शहरो का विस्तार हुआ रेल और डाक-तार की सुविधाए बनी, विचारो के प्रचार के साधन अखबार और छापाखाना की सख्या बढी मध्यवर्ग का विकास हुआ और नई सस्थाए तथा सगठन बने। इस प्रकार समाज के पुनर्निर्माण की जमीन तयार हुई।

देश में एक ओर अभाव और कष्ट बढ रहे थे तो दूसरी ओर उनको दूर करने के अवसर भी प्रस्तुत हो रहे थे, किंतु अग्रेजी शासन ने कुछ न करने की नीति अपनाई। इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि वह राजनीतिक क्षेत्र में ही नही सामाजिक क्षेत्र मे भी, अकर्मण्य और अनुदार है। ब्रिटिश सरकार का यह सौभाग्य था कि

जनता के कष्ट और कमजोर ने विद्रोह का मार्ग न पकड़ कर राष्ट्रीय आंदोलन का मार्ग पकड़ा। ब्रिटिश सरकार ने जिन सामाजिक समस्याओं की उपेक्षा की, उन्हें सुलझाने का भार १९४७ के बाद भारत की स्वतंत्र सरकार पर आया।

आधुनिकता के प्रवाह

आधुनिकता के प्रवाह में राजा राममोहन राय (१७७४–१८३३) प्रमुख थे। वे अरबी, फारसी और संस्कृत के विद्वान थे तथा ग्रीक और हिब्रू भाषाएं भी जानते थे। अंग्रेजी उन्होंने बाद में पढ़ी। वे सूफी मत और बाद में ईसाई धर्म से प्रभावित हुए। उन्होंने हिंदू, इस्लाम, और ईसाई धर्म की अच्छी बातों और पाश्चात्य उदारवाद के तत्वों को मिलाने का प्रयत्न किया। वे जातपांत और स्त्रियों के साथ दुर्व्यवहार के आलोचक थे। वे अंग्रेजी शासन के अंधभक्त न थे, किंतु यह मानते थे कि उससे भारत को लाभ हुआ है। उन्होंने अपने देशवासियों के बीच पश्चिमी उदारवाद के विचारों और राजनीतिक सिद्धांतों का प्रचार किया। मगर उनका सब से बड़ा काम धार्मिक सुधार में हुआ। उन्होंने ब्राह्म समाज की स्थापना की, जिसमें धार्मिक और उदार सामाजिक विचारों का मेल हुआ। ब्राह्म समाज ने भारत के बौद्धिक और सामाजिक जीवन पर गहरा प्रभाव डाला और उसकी देखा देखी भारत में अनेक धार्मिक और सामाजिक संस्थाएं स्थापित हुई।

संस्था और संगठनों की वृद्धि

राममोहन राय और ब्राह्म समाज के बाद भारत में विशेष कर १९ वीं सदी के उत्तरार्ध में अनेक समाज और धर्मसुधारक हुए और नई संस्थाएं कायम हुईं। सब का नाम देने की यहां जगह नहीं। इनमें सन १८४८ में स्थापित ब्रिटिश इंडियन असोसिएशन जैसी राजनीतिक संस्थाएं भी थीं। कलकत्ता, बंबई और मद्रास में प्रेसिडेंसी असोसिएशन स्थापित हुए। सन १८७६ में सुरेंद्रनाथ बनर्जी ने कलकत्ता में इंडियन असोसिएशन स्थापित किया। सन १८८३ में इंडियन असोसिएशन ने एक नेशनल कांग्रेस (राष्ट्रीय सम्मेलन) का आयोजन किया। इससे एक अखिल भारतीय संस्था बनाने का विचार पैदा हुआ जिसके फलस्वरूप राष्ट्रीय (इंडियन नेशनल) कांग्रेस का जन्म हुआ।

दूसरा वर्ग सामाजिक संस्थाओं का है। इनके संगठनकर्ताओं का विश्वास था कि स्वराज्य के पहले समाज का पुनर्निर्माण जरूरी है जिससे लोग स्वशासन के योग्य बनें। इस आंदोलन के नेताओं में राजा राममोहन राय ईश्वरचंद्र विद्यासागर और श्रीनिवास अयंगार जैसे लोग थे। जस्टिस महादेव गोविंद रानडे भी समाज की कुरीतियों के बड़े आलोचक थे। इन्हीं के शिष्य कांग्रेस के नरम दल के नेता गोपाल कृष्ण गोखले हुए, किंतु उन्होंने राजनीतिक क्षेत्र अपनाया।

तीसरे वर्ग के सुधारक प्राचीन परंपरा के उतने विरोधी न थे, यद्यपि सुधार के लिए व भी उतने ही व्यग्र थे, अत इनका प्रभाव भी अधिक पडा। इनमें सब प्रमुख स्वामी दयानद सरस्वती थे। इन्हाने सन १८७५ में बबई में आय समाज की स्थापना की। आय समाज ने अपनी मुख्य प्रेरणा वेदो से ग्रहण की और हिंदू समाज व धम में घुस आइ बुराइयो को दूर करके विशुद्ध वैदिक धम के पुनरुद्धार का आह्वान किया। राष्ट्रवादिया पर इसका प्रबल प्रभाव पडा और वे बडी सख्या में इस में शामिल हुए। इसने हिंदू समाज की बुराइयो से असतुष्ट विद्रोह पर उतारू तत्त्वा को आश्रय दिया। इसकी शाखाए देश भर मे फैली। इसने शिक्षा का प्रचार किया और देश तथा समाज के पुनरुद्धार के लिए युवक-युवतियो का दल तैयार किया। इसने राष्ट्रीयता की भावना को बल दिया और राष्ट्रीय आदोलन के लिए कायकर्ता दिए। स्वामी रामकृष्ण के महान शिष्य स्वामी विवेकानद सनातनधम के समथक थे। उनके स्थापित रामकृष्ण मिशन ने शिक्षा के प्रसार और समाज सेवा के क्षेत्र में बडा काम किया। बाद मे काग्रेस के नेताओ ने अनुभव किया कि राष्ट्रीयता के आधार के रूप म धम का महत्त्व है। इन नेताओ मे तिलक और गाधी मुख्य थे।

राजनीतिक चेतना

१८ वी और १९ वी सदी के समाज सुधारक वास्तव में भारतीय राष्ट्रीय आदोलन के प्रवतक थे। उन्हाने शिक्षित नागरिक वग में जागति फैलायी। उसी ने राजनीतिक चेतना को जन्म दिया जिससे राजनीतिक या राष्ट्रीय आदोलन का सगठन हो सका। रानडे से गोखले की पीढी तक आत आते सामाजिक आदोलन के सभी प्रमुख नेता राजनीतिक क्षेत्र में काम करने लगे थे। बबई के प्रसिद्ध पारसी नेता दादा भाई नौरोजी जो ब्रिटिश पालमेंट के पहले भारतीय सदस्य हुए, अगरजी राज के कठोर आलोचक थे। उनका कहना था कि यह भारत का शोषण कर रहा है और उसे गरीब बना रहा है। वह राजनीतिक काय के समथक थे। (रानडे भी कोरे समाज सुधारक न थे। वह यह मानते थे कि स्वराज्य के पहले समाज सुधार आवश्यक है) इनके अलावा बगाल और अन्य स्थाना में उग्र राजनीतिक आदोलन कारिया के वग का उदय हुआ जो विदेशी शासन को उखाडना चाहते थे। सारे देश में असतोष की भावना सुलग रही थी और प्रकट होने का रास्ता चाहती थी

यह रास्ता सन १८८५ में इडियन नेशनल काग्रेस की स्थापना से मिला। यह भारत की आधुनिक राजनीति की ऐतिहासिक घटना थी। इसकी स्थापना प्राय- आकस्मिक ही हो गई और शुरू में इसे अग्रेजा का सहयोग और अधिकारियो की सदभावना मिली। इसने एक विराट सगठन का रूप धारण किया और राष्ट्रीय आदोलन को सगठित नेतृत्व प्रदान किया। काग्रेस ने भारतीय राष्ट्रधारा की नरम

और गरम दो विरोधी प्रवत्तियो के बीच का रास्ता अपनाया (और अब भी इसका यही रवैया है) नरम दल के लोग अगरेजी राज से समझौता करने के और नरम वैधानिक उपायो से राजनीतिक काय करने के समथक थे। गरम विचारधारा अगरेजी राज्य के विरुद्ध अहिंसात्मक आदोलन से लेकर क्रातिकारी कार्यो तक अनेक उग्र रूपो मे प्रकट हुई। काग्रेस के नरम दल के नेताओ को ब्रिटिश विधानवादियो से भी समथन मिला। वैधानिक आदोलन का रास्ता छोडने के बाद काग्रेस की ब्रिटिश राज से सीधी टक्कर हुई। वैधानिक और प्रत्यक्ष सघष दोनो उपायो से काम लेकर काग्रेस ने अत में अपना लक्ष्य सिद्ध किया। इस क्रम म उसने ससदीय काय का और विशाल देशव्यापी सगठन तथा कायकर्ताओ का दल बनाने का अनुभव प्राप्त किया तथा उसे विभिन्न वर्गों का समथन मिला और जनता में जड जमी।

भारत में स्वशासन की सस्थाओ का विकास अगरेजी शासन और भारतीयो के आदोलन दोनो के प्रभाव से हुआ। यदि यहा किसी ऐसी विदेशी शक्ति का शासन होता, जिसके अपने देश में लोकतत्री सस्थाए न होती और जिसमें अगरेजो की तरह राजनीतिक समझौते की प्रवत्ति न होती तो यहा के राष्ट्रीय आदोलन का स्वरूप कुछ और होता। इसके साथ ही भारतीयो की जो बौद्धिक और सास्कृतिक परपरा थी, जिसके कारण उन्होने अंग्रेजी शिक्षा तथा प्रशासनिक और राजनीतिक सस्थाओ को ग्रहण किया, उससे अग्रेजो को भी यहा शासन चलाने में आसानी हुई।

प्राय शुरू से ही यहा दूरदर्शी और उदार अंग्रेज अधिकारी भी रहे, जो भारतीयो की भावनाओ को समझते थे। ये लोग उस दिन की कल्पना करते थे जब भारतीय अपना शासन खुद करने लगेंगे और इस पर भी सोच विचार करते थे कि किस प्रकार क्रमश उन्हें इसके लिए तैयार किया जाए। किन्तु लगभग १६ वी सदी के अत तक इस पर कोई ठोस विचार नही किया गया, कि भारतीयो को किस क्रम से अधिकार दिए जाए। (सिफ स्थानीय स्वशासन या म्युनिसिपल शासन के क्षेत्र मे कुछ कारवाई की गई और इसमें भी कोई खास सफलता नही मिली)।[६]

स्वशासन की माग – इस शती में भारत मे ससदीय शासन के विकास के पीछे कई शक्तिया काम कर रही थी। एक तो काग्रेस ने ब्रिटिश शासन से सहयोग और मित्रता का जो हाथ बढाया, उसका उधर से उत्तर नही मिला, इससे काग्रेस मे क्षोभ बढा और उसका रुख कडा होने लगा। गोखले जैसे नरम दली नेता के अलावा

---

६ लाड रिपन स्थानीय स्वशासन को राजनीतिक शिक्षण का साधन मानते थे और उन्होंने स्थानीय स्वायत्त बोर्डों की स्थापना के लिए १८८२ का प्रसिद्ध प्रस्ताव किया। विकेन्द्रीकरण सबधी रायल कमीशन ने भी १९०८ में इस प्रस्ताव का समर्थन किया मगर कोई खास नतीजा नहीं निकला, यद्यपि गावों के मुकाबले शहरों में स्थानीय बोर्डों को ज्यादा सफलता मिली। लाड रिपन उदार शासक समझे गए। महाराष्ट्र में पचायती राज की स्थापना सबधी रिपोर्ट में लाड रिपन का प्रशसात्मक उल्लेख है।

कांग्रेस में कम गया
गरम दल भी संगठि
संगठन करने पर जो
अधिकार है और म
कांग्रेस तुरत राजनी
में बंगाल के विभाज

तीसरे, १९०८ में
और वाइसराय तथा
लिए गए, उससे निर्
की मांग पैदा हुई।
जद सदस्या की ही थ
बाद जब तिलक छूटे
रूल (स्वशासन) लो
और कांग्रेस में तिलक
नेता एक साथ आ गए
प्रसिद्ध समझौता हुआ
अधिकार' की मांग
युद्ध के कारण अंग्रेज
उन्होंने स्वशासन के

इसके फलस्वरूप
द्विश्रेणी शासन के अ
सत्ता का विधान मं
साथ ही सामान्य औ
प्रांतों में स्वशासन क
जिसमें कुछ विभाग
बनाए गए। इन की
की नीति यह थी कि
यद्यपि अंग्रेजों सत्ता
और प्रगति हुई।

किंतु इस ऐक्ट ग
हुआ। कांग्रेस ने इस
आग्रह किया कि य
सरकार की स्थापना
सरकार ने सत्याग

र तिलक, विपिनचंद्र पाल और लाजपतराय जैसे नेता [illegible] था। इस गरम दल ने [illegible] राजनीति [illegible] किया। तिलक ने घोषित किया – स्वराज्य मेरा [illegible] [illegible] रखूंगा। इस दल ने नरम दल पर [illegible] [illegible] अधिकारों की मांग करे। दूसरी बात यह थी कि १९०५ [illegible] अंग्रेजी सरकार का घोर विरोध हुआ।

[illegible] मिंटो सुधार ऐक्ट के जरिए जो थोड़ा सा सुधार हुआ [illegible] की कौंसिलों में पहली बार कुछ निर्वाचित सदस्य [illegible] सदस्यों की संख्या बढ़ाने और उन्हें ज्यादा अधिकार देने [illegible] कौंसिलों में अधिक संख्या सरकारी अधिकारियों और नाम [illegible]। सन १९०८ से १९१४ तक अंग्रेजों की जेल में रहने के [illegible] नेता के रूप में [illegible] स्वागत हुआ। [illegible] की नाम [illegible] में शामिल हो गए। १९१५ में [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] नहीं। नरम दल, गरम दल और मुसलमान [illegible]। कांग्रेस और मुस्लिम लीग में [illegible] पैक्ट के नाम से [illegible]। इस संयुक्त राष्ट्रीय मोर्चे की ओर से स्वशासन के [illegible] [illegible]। चौथी और सबसे बड़ी बात यह थी कि प्रथम विश्व-[illegible] भारत से सहयोग मांगने को बाध्य हुए और [illegible] में [illegible] अधिकार देने का वादा किया।

[illegible] १९ का गवर्नमेंट आफ इंडिया ऐक्ट पास हुआ जिसमें [illegible] संसदीय शासन का मामूली सी व्यवस्था [illegible]। केंद्र में [illegible] स्थापित हुआ जिसमें नामजद सदस्य तो मौजूद [illegible] मगर [illegible] सभा में निर्वाचित सदस्यों की भी काफी संख्या थी। [illegible] [illegible] बढ़ाए गए और [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

बढता हुआ असतोष

इस शती क शुरू के दो दशको म भारत के राजनीतिक वातावरण में जो परिवतन आया उसे समझना जरूरी है। सामाजिक और राजनीतिक सुधार की माग अब स्वतत्रता की आकाक्षा में बदल गयी। अगरेजो से सहयोग की प्रवत्ति के बदले लोगो म इस भावना ने जोर पकडा कि अग्रेज निरकुश विदेशी शासक है जो जनता की भावनाओ की कोई परवाह नही करते। बगाल के विभाजन ने नरम दली नेताओ को भी क्षुब्ध कर दिया। दादाभाई नौरोजी ने ब्रिटिश शासन पर भारत के शोषण का जो इलजाम लगाया, उसने मध्यवर्ग के नेताओ को बहुत प्रभावित किया और इससे राष्ट्रीय आदोलन को विदेशी शासन का विरोध करने क लिए प्रबल शस्त्र मिला। बग भग ने स्वदेशी आदोलन को जन्म दिया। तिलक ने इस आन्दोलन का बडी कुशलता स नेतत्व किया और इससे स्वदेशी कपडा मिलो की स्थापना को सहायता मिली। इससे व्यापारी वग ने इस आदोलन का समथन किया। पहले अग्रेजो की यह दलील सही मानी जाती थी कि भारतीयो को स्वशासन देने के पहले उसकी शिक्षा देनी जरूरी है, अब इस अपमानजनक समझा गया। भारतीय राष्ट्रवाद ने अब ज्यादा उग्र रुख पकडा। कांग्रेस का रुख पहले अग्रेजी शासन से सहयोग और समझौते का था अब वह स्वशासन के लिए सघष का राष्ट्रीय मोरचा बन गई।

यह सब स्वाभाविक था। शिक्षा और राजनीतिक विचारो के प्रसार तथा वतमान स्थिति से असतोष के बढने के साथ साथ भारत और अग्रेजी सरकार के हितो का विरोध स्पष्ट होना अनिवाय था। वास्तव में कुछ ऐसी शक्तिया काम कर रही थी, जिन्होने भारतीय राजनीति का रूप ही बदल दिया। पहली बार भारत में एक सगठित केन्द्रीय नेतावग का उदय हुआ जो देश की समस्याओ पर व्यापक और राष्ट्रीय स्तर पर विचार करने लगा। पहले अलग अलग स्थानो म प्रमुख व्यक्ति सामाजिक और राजनीतिक सुधारो के लिए काम करते थे, अब इनकी जगह राष्ट्रीय नेतावग और राष्ट्रीय सगठन ने ली। कांग्रेस के रूप में देश को राष्ट्रीय मच मिला। राष्ट्रीय चेतना और भावना का उदय और इसके प्रचार के लिए राष्ट्रीय सगठन का जन्म भारतीय इतिहास की क्रान्तिकारी घटना थी। ब्रिटिश राज ने भारत मे स्थिरता और प्रशासनिक एकता स्थापित करके राष्ट्रीयता क विकास के लिए आधार प्रस्तुत किया किन्तु भारतीय राष्ट्र का जन्म तब हुआ, जब विदेशी शासन की प्रतिक्रिया न राष्ट्रीय भावना को रूप दिया और राष्ट्रीय सगठन को जन्म दिया।

राष्ट्रीय सगठन के द्वारा जब राष्ट्रीय नेतावर्ग काम करने लगा, तब राष्ट्रीय आदोलन का राजनीतिक आयाम भी स्पष्ट होने लगा। प्रश्न केवल सुधार और शिक्षा का नही बल्कि एक शक्तिशाली साम्राज्य से लबी और कडी लडाई का था।

यह समझना मूर्खता की बात थी कि साम्राज्य अपने से अपना अंत करने को राजी हो जाएगा। इसीलिए तिलक ने कहा कि स्वराज्य के लिए संघर्ष करना पड़ेगा। विदेशी शासन से राजनीतिक सुधारों की मांग का नतीजा निराशाजनक रहा।

नए मतभेद

जैसे जैसे समस्या की विशालता का बोध हुआ, वैसे वैसे उसको सुलझाने के उपायों के बारे में मतभेद भी पैदा हुए। नरम दल की नीति से असंतुष्ट होकर तिलक के नेतृत्व में गरम दल ने संगठन पर कब्जा करने की कोशिश की। यद्यपि सूरत कांग्रेस (१९०७) में उनकी हार हुई फिर भी राजनीतिक रूप से चैतन्य वर्ग में उनका बढ़ता गया। तिलक के जेल से छूटने और १९१५ में गोखले के देहांत के बाद गरम दल का प्रभाव स्थापित हो गया। तिलक भी उग्र राजनीतिक आंदोलनकारी से चतुर राजनीतिज्ञ के रूप में परिणत हुए। इससे राष्ट्रीय आंदोलन में नए उग्र तत्वों का प्रभाव जम गया और इन्हीं के प्रभाव से कांग्रेस ने १९१९ के सुधारों को ठुकरा दिया।

इस प्रकार बंगाल के विभाजन के बाद अंग्रेजी सरकार और राष्ट्रवादियों के बीच तनाव बढ़ता गया यद्यपि अंग्रेजों ने १९०९ और १९१९ में कुछ राजनीतिक सुधार देकर और १९११ में बंगाल के विभाजन को रद्द करके भारतीय जनमत को संतुष्ट करने की कोशिश की। भारत के राजनीतिक वातावरण में गरमी आ गयी। अंग्रेजों ने राष्ट्रीय नेताओं को जेल और निर्वासन का दंड देकर और इससे भी अधिक रौलट ऐक्ट बना कर और १९१९ में जलियानवाला बाग में निहत्थी भीड़ पर गोली चला कर भारत में असंतोष को भड़काने में योग दिया। देश की तरह कांग्रेस के भीतर भी तनाव था। १९०७ में नरम दल के कारण तिलक के दल को कांग्रेस से अलग होना पड़ा था। अब तिलक और गरम दल की प्रधानता हो जाने के बाद नरम दली लिबरल लोग कांग्रेस से अलग हो गए और उन्होंने अपनी अलग संस्था लिबरल फेडरेशन बनाई।

मगर ऐसा लगता था कि न तो नरम दल को समस्या का कोई उपाय सूझता था, न गरम दल को। कांग्रेस महज वादविवाद सभा बन गई थी। सरकार को राजनीतिक सुधारों के लिए राजी करने की नरम दल की चेष्टा विफल हो गयी थी। दूसरी ओर गरम दल के आंदोलन से भी स्वशासन प्राप्त करने में कोई सफलता न मिल पाई थी। इक्के दुक्के अंग्रेजों की हत्या और बम फेंकने का नतीजा यही हुआ कि सरकारी दमन और बढ़ गया। एक प्रकार का गतिरोध पैदा हो गया था। असल में कांग्रेस का संगठन जनता में न फैल सका था और उससे कोई शक्ति न प्राप्त कर सकता था। कांग्रेस के नेता शहर के पढ़े लिखे लोग थे। उनकी सारी बातचीत अंग्रेजी भाषा में होती थी जिसे साधारण जन न समझता था। लिहाजा

जनता से उनको कोई व्यापक समर्थन नही मिल पाता था। नरम और गरम दोनो पक्षो के नेता जनता का सगठन करने में विफल रहे और इससे देश की राजनीति में एक खालीपन और गतिरोध आ गया था।

जननायक का आविर्भाव

इस गतिरोध को दूर किया मोहनदास करमचद गाधी ने। वह भारतीय राजनीति को जनता के समीप ले आए। दक्षिण अफ्रीका मे रगभेद के खिलाफ उन्हाने सत्याग्रह[७] चलाया था। सन १९१५ मे वे भारत लौटे। भारत की समस्या का अध्ययन करने के लिए उन्हाने सारे देश का दौरा किया। गाधी ने अनुभव किया कि स्वराज्य की लडाई बहुत लबी होगी और केवल अग्रजो से ही नही, भारतीयो को खुद अपने से भी लडना होगा। उन्होने समझ लिया कि अकेले शहरी मध्यवर्ग में काम करने से जनता में जागरण नही आ सकता। जनता को आलस और अकर्मण्यता से जगाना होगा, उनमें आत्मविश्वास और प्रगति की चाह पैदा करनी होगी। अग्रेजो को यह दिखाना होगा कि उनका मुकाबला नरम दल के थोडे से दब्बू नेता और अगरेजियत में डूबे शिक्षित वर्ग के लोगो से नही भारत भर की करोडो जनता के सगठित आदोलन से है। गाधी यह भी जानते थे कि उनका प्रतिपक्षी भौतिक बल से डरने वाला नही है, साथ ही उस पर नैतिक बल का प्रभाव पड सकता है, यदि उसके पीछे जनता का सगठन हो। इसलिए सब से पहला काम जनता को जागृत करके, सगठन की जड उनमें फैलाना है।

गाधी स्वय असाधारण नैतिक शक्ति से प्रेरित थे। उन्हाने काग्रेस को एक नई दिशा दी और उसे जनता का सगठन बनाया। उन्हाने समाज के सभी वर्गो के स्त्री-पुरुषो को एक सामान्य कार्यक्रम के लिए प्रेरित करने के लिए नए उपायो का सहारा लिया। उन्होने जनता को सत्य और धर्म के लिए त्याग करने का ललकारा। उन्होने सन १९२१, १९३० और १९३२ में सरकार के खिलाफ अहिंसात्मक असहयोग के जबर्दस्त आदोलन चलाये। ये तोडफोड या उपद्रव के नही, अत्याचार के नैतिक प्रतिरोध के रूप में चलाए गए और इनमें सरकार के आदेशो और कानूनो की शातिपूर्वक अवज्ञा की गई। यही सत्याग्रह का तत्त्व था। सरकार को अन्याय से विरत करने के लिए उन्हाने कई बार आमरण अनशन ठाने। इसमें कई बार उनको सफलता मिली और इनके द्वारा उन्होंने अपने देशवासियो मे गहरी भावना उत्पन्न की और विदेशो को भी प्रभावित किया।

गाधी स्थिति को देख कर उसी के अनुरूप उपाय निकालते थे। जब आदोलन

७ दक्षिण अफ्रीका के गोरे शासक भारतीयों से भेदभाव करते थे। उल्लेखनीय है कि सयुक्त राज्य अमरीका में निग्रो नेताओं ने भी अपने नागरिक अधिकार के लिए आदोलन म गाधाजी के सत्याग्रह के तरीके का प्रयोग किया। किंतु इसका प्रभाव अस्थायी रहा।

स्थगित हो गया तो उन्होंने रचनात्मक कार्यक्रम तैयार किया। इसमें अस्पृश्यता निवारण खादी, ग्रामोत्थान, आदिवासियों की सेवा, पिछड़े लोगों की भलाई, शिक्षा का प्रचार और कांग्रेस से संबद्ध स्त्रियों, युवकों, मजदूरों और दलित जाति संबंधी संगठनों में काम शामिल था। पहले समाज सुधार हो या राजनीतिक संगठन इस बहस को गांधी ने खतम कर दिया। उन्होंने कहा कि ये दोनों काम एक ही कार्यक्रम के अंग हैं। रचनात्मक कार्यक्रम कांग्रेस कार्यकर्त्ताओं को काम में लगाए रखने का बहुत अच्छा तरीका था, जो अन्यथा आंदोलन स्थगित हो जाने से बिखर जाते। इस प्रकार अगले आंदोलन के लिए कार्यकर्त्ताओं की फौज तैयार रही।

नए प्रतीक

गांधी ने भारत के राष्ट्रीय आंदोलन को बहुत गहरा और व्यापक रूप दिया और उसे नए शक्तिशाली प्रतीक दिये। जनता उन्हें महात्मा कहती थी। उन्होंने अपने महान व्यक्तित्व के जादू से जनता को एक ढांचे में ढाला। उन्होंने अपने जीवन को राष्ट्र के सामने आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया। उनके त्याग, सादगी और सत्य की साधना का देश पर गहरा प्रभाव पड़ा। दूसरे उन्होंने समाज की अत्यंत जटिल समस्याओं के लिए चमत्कारी सूत्र प्रस्तुत किए। उन्होंने अछूतों को 'हरिजन' नाम दिया और उनकी भलाई के काम को कांग्रेस कार्यक्रम का अंग बनाया। उन्होंने राष्ट्रीय एकता को बढ़ाने के लिए राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदुस्तानी (हिंदी और उर्दू का मेल) के प्रचार का देशव्यापी कार्यक्रम चलाया, उन्होंने स्त्रियों की स्थिति सुधारने का आंदोलन चलाया और स्त्रियों को पुरुषों के समान पद देने की जबरदस्त वकालत की, उन्होंने हिंदू मुस्लिम एकता को राष्ट्रीय एकता का साधन बनाया। गरीब जनता को जीविका देने के लिए उन्होंने चर्खे को प्रतीक बनाया और खादी को राष्ट्रीय पोशाक बनाया। नमक पर कर जैसी छोटी-सी बात को उन्होंने अंग्रेजी सरकार के विरोध का प्रतीक बनाया और हजारों आदमियों ने नमक कानून तोड़ कर विदेशी सत्ता को चुनौती दी। हर रोज अपनी शाम की प्रार्थना में वह देश की समस्याओं पर अपनी राय देते थे। इस प्रकार अपनी प्रार्थना सभा को उन्होंने सार्वजनिक महत्त्व की वस्तु बना दिया। अखबारों में उनकी प्रार्थना सभा की रिपोर्ट को, और सब खबरों से अधिक महत्त्व मिलता था। गांधी ने ब्रिटिश सरकार से अपनी लड़ाई को सत्य के प्रयोग का नाम दिया।

तीसरे, गांधी ने अहिंसा और सत्य जैसे धार्मिक शब्दों और प्रतीकों को संघर्ष का हथियार बनाया और उनके द्वारा कांग्रेस को जबरदस्त अनुशासनबद्ध संगठन और ठोस कार्यक्रम दिया। इस प्रकार वह विभिन्न विचारों, वर्गों और सम्प्रदायों के लोगों को कांग्रेस में ले आए। गांधी सभी वर्गों के लोगों को राष्ट्रीय आंदोलन में साथ रखने को बहुत महत्त्व देते थे और इस खातिर वह मतभेदों को सहन करते

थे। इसने कांग्रेस में अनेक तरह और विचारों के लोग भाए और उनमें बहुत लचीलापन और स्थिति के अनुसार अपने को ढाल लेने की क्षमता आई। अनेक देशों में स्वतंत्रता आंदोलन में जो मतभेद और फूट उत्पन्न हुई उससे भारत का राष्ट्रीय आंदोलन बचा रहा। यद्यपि हिंदू मुसलमानों में फूट को गांधी अपनी पूरी कोशिश के बावजूद न रोक सके।

प्राचीन परम्परा को नया रूप

गांधी ने सैंकड़ों वर्ष पुरानी धारणाओं को नया आधुनिक अर्थ दिया। वे गांव और शहर के लोगों को एक साथ ले आए। आत्मशान्ति, अहिंसा, असहयोग, पुराने आदर्शों और सामाजिक तथा व्यक्तिगत कर्तव्यों की पुरानी धारणाओं को उन्होंने आधुनिक स्थिति के अनुरूप नये अर्थों में राष्ट्रीय आंदोलन में प्रयोग किया। उन्होंने शहर के लोगों को प्रेरित किया कि वे गांवों में जाएं और ग्रामीण जनता की सेवा कर, सादगी, पवित्रता और गरीबी का जीवन बिताएं और देश की जनता के सामने ऊंचा आदर्श पेश करें। उन्होंने अपने व्यक्तिगत उदाहरण से बताया कि गरीब देश को ऊपर उठाने के लिए आत्मसंयम और अनुशासनपूर्वक सब की भलाई के लिए एक होकर काम करना चाहिए। अपनी जरूरतें कम से कम और अपना परिवार छोटा रखना चाहिए। उन्होंने धन को ट्रस्ट या धरोहर समझने, पैसा कमाने और धर्म से अपना धंधा करने के पुराने आदर्शों की दुहाई देकर व्यापारी और धनवान वर्ग को अपने रचनात्मक कार्य में सहयोग देने को प्रेरित किया। उन्होंने सामाजिक और राजनीतिक कार्य में नैतिकता और धर्म का समावेश किया और इस प्रकार पुराने विचारों के लोगों को अपने आंदोलन में आकृष्ट किया। शहरों और गांवों में, पुराने और नए विचारों में मेल मिला कर गांधी ने राष्ट्र निर्माण में बहुत महत्त्वपूर्ण योग दिया।

गांधी ने केवल पुराने विचारों को नया रूप ही नहीं दिया। पुरानी सड़ी गली रूढ़ियों पर भी उन्होंने निर्ममता से चोट की। एक ओर उन्होंने आत्म संयम और धन को परमार्थ में लगाने के पुराने आदर्शों का प्रचार किया, दूसरी ओर उन्होंने जात पात और ऊंच नीच के भेदभाव को अस्वीकार किया। शारीरिक श्रम को छोटा या नीचा और दिमागी काम को ऊंचा समझने का उन्होंने खंडन किया। वह नहीं मानते थे कि मनुष्य को सामाजिक या सांसारिक कर्तव्यों का परित्याग कर अपनी आत्मा के कल्याण में लग जाना चाहिए और गरीबी को पूर्व जन्म के कर्मों का परिणाम समझ कर बैठ जाना चाहिए। हिंदू विचारधारा की जो सबसे बड़ी कमी थी नागरिक कर्तव्य और सामूहिक सार्वजनिक भावना का अभाव, उसे उन्होंने दूर किया। यह आत्मसंयम और व्यक्तिगत नैतिकता को सार्वजनिक कार्य में प्रतिष्ठित करने से भी बड़ा काम था। सदाचार और धर्म का स्थान आ गया

हरण प्रस्तुत किया, उससे अधिक महत्त्व का काम, उन्होंने संस्था बनाने और संगठन के अनुशासन की शिक्षा देकर किया।

संस्था-निर्माण

गांधी ने देश भर में बड़े विशिष्ट कार्यकर्ताओं का दल तैयार किया और उनको कांग्रेस के विभिन्न कार्यों की जिम्मेदारी सौंपी। इन्हीं लोगों ने बाद में स्वतन्त्रता प्राप्त होने पर सरकार और कांग्रेस संगठन की बागडोर संभाली। उन्होंने कांग्रेस संस्था के विकास के लिए बड़ी बुद्धिमानी से कदम उठाए। उन्होंने कांग्रेस कार्यकारिणी समिति की स्थापना की और उसको बड़ी शक्तिशाली संस्था बनाया। इसे कांग्रेस हाईकमांड कहा जाने लगा और यह राष्ट्रीय आंदोलन की सूत्रधार मानी जाने लगी। इसने सामूहिक नेतृत्व की परंपरा डाली और कांग्रेस महासमिति से अधिक महत्त्व प्राप्त कर लिया। कांग्रेस महासमिति (आल इंडिया कमेटी) में तो अक्सर मतभेद दिखाई पड़ते थे, किंतु उसे अंत में कार्यसमिति की बात माननी पड़ती थी।

गांधी कांग्रेस कार्यसमिति को बहुत ऊंचा दर्जा देते थे (यद्यपि वह कभी उसके बाकायदा सदस्य नहीं रहे) और अपने सभी निर्णयों की पुष्टि उससे कराते थे। जब उन्होंने असहयोग आंदोलन को अचानक स्थगित कर दिया और उनके इस कार्य का चारों ओर से विरोध और आलोचना होने लगी तब इसकी और ऐसे ही अन्य निर्णयों की पुष्टि वह हाइकमांड से कराते थे। १९३९ में जब गांधीजी की इच्छा के विरुद्ध कांग्रेस महासमिति ने सुभाष बाबू को कांग्रेस का अध्यक्ष चुना, तब गांधीजी से प्रभावित कांग्रेस हाइकमांड ने सुभाष से सहयोग नहीं किया और उन्हें इस्तीफा देना पड़ा। इसे गांधी की तानाशाही कहा गया और उनकी कटु आलोचना हुई, मगर अंत में गांधी की ही चली। जैसा कि उन्होंने वर्षों पहले कहा था, कांग्रेस को मेरे स्थान पर दूसरा नेता चुनने का अधिकार है, किंतु जब तक वह मुझे नेता बनाती है, जो मैं कहूंगा वही होगा। वह नेतृत्व की एकता और अनुशासन पर बेहद जोर देते थे। मगर वह अपनी तानाशाही चलाने के बजाय हाइकमांड के जरिये काम करते थे। इससे जनता में हाइकमांड को बड़ी मान्यता और प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। उसकी बात कानून मानी जाती थी। इस प्रकार भारत के इतिहास में पहली बार ऐसी अधिकारी संस्था का निर्माण हुआ जो राष्ट्र की इच्छा का प्रतिनिधित्व करती थी और उसकी ओर से काम करती थी। भारतीय राष्ट्र को संस्थागत रूप देना, गांधी का एक महान कार्य था।

गांधी ने कांग्रेस संगठन का आधार व्यापक बनाने की कोशिश की। उन्होंने देश भर में जिला कांग्रेस कमेटियां स्थापित कीं और उनके जरिये जनसाधारण को कांग्रेस का सदस्य बनाया। जिला कांग्रेस कमेटियों को गांधी हमेशा जनता

का मुख्य सगठन मानते थे। इसके अलावा उन्होंने स्त्रियों, हरिजनो, आदिवासियों, मजदूरो आदि मे काम करने के लिए अलग संस्थाएं बनाइं। उन्होंने शुरू में ही ऐसी संस्थाओं की जरूरत का अनुभव किया, जिसमे कांग्रेस के कार्यकर्ता उस समय लगे रहे जब राजनीतिक आदोलन न चल रहा हो। उन्होंने जनता में अपने विचारों के प्रचार और देश की समस्याओं पर निरंतर चर्चा जारी रखने के महत्व को भी समझा। उन्होंने यंग इंडिया, नवजीवन, हरिजन आदि पत्र निकाले। इनके जरिये वह अपने अनुयाइयो का निरंतर पथप्रदर्शन करते रहते थे। इन तरीकों से गांधी राष्ट्रीय आदोलन को सुसगठित करना चाहते थे। स्वभाव से वह दलतंत्र या कठोर पार्टी सगठन के विरुद्ध थे, किंतु अपने इन तरीको से उन्होंने ऐसे जबदस्त सगठन का निर्माण किया, जिसकी शाखा–प्रशाखाएं देश भर मे फल गईं। स्वतंत्रता के बाद कांग्रेस ने जनता को सगठित करने के लिए और भी अनेक एजेंसियां स्थापित की, किंतु उसका साधारण ढांचा वही रहा, जिसे गांधी ने बनाया था। आज भी उसका यही बुनियादी ढांचा है और अन्य राजनीतिक पार्टियों ने भी इसी को अपनाया है।[८]

गांधी के नेतृत्व के कुप्रभाव

एक आदमी की इतनी अधिक प्रधानता से कुछ बुराइयां भी पैदा होती हैं। गांधी के एकछत्र नेतृत्व का यह नतीजा तो नही हुआ कि उनके बाद देश को नेताओं का अभाव रहा। स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भारत की एक बहुत बडी पूंजी थी, हर स्तर पर देश भर मे योग्य नेताओं की मौजूदगी। गांधी के नेतृत्व का बुरा असर अन्य दिशाओं में हुआ। एक तो यह था कि गांधीजी ने राजनीति में नैतिकता, सत्य, अहिंसा, आदि पर इतना जोर दिया कि वह असलियत से दूर हो गई। उन्होंने इतने ऊंचे आदर्श रखे कि वे व्यवहार में न आ सके। राजनीतिज्ञता का स्थान उपदेशबाजी ने ले लिया। गांधी को वास्तविकता की अच्छी पकड थी, फिर भी उन्होंने मनुष्य की कमजोरियों का कोई ध्यान नहीं रखा। लोकतंत्री राजनीति का गुर गांधी की पकड मे न आ सका और आज भी उनके बहुत से अनुयाइयों की यही कमजोरी है। नेहरू में यह कभी न थी, क्योंकि उनका मानसिक और बौद्धिक वातावरण भिन्न था और यह उनकी विशेषता थी कि इस विषय में वे गांधीजी के प्रभाव से बचे रहे।

गांधी जी के जीवनकाल में भी उनके अनुयाइयों के लिए अक्सर उनकी बात या नीति को समझना कठिन हो जाता था। वह तात्कालिक प्रश्नों का अक्सर सिद्धान्त की बातों से मिला देते थे। राजनीतिक प्रश्नों को नैतिक प्रश्नों से मिला

८ कांग्रेस सगठन के विकास के लिए देखें – गोपालकृष्ण 'द डेवलपमेंट आफ द इंडियन नेशनल कांग्रेस एज ए मास आर्गनाइजेशन', जर्नल आफ एशियन स्टडीज, मई १९६६, २५, न ३।

देने से दूसरी पार्टियां चक्कर में पड जाती थी। उनके अनुयाई और प्रतिपक्षी दल तथा अंग्रेजी सरकार नही समझ पाते थे कि वह क्या कर बैठेंगे। इसका नतीजा यह होता था कि अपने ही शब्दो में वह 'हिमालय जैसी गलतियां' कर बैठते थे और उनकी नीति अचानक पलटा खा जाती थी। इससे भी अधिक गंभीर त्रुटि यह थी कि उनकी रीति नीति से राष्ट्रीय आंदोलन में फूट पडनी न रुकी बल्कि और बढ गई। उन्होने राष्ट्रीय एकता के लिए महान प्रयत्न किया पर राजनैतिक समझौते के दावपेंच में वे चूक जाते थे। उदाहरण के लिए साप्रदायिक समस्या सुलझाने के लिए उन्होने भावनाओ से काम लेने पर भरोसा किया और खिलाफत आंदोलन तथा हिंदुस्तानी प्रचार जैसे उपायो का सहारा लिया। लेकिन लीग से समझौता करने और उनको मिला कर मजबूत मोर्चा बनाने की ओर ध्यान न दिया। बातचीत के समय अक्सर उनका रुख बडा कट्टर और अनम्य हो जाता था। उनकी बात दूसरे दल के नेताओं को पुराणपंथी लगती थी और उनके मन में कांग्रेस की असली मंशा के बारे में शक पैदा कर देती थी। मगर इस आलोचना का यह अर्थ नही कि गांधीजी की नीति बिलकुल गलत थी। बहुत सी समस्याएं तो अनिवार्य थी। कुछ समस्याएं राष्ट्रीय जागरण के फलने के कारण उठी। अनेक समस्याओ को सुलझाने में गांधीजी ने बडी सूझबूझ का परिचय दिया, खास कर राजनीतिक समाज के निर्माण में। उनकी महानता यह थी कि वे अपनी विफलताओं को स्वीकार कर लेते थे और मुख्य कार्य को जारी रखते थे।

अन्य राजनीतिक दल

सभी लोग गांधीजी की नीति को नही स्वीकार करते थे। जब गांधीजी लोगो को अहिंसात्मक प्रतिरोध के लिए तैयार करने पर जोर दे रहे थे, कुछ प्रमुख कांग्रेसजनों ने स्वराज्य पार्टी की स्थापना की। ये लोग कौंसिलो का चुनाव लड कर डोमीनियन स्टेटस (औपनिवेशिक स्वराज्य) के लिए राजनीतिक आंदोलन करना चाहते थे। १९२७ में मद्रास के कांग्रेस अधिवेशन में इन्होने एक प्रस्ताव पास किया जिसमे कहा गया कि कांग्रेस का ध्येय 'स्वतन्त्रता' है। स्वराज्य दल ने १९२८ में एक सब दली सम्मेलन आयोजित किया। इसने एक कमेटी नियुक्त की, जिसने भारत में पूर्ण प्रतिनिधि शासन और स्वतंत्र ब्रिटिश उपनिवेशों के पद की मांग की। जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचंद्र बोस के नेतृत्व में युवकों का एक दल पूर्ण स्वतन्त्रता के लिए उग्र कारवाई करने के पक्ष में था। १९२९ में लाहौर कांग्रेस में इस दल को सफलता मिली और गांधीजी ने स्वयं 'पूर्ण स्वतन्त्रता' का प्रस्ताव पेश किया। एक इससे भी ज्यादा उग्र वामपक्षी दल ने कांग्रेस समाजवादी दल का संगठन किया। इसी बीच कुछ प्रांतों में कांग्रेस से बाहर कुछ राजनीतिक दल कायम हुए। इनमें से कुछ अंग्रेजी सरकार से सहयोग

कर रहे थ । इनमे मद्रास की ' जस्टिस पार्टी ' थी, जो बाद की ' द्रविड कज़गम ' और ' द्रविड मुनेत्र कज़गम ' की पूववर्ती थी । दूसरी थी पजाब की ' यूनियनिस्ट पार्टी ' । इनके अलावा मुस्लिम नेता थे, जिनमे से अधिकतर गाधीजी और काग्रेस के खिलाफ थे । मुस्लिम नेताओ मे भी दो वग थे, एक था पुराना कट्टर वग जो समझता था कि हिंदू-मुसलमानो का फक बुनियादी है और इसलिए यह काग्रेस के विरुद्ध था। दूसरा वग जिन्ना जैसे प्रगतिशील मुसलमानो का था जो गाधी और उनके तौर-तरीके को दकियानूसी समझता था । इन दलो को मिलाने की गाधीजी ने बडी कोशिशें की लेकिन वे विफल रही ।

गाधीजी इस बात के विरुद्ध नहीं थे कि स्वराज्य हासिल करने के लिए और तरीके काम में लाए जाए। काग्रेस के द्वारा जनता को सगठित करने और असहयोग और सत्याग्रह आदोलन चलाने के साथ साथ वह वैधानिक सुधारो से उदासीन न थे और समय समय पर ब्रिटिश सरकार से समझौते की बातचीत भी करते थे । आदोलन के बीच बीच कुछ सुस्ताने के लिए वह अग्रेजी सरकार से सुलह भी कर लेते थे । गाधीजी अग्रेजी सरकार के कुछ कानूनो को तोडने आदोलन जरूर करते थे, लेकिन वह यह नही चाहते थे कि देश में अराजकता फैले, और जब कभी आदोलन उनके नियत्रण से बाहर जाता दीखता वह उसे रोक देते । कई बार अपने समयको के कड विरोध के बावजूद उन्होने अग्रेजी सरकार से समझौते किये ।

इस प्रकार सन १९२८ में चौरीचौरा में पुलिस और जनता में सघष के बाद उन्होंने असहयोग आदोलन को रोक दिया, यद्यपि जवाहरलाल और अन्य अनुयाइयो ने इसका घोर विरोध किया । इसी प्रकार १९३१ में जेल से छूटने के बाद उन्होने ब्रिटिश प्रधान मन्त्री के इस आश्वासन का स्वागत किया कि भारत को पूण उत्तरदायी शासन की ओर अग्रसर किया जाएगा । इस आश्वासन के आधार पर वाइसराय लाड इरविन से समझौता किया तथा काग्रेस के प्रतिनिधि के रूप मे लदन में दूसरी गोलमेज कानफ्रेस में भाग लिया । [९] मगर गाधीजी ने देखा कि अगरेजी सरकार साम्प्रदायिक समस्या को और उभाड रही है (इस विषय पर हम इस अध्याय में और विचार करेंगे) और वे खाली हाथ वहा से लौट आए । उनके लौटने के पहले ही अग्रेजी सरकार ने काग्रेस के सभी बडे नेताओ को और हजारो अन्य आदमियो को जेल में बद कर दिया था ।

धर्मनिरपेक्षता का प्रश्न

गाधीजी यह समझते थे कि अत में अग्रेजी सरकार से समझौता करना होगा,

९ पहली कानफ्रेंस १९३० में हुई थी जब गाधीजी और अन्य काग्रेस नेता नमक सत्याग्रह के सिलसिले में जेल में बद थे ।

किंतु बुनियादी बातों पर झुकने को वह तैयार न थे। उन्होंने हरिजनों को पृथक निर्वाचन का अधिकार देने के विरोध में आमरण अनशन छेड़ दिया और इसको बदलवा कर ही दम लिया।

अब गांधीजी और कांग्रेस के सामने सवाल था कि अगला कदम क्या हो। सन १९३५ के गवर्नमेंट आफ इंडिया ऐक्ट से वह संतुष्ट न थे, यद्यपि इसमें बहुत बड़ी संख्या को वोट का अधिकार दिया गया था और प्रांतों में उत्तरदायी सरकार तथा केंद्र में संघ की व्यवस्था की गई थी इसमें देशी रियासतें भी शामिल हो सकती थीं। परंतु इस ऐक्ट से राष्ट्रीय एकता और सांप्रदायिक मेलजोल में कोई मदद न मिलती थी। फिर भी कांग्रेस ने इस ऐक्ट के अंतर्गत सन १९३७ के चुनावों में भाग लेने का फैसला किया और आठ प्रांतों में उसके मंत्रिमंडल स्थापित हुए।

दो वर्ष तक शासन करने के बाद बिना भारतीय नेताओं की राय लिए ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत को १९३९ के विश्व युद्ध में घसीटने के निर्णय के विरोध में कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने पदत्याग कर दिया। नेहरू और अन्य फासिस्ट विरोधी लोग युद्ध के दौरान स्वतंत्रता आंदोलन रोक देने और जर्मनी के विरुद्ध ब्रिटेन और उसके मित्र राष्ट्रों की मदद देने के पक्ष में थे, लेकिन गांधीजी इसी शर्त पर मदद करने को तैयार थे कि भारत को तुरंत स्वतंत्रता दी जाये। ब्रिटिश सरकार ने गांधीजी और कांग्रेस के नेताओं को समझाने के लिए सर स्टैफर्ड क्रिप्स को भेजा और आश्वासन दिया कि युद्ध खतम होते ही भारत में संविधान सभा बुलाई जाएगी। लेकिन क्रिप्स को सफलता न मिली और कांग्रेस ने तुरंत पूर्ण स्वतंत्रता की मांग की। सन ४२ में कांग्रेस ने 'भारत छोड़ो' आंदोलन शुरू किया। कांग्रेस के सारे नेता और हजारों आदमी बंद कर दिए गए। गांधीजी ने जेल में फिर अनशन छेड़ा, जिसमें उनकी जान जाते जाते बची। सन १९४५ में इंग्लैंड में मजदूर दल की सरकार बनी और कांग्रेस नेता जेल से छोड़े गए। दुनिया की स्थिति एकदम बदल चुकी थी और अंग्रेज सरकार तथा कांग्रेस में फिर बातचीत चली, लेकिन कोई समझौता न हो सका। इस पर और चर्चा करने के पहले हमें देखना चाहिए कि स्वतंत्रता और राष्ट्रीय एकता के मार्ग में मुख्य बाधा क्या थी।

सांप्रदायिक समस्या और राष्ट्रीय एकता

राष्ट्रीय आंदोलन के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा थी 'सांप्रदायिक समस्या'। राष्ट्रीय आंदोलन की प्रगति और दुनिया की बदली स्थिति को देखते हुए अब इसमें कोई संदेह नहीं रह गया था कि भारत को स्वतंत्रता मिल कर रहेगी। प्रश्न केवल यह था कि सत्ता किसको दी जाये और भारत की सरकार का भावी रूप क्या हो। मुख्य समस्या मुसलमानों के लिए अलग राज्य की मांग की थी।

सांप्रदायिक समस्या की शुरुआत मुस्लिम युग से हुई। लेकिन पिछले कई सौ

वर्षो से हिंदू और मुसलमान साथ साथ रहते आए थे और उनमे काफी सामाजिक और सास्कृतिक आदान प्रदान और एकता पैदा हो गई थी। आज भी देश के बटवारे के बाद भी एकता के ये बधन टूटे नही। साथ साथ रहने से भाषा, साहित्य, इतिहास, सस्कृति और शिष्टाचार की उनमें एक सी परपरा बनी। धर्म या मजहब का अतर होते हुए भी, इस्लाम के 'सब मनुष्यो के भाईचारे' और हिंदू धर्म के 'सब रास्ते एक ही मजिल की ओर जाते हैं' सिद्धातो के कारण, यहा एक खास तरह की सहिष्णुता और मेलजोल पैदा हो गया था, जो भारत की अपनी विशेषता है।

ब्रिटिश शासन से जहा भारत को कई लाभ पहुँचे वहा एक नुकसान यह हुआ कि उससे साप्रदायिक द्वेष को उत्तेजना मिली। इसमे ब्रिटिश राज, काग्रेस और मुस्लिम राजनीतिक नेता सब का दोष है। यह भी एक विचित्र विडबना है कि प्रतिनिधि और सेकुलर या धर्मनिरपेक्ष शासन के जिस सिद्धात ने भारत में आधुनिकता का प्रचार किया उसी ने साप्रदायिक समस्या को भी उभाडा।

असमान विकास

शुरू में अंग्रेजो का रुख मुसलमानो के खिलाफ जान पडता था। चूकि उन्होने मुगलो से सत्ता छीनी थी इसलिए वे मुसलमानो को शक्ति या प्रभाव की जगहो से दूर रखते थे। खास कर उन इलाको में जहा अब भी उनका जोर था (इसी प्रकार का व्यवहार वे राजपूतो के साथ भी करते थे, जहा उन्होने अंग्रेजो से टक्कर ली थी)। दूसरे, अंग्रेजी शासन से हिंदुओ ने शुरू में ज्यादा फायदा उठाया। ब्राह्मणो और ऊची जाति के हिंदुओ ने अंग्रेजी शिक्षा लेकर सरकारी नौकरियो और ऊचे पदो में प्रवेश किया, जबकि मुसलमान अंग्रेजी शिक्षा से दूर रहे और नौकरियो आदि में पिछड गए। आर्थिक दृष्टि से भी पुरानी दस्तकारी और धधो की बरबादी से मुसलमान कारीगरो को ज्यादा नुकसान हुआ। जमीन के नए बदोबस्त से मुसलमान जमीनदारो का हानि हुई। उधर हिंदू महाजनो और व्यापारियो ने तरक्की की। मुसलमानो को अपना अल्पसख्यको का दर्जा भी खलता था, क्योकि उनको मुगलिया सल्तनत की याद आती थी जब सख्या में थोडे होने पर भी वे राज करते थे।

यह भी याद रखना चाहिए कि अंग्रेजो के राज्य में जो सुव्यवस्था कायम हुई उससे पुरानी सस्कृति, और सस्कृत विद्या तथा हिंदू धर्म में एक नया जागरण आया। हिंदू जो अब तक मुसलमानी हुकमत में दबे हुए थे, पुन सिर उठाने लगे। उनके इस जागरण मे अंग्रेजी शिक्षा और उससे प्राप्त होनेवाली सरकारी नौकरियो और वकालत, डाक्टरी आदि ने बडा योग दिया। इसका एक नतीजा यह हुआ कि शुरू में कई दशको तक राष्ट्रीय आदोलन का नेतृत्व हिंदुओ के हाथ में रहा जिनमें से अनेक प्राचीन हिंदू सस्कृति से प्रेरणा ग्रहण करते थे।

मुसलमानों में प्रतिक्रिया

दूसरी ओर अंग्रेजी शिक्षा और राष्ट्रीय जागृति का प्रभाव बहुत थोड़े से मुसलमानों पर पड़ा।[१०] ये शिक्षित मुसलमान अनुभव करते थे कि प्रशासन और राजनीति में हिंदुओं की प्रधानता से मुसलमानों को खतरा है। सर सैयद अहमद खां इन्हीं में से थे। उन्होंने मुसलमानों को हिंदुओं से और कांग्रेस से अलग रहने और अंग्रेजी पढ़ने तथा अंग्रेजी सरकार से सहयोग करने को कहा। सर सैयद ने १८७७ में अलीगढ़ में ऐंग्लो ओरियंटल कालेज कायम किया (बाद में अलीगढ़ मुस्लिम युनिवर्सिटी) और मुसलमानों का अंग्रेजों के पास लाने की कोशिश की। उन्होंने मुस्लिम एजुकेशनल कानफ्रेंस कायम की और हर साल उसका जलसा करने लगे।

मुसलमानों की अवनति रोकने का यह प्रयत्न १९वीं सदी के दूसरे भाग में हुआ परंतु इसने किसी राजनीतिक विचारधारा या कार्यक्रम को जन्म नहीं दिया। मुसलमानों में सत्ता से संघर्ष या विरोध की कोई जोरदार भावना न थी। सर सैयद आदि की कोशिशों से अंग्रेजों का मुसलमानों पर अविश्वास घटा और मुसलमान सरकारी नौकरियों में जाने लगे। अलीगढ़ आंदोलन से मुसलमानों में शिक्षा का प्रचार हुआ और लखनऊ, पटना, इलाहाबाद, अलीगढ़ और हैदराबाद जैसे पुराने संस्कृति-केंद्रों में नयी स्फूर्ति पैदा हुई और शिक्षित मुसलमान व हिंदू दोनों सांस्कृतिक गतिविधियों में साथ साथ भाग लेते थे। अपने अपने रीतिरिवाज और परंपरा से उनका लगाव था, लेकिन वे एक दूसरे का ख्याल रखते थे और उनमें कोई द्वेष भाव न था।

फूट के बीज

फिर भी मुसलमानों के मुकाबले हिंदुओं की ज्यादा प्रगति, राष्ट्रीय आंदोलन में हिंदुओं और हिंदू विचारों और प्रतीकों का प्रभाव और अंग्रेजों का सांप्रदायिक पक्षपात, इनमें सांप्रदायिक फूट के बीज वर्तमान थे। साधारणतः लोग इस बात को नहीं समझते कि आधुनिकता के विकास से खास कर शिक्षा और नगरीकरण के कारण अपनी अलग या विशिष्ट सत्ता या अस्मिता का बोध पैदा होता है, समाज में पद प्रतिष्ठा के पुराने पैमाने टूट जाते हैं, और सख्यावल तथा संगठित प्रयत्न आगे बढ़ने में सहायक होते हैं। जैसे उन्नति के नए अवसर खुलते हैं पुराने संघर्ष और विरोध पुनर्जीवित हो जाते हैं नए गठजोड़ और जोड़तोड़ का महत्व बढ़ जाता है। भारत में राजनीतिक जागृति के साथ एकता के साथ साथ फूट की प्रवृत्तियां भी

१० यह प्रभाव सब जगह एक सा नहीं पड़ा। जहां मुसलमानों की अधिक संख्या गांवों में रहती थी और खेती या मजदूरी करती था, जैसे बंगाल में वहां उनमें अंग्रेजी शिक्षा नहीं फैली। उत्तरप्रदेश और बंबई में जहां मुसलमान अधिकतर शहरों में रहते थे और उच्च वर्ग के थे वहां उनमें अंग्रेजी शिक्षा ज्यादा तेजी से फैली गो कि उतनी नहीं जितनी हिंदुओं में।

पैदा हुई और अत में दूसरी प्रवत्ति की ही जीत हुई । आइये, इन पर एक नजर डालें ।

प्रतिनिधित्व की पद्धति

भारत में साप्रदायिक भावनाओ को राजनीतिक रूप मिलने का एक कारण यहा प्रतिनिधि या निर्वाचित सस्थाओ की स्थापना थी । इसके साथ साथ प्रतिनिधित्व की ब्रिटिश धारणा भी इसके लिए जिम्मेदार थी । अग्रेज लोग प्रतिनिधित्व का अर्थ, अलग अलग समूहो, वर्गों, हितो, क्षेत्रो, सस्थाओ और सप्रदायो का प्रतिनिधित्व समझते हैं । उनके यहा प्रतिनिधि सस्थाओ के विकास के पहले एक राष्ट्र बन चुका था, इसलिए वह राष्ट्रीय एकता को स्वयसिद्ध मान कर चलते हैं । उन्होंने भारत के अनेक सप्रदायो और जातियो की समस्या को इनके स्वाभाविक अस्तित्वबोध और एक दूसरे से समझौते की समस्या समझा और उसका उपाय अलग वर्गों या समूहो को प्रतिनिधित्व देना समझा ।

इसलिए उन्होने भारत में साप्रदायिक और विशेष वर्गों के प्रतिनिधित्व की पद्धति शुरू की । शुरू में ही उन्होंने गवनर की कौंसिलो में म्युनिसिपलटियो और वाणिज्य सघो को प्रतिनिधित्व दिया । सन १९०९ में उन्होंने जमीदारो और मुसलमानो को प्रतिनिधित्व दिया। १९१९ के विधान से सामान्य निर्वाचन क्षेत्रो के ऊपर पथक साप्रदायिक और 'विशेष' निर्वाचन क्षेत्र बनाए गए । १९३३ में अछूतो के अलग निर्वाचन क्षेत्र बनाने का प्रस्ताव किया गया । इसके विरोध में गाधीजी ने अनशन किया, जिस पर इसमें सशोधन किया गया । इसके बाद १९३५ के विधान में और बाद में भारत की स्वतत्रता विषयक बातचीत मे भी अग्रेज साप्रदायिक प्रतिनिधित्व और अल्पसख्यको को 'वेटेज' अर्थात उनकी सख्या से अधिक स्थान देने पर ही जोर देते रहे । काग्रेस साप्रदायिक प्रतिनिधित्व के विरुद्ध थी, किंतु अत में इसे मानना पडा ।

यह जरूरी नही था कि मुसलमानो मे राजनीतिक जागति का परिणाम देश का बटवारा ही होता । साप्रदायिक प्रतिनिधित्व का अर्थ यह था कि बहुसख्य वर्ग अल्पसख्यको को राष्ट्रीय ढाचे में उचित स्थान दे । दोनो ओर से इसका रास्ता निकालने की लगातार कोशिशें भी हुइ । सन १९०६ में मुस्लिम लीग की स्थापना 'मुसलमानो में अग्रेजी सरकार के प्रति वफादारी' पैदा करने के उद्देश्य से हुई ।[११] किंतु जल्दी ही लीग मे एक वर्ग ऐसा भी उठ खडा हुआ जो अग्रेजो की इस चापलूसी के खिलाफ था और राष्ट्रीय आदोलन म भाग लेने के पक्ष मे था । मुहम्मद अली जिन्ना और मौ मुहमद अली और शौकतअली जसे प्रगतिशील नेताओ के प्रभाव से लीग ने सन १९१३ में यह प्रस्ताव पास किया कि हमारा मकसद,

११ लीग की स्थापना के समय आगा खाँ और अन्य मुसल्मान नेताओं की अर्जी से उद्धृत ।

'अंग्रेजी राज के अंतर्गत स्वशासन प्राप्त करना, राष्ट्रीय एकता को बढ़ाना और इस मकसद के लिए दूसरे सम्प्रदायों से सहयोग करना है।' कांग्रेस ने उसी वर्ष दिसंबर के अधिवेशन में इसका स्वागत किया। दोनों संगठनों में मेल बढ़ा और १९१६ में दोनों के बीच प्रसिद्ध 'लखनऊ पैक्ट' हुआ। लीग के राष्ट्रीय रुख के बदले कांग्रेस ने पृथक साम्प्रदायिक निर्वाचन, अल्पसंख्यकों को अधिक स्थान और ऐसे कानूनों को रोकने का अधिकार देना स्वीकार किया, जो उनके हितों के विरुद्ध हों।

कांग्रेस और भी आगे गई। उसने खिलाफत (तुर्की के सुलतान से राज्य और उनके मुसलमानों के खलीफा पद की रक्षा) आंदोलन का समर्थन किया। गांधी ने इस अवसर का उपयोग हिंदू मुसलमानों को एक झंडे के नीचे लाने में किया। नतीजा यह हुआ कि जब १९२१-२२ में गांधीजी ने अंग्रेजी सत्ता के विरुद्ध पहला जन आंदोलन या असहयोग शुरू किया तो मुसलमानों ने उसका पूरा साथ दिया। मौ आजाद, अली बंधु, डाक्टर अन्सारी और दूसरे प्रमुख मुसलमान नेता आंदोलन में शामिल हुए। जिन्ना गांधी को पुराणपंथी समझते थे और वह इस आंदोलन में नहीं शामिल हुए। लेकिन वे राष्ट्रीयता के समर्थक रहे और मुस्लिम लीग को आधुनिक राष्ट्रीय या सेकुलर लाइन पर चलाने की कोशिश करते रहे।

विरोध बढ़ा

मगर स्थिति ऐसी पैदा हुई कि कांग्रेस और लीग की एकता कायम न रह सकी और लीग को प्रगतिशील ढंग से चलाने की जिन्ना की चेष्टा भी विफल हुई। जब असहयोग आंदोलन पूरी तेजी पर था और जनता में गहरी उत्तेजना थी, भीड़ द्वारा चौरीचौरा में पुलिस थाने में आग लगा दिए जाने से क्षुब्ध होकर गांधीजी ने आंदोलन को रोक दिया। उनके इस निर्णय से लोग क्षुब्ध हुए। इसके बाद गांधीजी कैद कर लिए गए। असहयोग के साथ ही खिलाफत आंदोलन और हिंदू मुसलमानों का सहयोग भी खतम हो गया। लिबरल और नरम दल कांग्रेस से पहले ही अलग हो चुके थे और उसका नया संगठन अभी दृढ़ न हो पाया था। एक ओर राजनीतिक शून्यता थी, दूसरी ओर कई स्थानों पर हिंदू-मुसलमानों में दंगे हो गए। इससे स्थिति और खराब हो गई। १९२७ में जब साइमन कमीशन वैधानिक सुधारों के बारे में सुझाव देने के लिए भारत की स्थिति की जांच करने भारत आया, तब मुस्लिम लीग दो दलों में बंट गयी थी। एक दल के नेता जिन्ना थे, जो हिंदू-मुसलमानों के संयुक्त निर्वाचन के पक्ष में थे और साइमन कमीशन के बायकाट में कांग्रेस के साथ थे। दूसरा दल सर मुहम्मद शफी का था जो पृथक निर्वाचन के पक्ष में था और साइमन कमीशन के काम में सहयोग देना चाहता था। सन १९२८ में स्वराज्य पार्टी वालों ने एक सर्वदल सम्मेलन बुलाया। जिन्ना का गुट इसमें शामिल हुआ

और भारत का विधान बनाने के लिए इसने जो कमेटी बनाई, उसके काम में हाथ बटाया। शफी गुट ने इस कमेटी की रिपोर्ट को नामंजूर कर दिया। आगा खां की अध्यक्षता में दिल्ली में मुसलमानों का सर्वदल सम्मेलन हुआ, उसने भी इस रिपोर्ट को अस्वीकार किया। इस तरह जिन्ना अकेले पड़ गए और हताश होकर भारत छोड़ कर इंगलैंड चले गये।

साम्प्रदायिक समस्या का कोई समाधान नहीं दीखता था। अब यह दो दलों के समझौते का प्रश्न न रह कर राजनीतिक एकता का प्रश्न बन गया था। इस समस्या को उलझाने में अंग्रेज सरकार का भी हाथ था। अंग्रेज साम्प्रदायिक समस्या की असलियत का अनुभव करते थे, साथ ही अपनी सत्ता की रक्षा के लिए साम्प्रदायिक विरोध को उभाड़ना भी चाहते थे। उनके हाथ में अधिकार था इसलिए वह अल्प-संख्यकों को प्रलोभन देकर अपनी ओर खींच सकते थे। खिलाफत आंदोलन के एकाएक खतम हो जाने से मुसलमान भी कांग्रेस से निराश हो रहे थे। गांधीजी का सत्य और अहिंसा पर अत्यधिक आग्रह था, जो बहुत अंशों में हिंदू धर्म के आदर्शों से प्रेरित था और उन्हें महात्मा या धार्मिक नेता का पद दिला चुका था। इससे बुद्धिवादी मुस्लिम नेता उनके खिलाफ हो गए। यह एक विडंबना थी कि पुराने ख्याल के मुस्लिम नेता कट्टर मजहबी दृष्टि के थे और सेकुलर या धर्मनिर-पेक्ष राजनीति के विरुद्ध थे और जिन्ना जैसे प्रगतिशील मुसलमान गांधीजी के राज-नीतिक तरीकों और सामाजिक आदर्शों के विरुद्ध थे। इस प्रकार अंग्रेजों की चाल-बाजी, मुस्लिम कट्टरवादियों के दुराग्रह और कोई नया रास्ता निकालने में कांग्रेस की असमर्थता के कारण पूरी जिच पैदा हो गई। अंत में हताश होकर भारत छोड़ने वाले जिन्ना ने ही नयी चाल चली।

साम्प्रदायिक निर्णय

१९३२ में साम्प्रदायिक राजनीति ने पलटा खाया। जिन्ना भारत लौटे। उनके विचार बदल चुके थे। जिस साम्प्रदायिक विचारधारा का वह अबतक विरोध कर रहे थे उसे अब वह पूरी तरह अपना चुके थे। उन्होंने मुस्लिम लीग के सामने अपना १४ सूत्री कार्यक्रम पेश किया। इसमें मुसलमानों के अलग निर्वाचन, अधिक स्थान और अपने हितों के प्रतिकूल कानूनों को रोकने के अलावा नई बात यह थी कि कुछ प्रांतों को हमेशा के लिए मुस्लिम बहुमत क्षेत्र घोषित किया जाये। पहली और दूसरी गोलमेज कान्फ्रेंस में मुस्लिम मांगों का आधार यही १४ सूत्री कार्यक्रम था। इसके बाद ब्रिटिश सरकार ने अपने साम्प्रदायिक निर्णय (कम्यूनल अवार्ड) की घोषणा की। इसमें मुसलमानों की सब मांगें मान ली गयी थीं।

जिन्ना के नये रूप ने भारत की साम्प्रदायिक राजनीति को भी एक नया रूप दिया। अभी तक लीग का जनता में कोई संगठन न था। १९३७ के चुनावों में

उसे बगाल और यू पी में कुछ स्थान मिले थे लेकिन वास्तव में वह बुरी तरह हारी थी। उसे चार मुस्लिम बहुमत प्रात, बगाल, पजाब, सिंध और उत्तर पश्चिम सीमा प्रात, में से एक मे भी बहुमत न मिल सका था। दूसरी ओर काग्रेस ने मुस्लिम जन सपर्क आदोलन शुरू किया था और मुसलमानो में पजाब मे युनियनिस्ट पार्टी और सरहद मे खा अब्दुल गफ्फारखा और उनके भाई खान साहब के खुदाई खिदमतगार सगठन का ज्यादा जोर था। ऐसा लगता था कि काग्रेस और पजाब, सरहद और बगाल की मुस्लिम पार्टियो के मुकाबले मुस्लिम लीग टिक न सकेगी। जिन्ना को यह श्रेय है कि उन्होने लीग को इस दयनीय स्थिति म उबारा और ताकतवर बनाया और १६४५-४६ के चुनावो म जबदस्त सफलता दिलाई। इन चुनावो में लीग को ४९६ मुस्लिम सीटो में से ४४६ सीटें प्राप्त हुइ।

पृथक निर्वाचन से पृथक राज्य

चुनावो में विफलता होने के बाद मुस्लिम लीग का दिमाग दूसरी दिशा म दौडने लगा। पथक निर्वाचन स अब वह पृथक राज्य की माग पर आ गई। इस मौके पर काग्रस की राजनीति भी चूक गई। १६३७ में काग्रेस सरकारो की स्थापना के समय, उसमें मुस्लिम लीग के प्रतिनिधियो को शामिल करने की बात चली। जिन्ना भी इसके पक्ष में थे। किंतु जिन्ना के शब्दो में 'अधिकार के मद में' काग्रेस ने इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया। काग्रेस ने यह शत लगायी कि लीग के सदस्यो को काग्रेस की 'ह्विप' को मानना होगा। इससे जिन्ना और उनका दल काग्रेस से बहुत नाराज हो गया। यह सही है कि चुनावो के नतीजे से लीग के इस दावे का समथन नही होता था कि वह मुसलमानो की एकमात्र प्रतिनिधि है, किंतु इस दावे को काग्रेस ने १६१६ में स्वीकार किया था और तभी से ऐसा माना जाता था। इस दावे को अब न मानने का अथ यह होता था कि मुसलमानो को अपना राजनीतिक सगठन करने का हक नही है।[१२]

लीग के नेताओ ने अब अपनी नीति एकदम बदल दी और मुसलमानो के लिए सरक्षण या विशेषाधिकार के बजाय मुसलमानो के अलग राज्य की माग पेश की। इस माग ने हिंदू मुस्लिम सबध के सदभ को ही एकदम बदल दिया। इसमें कोई सदेह नही कि प्रातीय सरकारो में हिस्सा न मिलने के कारण मुस्लिम लीग का रुख उग्र और लडाकू बन गया। इसी समय से जिन्ना दो राष्ट्रो के सिद्धान्त और देश के बटवारे के कट्टर समथक बन गये। जिन्ना की तीक्ष्ण और मजी हुई बुद्धि के नेतृत्व में लीग का सारा ध्यान एक ही बात में केंद्रित हो गया और पिछले बीस वर्षों के असमजस से निकल कर उसने नयी ताकत पकडी।

१२ इस विषय के लिए देखें, मौ अबुल कलाम आजाद, 'इन्डिया विन्स फ्रीडम' (कलकत्ता, १९५९)

पाकिस्तान की माग

पाकिस्तान की बात सबसे पहले डा मुहम्मद इकबाल ने इलाहाबाद म मुस्लिम लीग के सालाना अधिवेशन मे सन १९३० मे छेडी थी। उन्होंने पजाब, उत्तर-पश्चिम सीमाप्रात, सिंध और बलूचिस्तान को मिला कर अलग मुस्लिम राज्य कायम करने का प्रतिपादन किया था। मगर बहुत दिना तक पाकिस्तान का यह विचार धुधला विचार मात्र रहा। अब चुनावो म काग्रेस की सफलता और अपनी विफलता के कारण लीग को एक नये प्रोग्राम की जरूरत थी और उसने पाकिस्तान के विचार को आदोलन का रूप दिया। इस बीच आधुनिकता की प्रक्रिया ने मुसलमानो को भी प्रभावित किया। शिक्षा के प्रसार, शहरियत के विकास और अखबारो व साहित्य की प्रगति ने मुसलमानो मे आत्म गौरव और अपनी विशिष्टता का भाव फलाया। लोकतत्री राजनीति से निराशा के कारण उनमे पथक्ता का भाव बढा। १९४० मे लीग ने मुसलमानो के अलग स्वतत्र राज्य का प्रस्ताव पास किया और जिन्ना ने साफ कहा कि हिंदू और मुसलमान कभी एक राष्ट्र के अग नही हो सकते। उन्होने कहा कि न केवल हिंदू और मुसलमानो का अलग धम और सप्रदाय है बल्कि उनकी सभ्यता, उनका इतिहास, उनका समाज और उनका राष्ट्र अलग अलग है। उन्होने कहा, मुसलमाना की अपनी मातभमि, अपना इलाका और अपना राज्य अलग होना चाहिये। यही उनका दो राष्ट्रो का सिद्धान्त था जिसके आधार पर देश के विभाजन की माग उठी और विभाजन हुआ।

यह नही कहा जा सकता कि १९३७ और १९४० के बीच लीग की नीति में जो परिवतन हुआ उसी ने आगे आने वाली घटनाओ का क्रम निर्धारित किया, क्योकि अभी भी देश की सबसे बडी और ताकतवर सस्था काग्रेस थी और विभिन्न वर्गों में उसी का सबसे अधिक प्रभाव था। लेकिन लीग ने ऐसे मौके पर अपनी नयी नीति और आदोलन चालू किया जब घटनाए बडी तेजी से घट रही थी और काग्रेस मुसलमानो के इस नये आदोलन का कोई प्रतिकार न कर सकी। सन १९३९ म द्वितीय विश्व युद्ध छिड गया और काग्रेस मत्रिमडलो ने पदत्याग कर दिया। इसके बाद काग्रेस की अग्रेजी सरकार से टक्कर हुई, सर स्टेफोर्ड क्रिप्स का समझौते का प्रयत्न विफल रहा, भारत छोडो आदोलन चला और काग्रेस के सारे नेता युद्ध की समाप्ति तक जेलो मे बद कर दिये गये।

इसस भारत मे राजनीतिक शक्तियो का सतुलन बदल गया। देश भर में काग्रेस का सगठन अस्तव्यस्त हो गया। काग्रेस के नेताओ के जेल में बद हो जाने से मुस्लिम लीग का मैदान खाली मिल गया। इस अवधि मे उसने अपना सगठन और बल काफी बढा लिया। जब लडाई के बाद अग्रेजो से राजनीतिक बातचीत शुरू हुई तब लीग का स्थिति और सौदा करने की शक्ति काफी मजबूत हो चुकी थी।

बहुत से लोगा का ख्याल है कि १९३९ मे पदत्याग करके काग्रेस ने गलती की।

वी पी मेनन ने अपनी किताब 'ट्रांसफर आफ पावर इन इंडिया' (भारत में सत्ता परिवर्तन) में लिखा है कि यदि प्रांतों में कांग्रेस मन्त्रिमंडल इस्तीफा न देते तो भारत के इतिहास का क्रम कुछ दूसरा ही होता। पदत्याग करके कांग्रेस ने दूरदर्शिता और राजनीतिक बुद्धि के शोचनीय अभाव का प्रदर्शन किया।[12] यदि कांग्रेस के लोग जेल में होने के बजाय सरकार में और निर्वाचन क्षेत्रों में रहते तो अगले चुनावों के समय, उनको लाभ होता, खास कर बंगाल और पंजाब में जिनकी विधान सभाओं में बंटवारे की योजना का फैसला हुआ। यह बात कुछ हद तक सही है, लेकिन जिन बातों ने घटनाओं का क्रम निर्धारित किया, वे कुछ और थीं।

ब्रिटिश नीति

असली बात दो थीं — कांग्रेस के प्रति अंग्रेजों का रुख और भारतीय राष्ट्र के भविष्य की कांग्रेस की अपनी कल्पना। युद्ध के बाद भारत की स्वतन्त्रता के बारे में जो बातचीत शुरू हुई उससे यह स्पष्ट हो गया। सन १९४५ में लार्ड वेवल ने शिमला में देश के प्रमुख राजनीतिक दलों का सम्मेलन बुलाया। इसमें कांग्रेस और मुस्लिम लीग में पूरा मतभेद दीखा और कोई नतीजा न निकला। जनवरी १९४६ में ब्रिटिश पार्लमेंट का प्रतिनिधि मंडल आया। मार्च में ब्रिटिश मन्त्रिमंडल का मिशन आया। लीग और कांग्रेस में समझौता न हो सकने पर कैबिनेट मिशन ने अपनी योजना प्रस्तुत की। इसमें देश के बंटवारे की बात नहीं मानी गयी और यूनियन आफ इंडिया नाम से एक ढीले संघ की व्यवस्था की गई। इसको रक्षा, परराष्ट्र संबंध और संचार के विषय सौंपे गए। शेष सारे विषय और अधिकार प्रांतों के हाथ में रहे। प्रांतों को यह भी अधिकार दिया गया कि दस वर्ष बाद विधान सभा के साधारण बहुमत से वह इस व्यवस्था में परिवर्तन की मांग कर सकता था। प्रांतों को समूह बनाने का अधिकार दिया गया। इन समूहों की विधान सभा और कार्यकारिणी अर्थात सरकार हो सकती थी। हर प्रांत के हर सम्प्रदाय के प्रतिनिधियों की संविधान सभा की व्यवस्था की गई, जिसके प्रांतों के तीन समूहों के अनुसार तीन खंड होंगे और यह देश का संविधान बनाएगी। यह योजना बहुत कुछ सन १९३५ की संघ व्यवस्था से मिलती थी। इसमें त्रुटि यह थी कि केंद्रीय संघ बहुत कमजोर था और इससे किसी भी समय यह व्यवस्था ठप हो सकती थी। स्पष्ट था कि प्रस्तावित संविधान सभा जो व्यवस्था करती वह बहुत कमजोर संघ या अर्ध-संघ (कानफेडरेशन) होता। अंग्रेजों की यह योजना कांग्रेस के विचारों के बिलकुल विपरीत थी। स्पष्ट था कि वास्तविक समस्या का सामना करने के बजाय ब्रिटिश मंत्रियों ने उसे संविधान सभा के मत्थे टाल दिया। इसमें भय यह था संविधान सभा संघर्ष का अखाड़ा बन जाती और उसके भंग होने की नौबत आ जाती। यद्यपि

१२ वी पी मेनन, 'द ट्रांसफर आफ पावर इन इंडिया (कलकत्ता-१९५७)

कांग्रेस ने इस योजना को सिद्धांत रूप में स्वीकार कर लिया पर इसका कोई अर्थ नहीं था। क्योंकि कांग्रेस के सामने देश के बटवारे या कमजोर और पंगु राष्ट्र का प्रश्न आता तो वह बटवारे को ही पसंद करती जैसा उसने अंत में किया भी। लीग ने इस योजना को पहले स्वीकार करके बाद में अस्वीकार कर दिया और १९४६ में निर्वाचित संविधान सभा का बहिष्कार किया (यद्यपि वह जवाहरलाल नेहरू की अंतरिम सरकार में शामिल हुई)। यह भी अच्छा हुआ। इससे देश उस वैधानिक गतिरोध, अराजकता और सेना के बल पर सरकार पर कब्जा करने के खतरे से बच गया, जो इस स्थिति में दूसरे कई देशों में हुआ।

अंतिम दौर बड़े तनाव का रहा। ब्रिटिश प्रधान मंत्री एटली ने पार्लमेंट में फरवरी २०, १९४७ को घोषित किया कि वे ज्यादा से ज्यादा जून १९४८ को भारतीयों के हाथ में सत्ता सौंप देंगे। उसने यह भी घोषित किया कि लार्ड लुई मौंटबेटन वाइसराय बना कर भारत भेजे जा रहे हैं और उनको इस घोषणा को कार्यान्वित करने का अधिकार सौंपा गया है। इस प्रकार जिम्मेदारी भारतीय नेताओं पर आ गयी। दूसरी ओर इस घोषणा से लीग का हौसला बढ़ गया क्योंकि इसका अर्थ साफ था कि यदि भारतीयों में समझौता न हो सका तो अंग्रेज उसके विभाजन के लिए तैयार हैं। इससे लीग की अलग राज्य की मांग ने और भी जोर पकड़ा। लार्ड वेवल अंग्रेजों के हटने की कोई तारीख तै करने के विरुद्ध थे। वर्षों बाद में मौ० आजाद ने लिखा 'शायद इतिहास यह सिद्ध करेगा कि लार्ड वेवल की बात ज्यादा समझदारी की थी।'[१४]

एटली की जल्दी निपटारा करने की इच्छा को लार्ड मौंटबेटन की जबरदस्त कर्मठता और दृढ़ निश्चय का बल मिला। उन्होंने कांग्रेस और लीग दोनों पार्टियों को कोई निर्णय पर पहुँचने को बाध्य किया। मौंटबेटन में दूसरों को प्रभावित करने की अपूर्व क्षमता थी। उन्होंने प्रत्येक कठिनाई को सर किया और देश के बटवारे की शल्यक्रिया को बिना समय खोए या आंसू गिराए पूरा किया। उन्होंने महात्मा गांधी को एक तरफ कर दिया और वह ऐसे राजनीतिक तत्त्वों को सामने ले आए जो वास्तविक स्थिति को देख कर आधुनिक इतिहास का सबसे बड़ा बटवारा करने को तैयार हो गए।

रक्तपात

एटली सरकार का निश्चय और मौंटबेटन का निर्मम संकल्प भी शायद कांग्रेस नेताओं को देश के बटवारे के लिए तैयार न कर पाता, यदि घटनाओं ने भयानक रुख न पकड़ा होता। पहले बंगाल में, फिर पंजाब में और बाद को देश के अन्य भागों में अभूतपूर्व सांप्रदायिक दंगे, सामूहिक हत्याकांड और अराजकता ने कांग्रेस

१४ मौ आजाद-पूर्वोक्त।

नेताओं को देश का विभाजन स्वीकार करने को विवश कर दिया। इस प्रकार दो राष्ट्रों के सिद्धांत की जीत हुई। गांधीजी ने विभाजन का जोरों से विरोध किया मगर उनकी न चली। उनके सबसे बड़े अनुयाई नेहरू ने दुखी दिल से और पटेल ने दृढ संकल्पपूर्वक गांधीजी की बात न मानी।[15] महात्मा गांधी ने सांप्रदायिक दंगों की आग को शांत करने लिए प्राणों की बाजी लगा दी। उन्होंने पूर्व बंगाल के दंगाग्रस्त नोआखाली इलाके में पदयात्रा करके हिंदू-मुसलमानों को शांति का संदेश दिया, दिल्ली में मुसलमानों की रक्षा के लिए पटेल और नेहरू की सरकार के विरुद्ध अनशन किया और मुसलमानों का पक्ष लेने के कारण अंत में एक क्षुब्ध हिंदू आततायी की गोली के शिकार हुए। उनके बलिदान ने देश को झिंझोड़ कर रख दिया और सारे देश में सांप्रदायिक दंगा को एकदम से शांत कर दिया।[16]

एक ओर अंग्रेज भारत से जल्दी हटने पर तुले हुए थे, दूसरी ओर वह कांग्रेस-नियंत्रित केन्द्र को सत्ता सौंपने के अनिच्छुक थे। किंतु भयानक दंगों ने देश के बटवारे को अनिवार्य बना दिया। कमजोर और ढीला ढाला संघ देश में और अराजकता पैदा करता। मुसलमानों का कड़ाई से दमन करने का नतीजा भी अंत में अच्छा न होता। दोनों में से किसी भी हालत में राष्ट्र-निर्माण का वह काम संभव न होता जो भारत में सन १९४७ से हो रहा है।[17] तथ्य यह है कि घटनाओं ने, जो कुछ हुआ उसके अलावा और कोई रास्ता छोड़ा नहीं।

बटवारे में देर न लगी। भारत और पाकिस्तान की सीमा का निश्चय करने के लिए विधान सभाओं में बांट लिए गए और विवादग्रस्त क्षेत्रों में जनमत लिया गया। दोनों राज्यों में सेना, सरकारी सेवाओं, संपत्ति तथा देने पावने का बटवारा हुआ। यह सब काम बड़ी शीघ्रता से हुआ। ब्रिटिश पार्लामेंट में भारत स्वतंत्रता बिल ४ जुलाई १९४७ को पेश हुआ और १२ दिनों के अंदर पास कर दिया गया। १४ अगस्त १९४७ को इंडिया (प्राविजनल कांस्टिट्यूशन) आर्डर १९४७, पास हुआ और दूसरे दिन भारत और पाकिस्तान दो नए उपनिवेशों की स्थापना हुई और उनको सत्ता सौंप दी गई। अंग्रेजों ने अपना साम्राज्य अनायास कायम किया

१५ इस फैसले पर भी आजाद के क्षोभ के लिए उनकी पूर्वोक्त पुस्तक को देखें।

१६ महात्मा गांधी के जीवन के अंतिम ६ महीनों में उनके व्यक्तित्व का चमत्कार दिखाई पड़ा। जिस निर्भयता से उन्होंने ब्रिटिश सरकार की शक्ति को चुनौती देने के लिए डांडी कूच किया था उसी निर्भयता से सांप्रदायिक दंगों को शांत करने के लिए नोआखाली, कलकत्ता और बिहार में वह रक्तपात के बीच कूद पड़े। आइनस्टाइन के शब्दों में आगे आने वाली पीढ़ियों के लिए यह विश्वास करना कठिन होगा कि वास्तव में ऐसा आदमी कभी धरती पर था।

१७ बटवारे के इस पहलू के बारे में, जिससे मजबूत केन्द्र की स्थापना और राज्य मशीनरी तथा राष्ट्र के निर्माण में सहायता मिली, आठवें अध्याय में 'अनेकता की मांग' शीर्षक से विचार किया गया है।

था और वडी जल्दबाजी में उसे खतम कर दिया, मानो उन्हे शका थी कि कही भारतीय लाग उनसे यह न कह कि आप न जाइए।

दो राष्ट्र

भारत की समस्या के समाधान के बारे में अत मे जो बातचीत और फैसले हुए वे सब अभी प्रकाश में नही आए हैं। मगर मुख्य बातें स्पष्ट है। देश के बटवारे से हवा तो साफ हुई, मगर इसके परिणामस्वरूप बडी साप्रदायिक कटुता और अनेक राजनीतिक समस्याए बनी रही। दोनो देशा की और उनकी हिंदू मुस्लिम जनसख्या को अभी बहुत दिनो तक इन समस्याओ का सामना करना होगा। दूसरी ओर जिस प्रकार ब्रिटिश मजदूर दल की सरकार ने ब्रिटिश साम्राज्य का खातमा किया उससे भारत में उसके प्रति बडा सदभाव पैदा हुआ और उसने ब्रिटिश कामनवल्थ मे बने रहने का फैसला किया। बाद में भारत ने गणतत्र का रूप धारण करने पर भी ब्रिटिश महारानी को कामनवेल्थ के प्रधान रूप में स्वीकार किया। इस पर ब्रिटिश कामनवेल्थ से ब्रिटिश विशेषण हटाकर उसे 'कामनवेल्थ आफ नेशन्स' या राष्ट्रमडल का नाम दिया। इस परिवतन का श्रेय जवाहरलाल नेहरू को है।

इस प्रकार भारत का बटवारा हुआ और भारत तथा पाकिस्तान के दो राज्य कायम हुए। भारत में काग्रेस के हाथ में सत्ता आई और ब्रिटिश राज का उत्तराधिकारी काग्रेस राज हुआ।

आधुनिकता की ओर

वनमान भारत की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर विचार करने से हमें यह समझने में मदद मिलेगी कि उसका राजनीतिक विकास किन परिस्थितियों में हुआ। वतमान राजनीतिक व्यवस्था के मुख्य पहलुओं पर विचार करने के पहले यह समझना चाहिए कि इस पृष्ठभूमि का भारत के वतमान और भविष्य की कल्पना के लिए क्या महत्त्व है। जैसा पहले कहा जा चुका है भारत ने अपने विकास का ऐसा ढग चुना है जिसमें अनेक स्रोतों से प्रेरणा ग्रहण की गई है और जिसमें अनेक लक्ष्यों को एक साथ सिद्ध करने की कोशिश की गई है। इसमें परपरा और आधुनिकता के सामजस्य की भी कोशिश की गई है। *हमें देखना है कि ऐतिहासिक पृष्ठभूमि* ने विकास की इस पद्धति को किस प्रकार प्रभावित किया है।

पृष्ठभूमि का महत्त्व

इस पृष्ठभूमि का मुख्य तत्त्व है, भारत के राष्ट्रीय आदोलन की लबी अवधि और गहराई। इस बात में भारत एशिया और अफ्रीका के सभी नव स्वतत्र देशों से अलग है। इडियन नेशनल काग्रेस की स्थापना सन १८८५ में हुई थी, और यह उन्नीसवी शताब्दी म होने वाले बौद्धिक जागरण और सामाजिक सुधार की प्रवृत्ति का परिणाम है। परोक्ष रूप से यह अग्रेजी शासन, शिक्षा, कानून और सचार की प्रणाली का भी परिणाम था।

काग्रेस की स्थापना के ६० वष बाद भी भारत की स्वतत्रता का आदोलन जारी रहा। इस आदोलन ने देश को बहुत बडे बडे नेता दिए और भारतीयों को सामाजिक और आर्थिक सुधार तथा राजनीतिक सगठन की शिक्षा और राज *नीतिक विचारधारा दी। इस लबी अवधि मे आदोलन कई चरणों में गुजरा।* शुरू में करीब ३० वष का समय बौद्धिक आदोलन और वादविवाद का था। इसी अवधि में आदोलन के आधुनिकतावादी लक्ष्य निश्चित हुए। शुरू में यह आदोलन शहर के मध्यवग में चला, फिर यह देश भर मे फैला, इसका सगठन व्यापक बना,

इसके हजारो कायकर्ता तैयार हुए और उन सबको एक सूत्र में बाधने वाले आदश, प्रतीक और विचारधारा विकसित हुई। इन कायकर्ताओ को राजनीतिक और प्रशासनिक काय का व्यावहारिक शिक्षण और अनुभव मिला। हमने पिछले अध्याय में बताया है कि तिलक और गाधी जैस महान नेताओ ने इस आदोलन को शक्तिशाली विचार दिए, जिनसे इसका सबध भारत के शानदार अतीत से जुडा और जिससे समाज के परपरावादी और नए विचार वाले, दोनो प्रकार के लोग इस आदोलन की ओर आकृष्ट हुए। देश के सभी भागो मे, शहरो और गावो मे सैकडो कायकर्ता तैयार हुए जो तिलक और गाधी, नेहरू और पटेल के लघु सस्करण थे। उनके आत्मत्याग और नि स्वाथ प्रयत्नो से यह आदोलन जनता मे फैला। इस आदोलन की विचारधारा, आदश, लक्ष्यो और साधनो को सबने स्वीकार किया। गाधीजी ने साधनो की शुद्धता पर जोर देकर जनता और सरकार दोनो पर इसके औचित्य का सिक्का जमा दिया। अगर आदोलन इतना दीघकालीन न होता और केवल शहरो तक सीमित रहता तो इसमे इतनी शक्ति और व्यापकता न आ पाती।

मगर काग्रेस के गावो तक पहुचने के प्रयत्नो के बावजूद, बहुत बडी जनसख्या फिर भी इससे अप्रभावित रही और राजनीति से उदासीन रही। काग्रेस की सफलता यह थी कि वह देश में इतनी दूर तक पहुची जितनी दूर तक हिंदू या मुगल साम्राज्य नही पहुच सका था। इसमें यह बात भी सहायक हुई कि सारे देश में एक सा अग्रेजी प्रशासन कायम हुआ। स्कूल, अदालत, डाकघर खुले और रेल पहुची। आवागमन के साधनो के विकास के फलस्वरूप भौगोलिक दूरी कम हो गई। १८ वी सदी के अत तक सारा देश अग्रेजी सत्ता के अधीन आ चुका था। इसके बाद अग्रेजो का शासन दृढ होता गया। उन्होने जमीन का बदोबस्त किया और राजस्व की वसूली का नया प्रबध किया। प्रातो और जिलो के प्रशासन का पुनस्सगठन किया, प्रशासन में भारतीयो को भी स्थान दिया, नयी शिक्षा की व्यवस्था की तथा एक धमनिरपेक्ष व्यवस्था के मूल्यो द्वारा नेत वग का सस्कार हुआ। अतिम चरण में भारतीयो को कौंसिलो आदि के चुनाव का और पदग्रहण का भी अवसर मिला और शिक्षा, उद्योग तथा अन्य व्यवसायो में भी ऊचे स्थान मिले। अग्रेजो ने जो व्यवस्था विकसित की उसका प्रभाव भारतीयो के राजनीतिक सगठन और आदोलन पर पडा। अग्रेजी शासन–व्यवस्था और भारतीयो में उसकी राजनीतिक और सास्कृतिक प्रतिक्रिया दोनो में एक प्रौढता आ गई जिसने राष्ट्रीय आदोलन को भी प्रौढता प्रदान की। बहुत कम नए स्वतत्र देशो में इसे प्रकार की परिस्थिति थी।

आदोलन की लबी अवधि से कुछ और लाभ हुए। राजनीतिक चेतना के सारे मुख्य तत्वो के काग्रेस में सगठन से सस्था और उसके नेतत्व तथा उसके कायक्रम और उसकी विचारधारा के प्रति निष्ठा पैदा हुई। गाधीजी का जनता पर जो

क्षेत्रा मे दूसरी जातिया भी आगे आईं। किंतु आधुनिक काल के भारतीय पुनर्जागरण के प्रारभ मे ब्राह्मणो के इस नेतत्व ने नये राष्ट्र को एक सूत्र मे बाधे रखा और पुरानी परपरा से सबध ताडे बिना परिवतन को आने दिया।

भारतीय परपरा की कुछ और विशेषताओ की भी सक्षेप मे चर्चा जरूरी है। जाति प्रथा म शासक से लेकर साधारण जनता तक के काम बटे हुए थे। शासक वग का काम शासन करना और दूसरा का काम राजकीय मामला मे उनका अधिकार मानना था। इस प्रकार उच्च वग या नेता और शासक वग के अधिकार को परपरा से मान्यता मिली हुई थी। इसके अलावा भारतीय विचारधारा म त्याग और आत्मसयम या कम से कम उपभोग को सदा से ऊचा स्थान दिया गया है और इसे आत्मोद्धार या आत्मोपलब्धि का साधन माना गया है। इस कारण भारतीय जनता अपने शासको से ज्यादा माग या अपेक्षा नही करती थी। ब्राह्मण परपरा के प्रभाव से ज्ञान को हमेशा ऊचा स्थान दिया जाता था। इसके साथ ही जो वग राजनीतिक या प्रशासनिक सत्ता प्राप्त करता था, उसका समाज में ऊचा स्थान मिलता था। इससे राष्ट्रीय नेतत्व का अधिकार और दढ हुआ। अन्य धर्मों की तरह हिंदू धम का कोई कलमा या अपरिवतनीय परिभाषा न थी। इस कारण नेता वग धम और नीति की व्याख्या देश काल के अनुसार कर सकता था, और जो बातें नये युग के लिए उपयोगी थी, उनको ले सकता था और शेष को छोड सकता था। इसी कारण धम और समाज में सुधार सभव हो सका और सस्कृति की धारा में किसी व्यतिक्रम के बिना उसमें नयी बातें जुडती गइ।

इस प्रकार राष्ट्रीय आदोलन और हिंदू सस्कृति की लबी परपरा नए भारत की एकता में सहायक हुई और उसने नयी व्यवस्था को गहराई और परिवतन तथा ग्रहण करने की शक्ति दी। पुरानी परपरा और लोकतत्री व्यवस्था में निरतर आदान-प्रदान होता रहा। पुरानी परपरा विभिन्नता और मतभेदा के प्रति सहनशीलता बरतती थी और नई लोकतत्री व्यवस्था विचार तथा काय की स्वतत्रता का समथन करती थी और समाज के सभी वर्गों को साथ लेकर चलना चाहती थी, फलस्वरूप दोनो के मेल में कोई कठिनाई नहीं हुई। यदि राष्ट्रीय आदोलन इतना लबा न चला होता और जनता में इतनी जडें गहरी न गयी होती, तो स्वतत्रता के समय नई और पुरानी परपरा में यह सामजस्य न हो पाता।

दूसरी आर राष्ट्रीय आदोलन के इतना लबा चलने के कारण कुछ कठिनाइयां भी पैदा हुईं। स्वतत्रता देर से मिलने का नतीजा यह हुआ कि भारत ने जब देश के आर्थिक और राजनीतिक निमाण का काम उठाया, उस समय आतरिक और बाहरी दोना समस्याए काफी उग्र हो उठी थी। दूसरे देशो को अपने विकास का और अपनी व्यवस्था को आधुनिक रूप देने का काफी समय मिला। भारत को यह समय नही मिला कि वह क करे। उसे सब काम एक

साथ करन पडे। सब काम एक साथ करने का अर्थ यह हुआ कि आर्थिक समस्या पर सब से अधिक ध्यान देना पडा जबकि और समस्याए कम महत्त्व की न थी। इस कारण काफी गडबडी हुई। अत में एक रास्ता निकाला गया और कौन से काम पहले किए जाए इसका एक क्रम भी निर्धारित हुआ पर इस बीच बहुत-सा समय और साधन बरबाद हुए, जनता की आशा और विश्वास को धक्का लगा, जिससे सरकारी ढाचे में बडी अस्थिरता आई। अत में विकास का जो ढाचा बना उस पर हम बाद मे चर्चा करेंगे।

इसी प्रकार अग्रेजी शासन की लबी अवधि से लाभ और हानि दोनो हुए। अग्रेजी शासन के दौरान प्रशासन आदि का जो ढाचा बना, वह स्वतत्रता के बाद देश की राजनीतिक एकता और आर्थिक विकास का भी आधार बना। किंतु अग्रेजी शासन में जो नौकरशाही का ढाचा, शिक्षा व्यवस्था, कानूनी मशीनरी, कानून बनाने की पद्धति, कारवाई में ढीलापन और सुस्ती तथा कुछ स्वार्थी वर्गों का निर्माण हुआ, वह तेजी से परिवतन लाने में बाधक हुआ। समस्याओ को सुलझाने, निणय लेने और नीति निर्धारित करने मे यहा जो अत्यधिक देर लगती है और बाल की खाल निकाली जाती है, उसका कारण अग्रेजी शासन काल में पडी सोचने की आदत, शिक्षा की पद्धति और प्रशासक का ढग है।

इसी तरह हम यह भी कह सकते है कि हमारी प्राचीन सभ्यता की परपरा जहा नये और पुराने के सामजस्य में सहायक हुई, वहा उसकी कुछ त्रुटिया भी हैं। शास्त्रों को ब्रह्मवाक्य समझने की हमारी आदत, हमारे सामाजिक ढाचे की कठोरता या जडता, सामूहिक चेतना का अभाव, सासारिक या लौकिक कार्यों की उपेक्षा, राष्ट्रीय भावना और सगठन का अभाव, समस्याओ और अप्रिय प्रश्नो का सामना करने के बजाय उसको टालने की प्रवृत्ति, हमें इसी प्राचीन परपरा से मिली है और इन्ही कारणो से हमारे यहा सबल लौकिक, गैरमजहबी राष्ट्रीय संस्कृति कायम नही हो सकी है।

हिंदू सस्कृति, राष्ट्रीय आदोलन और विदेशी औपनिवेशिक शासन की अनेक बातें स्वतत्रता के बाद भी चली आई हैं और आधुनिक विचारो, मूल्यो और संस्थाओ से इनकी परस्पर प्रतिक्रिया हुई है। हम स्वतत्रता के पहले और बाद मे इस प्रतिक्रिया का विश्लेषण करेंगे और यह समझने की कोशिश करेंगे कि प्राचीन परपरा को आधुनिक प्रवृत्तियो ने किस प्रकार प्रभावित किया है और आधुनिकीकरण की चुनौती के प्रति भारत का रुख सामान्यत क्या रहा है।

आधुनिकीकरण का स्वरूप

भारत मे आधुनिकता के प्रभाव से जो प्रतिक्रिया हुई, उससे पुरानी परपरा और संस्कृति के प्रति नया बोध उत्पन्न हुआ, उसकी पुनर्व्याख्या और पुनरुत्थान के प्रयत्न हुए तथा उसे नया रूप देने की कोशिश की गयी। आधुनिकता के प्रतिक्रिया-

स्वरूप भारतीयता की भावना बढ़ी और इसे नया अर्थ और रूप देने का यत्न किया गया।

भारत में यह बात नहीं स्वीकार की गई कि आधुनिकता का अर्थ पुरानी बातों को जड़मूल से नष्ट करके एकदम नई बातों को अपनाना है। दूसरी ओर यहाँ यह रुख भी नहीं रहा कि नई बातों में कोई तत्व नहीं और पुरानी परंपरा और पुराने मूल्य ही शाश्वत और सही हैं।[१] अगर कहें कि भारत ने मध्यमार्ग ग्रहण किया और कुछ पुरानी बातों को बनाए रखने के साथ साथ नई बातों को भी स्वीकार किया, यह भी भारत में हुई प्रतिक्रिया का सही बयान नहीं। कुछ लोगों ने इसको या कहा है कि भारत में प्राचीन परंपरा को सातत्य-रूप दिया गया।[२] मगर इस मत में प्राचीन परंपरा को अत्यधिक महत्त्व दिया गया और इस पर सही ध्यान नहीं दिया गया कि आधुनिक मूल्यों और संस्थाओं ने पुरानी परंपरा के प्रति गौरव के भाव को जगाने और उसे आधुनिक अर्थ देने में कितना योग दिया। पुरानी परंपरा यों ही स्वयं नहीं जीवित हो गई। इसलिए हमें पुरानी परंपरा और आधुनिकता को अलग अलग न लेकर उनके परस्पर संबंध पर, उस प्रक्रिया पर, जिससे ये संबंध बने और एक दूसरे के लिए उनकी उपयोगिता पर विचार करना चाहिए। जब एक प्राचीन समाज अपनी समृद्ध परंपरा और विविधता को त्यागे बिना, अपने को नये युग के अनुरूप परिवर्तन करके अपने को जीवित रखने का प्रयत्न करता है तो नए और पुराने का यह मिश्रण क्या रूप धारण करता है, इसे समझना आवश्यक है।

परिवर्तन कब शुरू हुआ इसकी कोई तारीख या समय बताना कठिन है खास कर भारत के लिए, क्योंकि यहां के समाज की यह विशेषता है कि इसका कुछ अंश तो एकदम जड़ हो गया और कुछ अंश गतिशील बना रहा। यह कहना हास्यास्पद है कि भारत का समाज एकदम जड़ और निर्जीव हो चुका था, और विदेशी शासन के धक्के से इसमें फिर चेतना आई। हमने देखा है कि मुस्लिम आक्रमण और मुगल शासन की स्थापना ने पुरानी व्यवस्था को गहरा धक्का दिया।[२] बाद विदेशी अंगरेजों का औपनिवेशिक शासन स्थापित हुआ, जिससे [illegible] देश में एक केन्द्रीय सत्ता स्थापित हुई, कानून और व्यवस्था कायम हुई [illegible] सामाजिक और बौद्धिक क्षेत्र में व्यापक परिवतन हुए, जिससे विदेशी शासन

१ मैंने इन विरोधी मतों पर अपनी 'ट्रेडिशन ऐंड माडर्निटी रिविजिटेड' [illegible] गवर्नमेंट ऐंड [illegible] जिशन, ३, सं ३, १९६८ ग्रीष्म, में विचार किया है।

२ देखें लायड आइ रुडोल्फ और सूसन ऐंड रुडोल्फ, 'माडर्निटी ऐंड ट्रेडिशन' ([illegible] १९६७) स मान्यता इस विचार से मतभेद रखने पर भी हम इसकी बहुत सी बातों से [illegible] हैं, खास कर जाति-प्रथा और नेतृत्व संबंधी। परंपरा और आधुनिकता के द्वंद्व को इस [illegible] नहीं स्वीकार किया गया, यह एक अच्छी बात है।

लेकर आधुनिक्ता की पूरी पद्धति को स्कीकार कर लिया गया। वास्तव में देश के सामने जो नए आदश और लक्ष्य रखे गए, वे भी एक नही थे। उनमें से अनेक विकल्प परस्पर विरोधी भी थे। उदाहरण के लिए, देश में व्यवस्था रखने और अनुशासनपूवक विकास के लिए शक्तिशाली एकतत्री व्यवस्था बनाम व्यक्तिगत स्वतनता पर आधारित प्रतिनिधित्वपूण लोकतत्र, मजबूत केंद्रित सत्ता बनाम स्वायत्त इकाइया का ढीला ढाला सघ, दलो की प्रतिद्वद्विता और बहुमत का राज्य अथवा अल्पमख्यको या विशेष हितो का प्रतिनिधित्व, अथव्यवस्था पर सरकारी स्वामित्व या राष्ट्रीयकरण बनाम निजी उद्योग, उन्नत औद्योगिक देशो के लिए कच्चे माल का उत्पादन और नियात करके उनसे सहायता और विशेष व्यवहार प्राप्त करना या खुद पूरी तेजी से उद्योगीकरण करना, और ऊचे सुसस्कृत वग की शिक्षा-प्रणाली या समाज मे समानता को बढावा देने वाली सव साधारण की शिक्षा। भारतीया में ससदीय लोकतत्र की पेचीदा प्रणाली को चलाने की योग्यता है या नही, इस पर भी अग्रेजो को सदेह था और कुछ भारतीय भी उनसे सहमत थे। महत्त्व की बात यह है कि अत में भारत ने कौन-सा रास्ता चुना और किस विचारधारा की जीत हुई।

इस चुनाव को ब्राह्मण की उदार विचार की प्रवृत्ति और विचारा की विभिन्नता के प्रति सहिष्णुता की हमारी परपरा दोनो ने प्रभावित किया। कुछ पुरानी दूषित परपराओ को त्याग दिया गया, जैसे समाज मे ऊच नीच, घोर असमानता तथा कटटर सकीणता को। दूसरी ओर पुरानी परपरा ने यह आत्मविश्वास उत्पन्न किया कि भारत के लोगो में विवेक और बुद्धि का माग ग्रहण करने की क्षमता है। इस बात पर भी सहमति थी कि भारतीय सभ्यता की समृद्ध परपरा को बनाये रखने के लिए ऐसी शासन व्यवस्था को अपनाना चाहिये, जिससे देश के सभी मतो और सप्रदाया की स्वतत्रता सुरक्षित रहे। आधुनिक अधिनायकतत्र या तानाशाही की व्यवस्था न तो इतने बडे देश की एकता कायम रख सकती थी और न उसकी भाषा, धम और सस्कृति की विविधता की धरोहर की रक्षा कर सकती थी।

यह चुनाव सहज ही या स्थायी रूप से नही हो गया। उदाहरण के लिए बहुत से नेता मजबूत केंद्रित एकात्मक सरकार के पक्ष में थे (और हैं) जो देश की केंद्र-विरोधी शक्तिया पर अकुश रख सके। देश के विभाजन ने ढीले ढाले सघ के पक्ष में (जिसमें हिंदू बहुमत और मुस्लिम बहुमत प्राता को बहुत स्वायत्तता होती) सबसे बडे तक को खतम कर दिया, और 'शक्तिशाली केंद्र' का पक्ष और मजबूत कर दिया। लेकिन दूसरी आर विकेंद्रित व्यवस्था की धारणा भी बडी मजबूत थी और प्रभावशाली प्रातीय नेता जिन्हाने राष्ट्रीय आदोलन को मजबूत बनाया था केंद्र को सारे अधिकार दे देने के विरुद्ध थे। ...वादी पर... केंद्रीकरण के विरुद्ध थी और गावो को राष्ट्रीय शासन ... बनान ... या गरीब और

शोषित ग्रामीण जनता को देश की स्वतन्त्रता से होने वाले लाभों का उचित हिस्सा देना चाहती थी। देश के संविधान के निर्माताओं को इन दोनों विरोधी विचार-धाराओं में सामंजस्य करना था, अतः उन्होंने ऐसी व्यवस्था की जिसमें केन्द्र को व्यापक क्षेत्र और शक्ति-साधनों में प्रमुख भाग और अवशिष्ट अधिकार दिये गए। साथ ही राज्यों को भी काफी अधिकार प्राप्त हुए। आगे चल कर एक और बात की गई जिससे भारतीय राज्यव्यवस्था के संघीय स्वरूप को और बल मिला। यह थी पंचायती राज (लोकतन्त्री विकेन्द्रीकरण) की व्यवस्था। इसका आधार पुरानी परंपरा और गांधी-विचारधारा में था, लेकिन इसे लागू करने का श्रेय जवाहरलाल नेहरू को था। इस पद्धति पर और भारतीय संघ व्यवस्था के साधारण स्वरूप पर हम आगे के अध्यायों में विचार करेंगे। यहां हम यह देखेंगे कि केन्द्र और परिधि (राज्य) के संबंध को निश्चित करने में, परंपरा और आधुनिकता की प्रवृत्तियां, उनके प्रभाव से निर्मित राष्ट्रीय आंदोलन की विचारधारा, देश की परिस्थितियां तथा नेताओं की दूरदर्शिता और विचार-इन सब का प्रभाव पड़ा।

इस नई व्यवस्था को चलाने में सबसे महत्वपूर्ण भाग था एक मध्यवर्ती नेतृवर्ग का जो सबसे ऊपर के राष्ट्रीय नेताओं में और सबसे नीचे के ग्रामीण नेताओं में संबंध जोड़ता है। इन बीच के आदमियों ने प्राचीनता और आधुनिकता में समझौता कराने में बड़ी योग्यता का परिचय दिया है। भारत में राजनीतिक सौदेबाजी या मोल भाव की इस नई प्रणाली को कुछ राजनीतिक आलोचक लक्ष्य नहीं कर सके।[४] ऊपर के नेताओं और जनता के अगुओं में यह मोलभाव सीधा नहीं, उपर्युक्त मध्यस्थ वर्ग के जरिये होता है। यह मध्यस्थ वर्ग जिला या निर्वाचन क्षेत्र के स्तर पर काम करता है। ये मध्यस्थ दलालों की भांति महज सौदा ही नहीं पटाते, बल्कि ये दोनों पक्षों को एक दूसरे के संपर्क में लाते हैं, और बताते हैं कि उन्हें क्या अवसर मिल रहे हैं। इस तरह वे नई व्यवस्था के सर्वोत्तम संचालक और संगठक सिद्ध होते हैं।

पश्चिमी लोकतन्त्र में विभिन्न हितों का समुच्चयन या एकत्रीकरण राष्ट्रीय स्तर पर होता है जबकि पुराने ढंग की राजनीतिक व्यवस्था में हित व निष्ठाएं अलग अलग खंडों में बंटी होती हैं। भारत में जो नई प्रणाली विकसित हुई है, वह इस से भिन्न है। इस में शक्ति बिखरी हुई या अकेन्द्रित है और विकसित हुई है एक व्यापक व्यवस्था के अंतर्गत अनेक स्वतंत्र छोटी व्यवस्थाओं का रूप धारण करती है।

४ माइरन वानर, 'द पालिटिक्स आफ स्केयर्सिटी : पब्लिक प्रेशर ऐंड पोलिटिकल रेस्पान्स इन इंडिया' (शिकागो १९६२)। इसका सारांश देते हुए भूमिका में गेब्रियल आमंड का कहना है कि भारत में सौदेबाजी की प्रणाली का प्रभाव है। मगर वानर ने इस बात पर जोर दिया है कि यहाँ सामुदाय की परिपाटी नहीं। हमने इस विषयपर अध्याय ५ में सविस्तर विचार किया है नेतृवर्ग में साधी सौदेबाजी की उभरती हुई प्रवृत्ति के लिए देखें अध्याय ८।

इन छोटी व्यवस्थाओ से स्थानीय हितो की रक्षा होती है। पुराने समय में स्थानीय सामत या मुखिया और उनकी आश्रित प्रजा मे जो सबध होता था कुछ वसा ही इस मध्यवर्ती व्यवस्था का भी है। इसके साथ ही आधुनिक राजनीतिक क्रिया–कलाप मे भी ये हाथ बटाती है। इस प्रणाली का हम मध्यर्ती समुच्चयन कह सकते है। आगे के अध्यायो में हम प्रशासनिक और दलीय प्रणाली म इस मध्यवर्ती नगल के स्थान पाने पर विचार करगे। इस समय इतना ही कहना काफी है कि पुराने और अनेकात्मक समाज में राष्ट्रनिर्माण की क्रिया इस प्रकार की मध्यवर्ती प्रणाली को जन्म देती है, जो केन्द्र और इकाइया म पुरानी और नई व्यवस्था में सबध जोडती है।[5] इस मध्यवर्ती प्रणाली का मुख्य काम नेता और जनता, सरकार और प्रजा, केन्द्र और प्रदेश या जिला के बीच मध्यस्थता करना है।

परपरा और परिवतन की प्रवत्तिया की परस्पर क्रिया पर विचार करत समय राजनीतिक विकास सबधी कुछ और प्रश्न उठन है। एक ता यह कि परपरा और आधुनिकता की इस दुहरी प्रणाली को केन्द्रीय प्रतीक कहा तक प्रभावित कर सकते हैं। नई शिल्प विधिया और राजनीतिक तत्र के सामने पुराने आदश और प्रतीक डगमगा रहे है। इस स्थिति में यह प्रश्न महत्त्व का है। दूसरा प्रश्न यह है कि ऐसे अनेकात्मक समाज मे राष्ट्रीयता का सच्चा बोध कहा तक हो सकता है। तीसरा, यदि नई अस्मिताए या निष्ठाए उदय होती है तो उसके साथ कौन से नए सघर्ष और अतर उत्पन्न होते है। तीसरे, ऐसी दोमुही (आगे और पीछे देखने वाली) व्यवस्था मे भविष्य की ओर देखने की प्रवृत्ति कसे लाई जा सकती है, जिससे आगे उठने वाली समस्याओ को देखा जा सके और उनका उपाय किया जा सके और उनको भविष्य के भरोसे न छोडा जाए।

राजनीतिक सस्कार और नई व्यवस्था की सफलता सबधी अध्यायो मे हम इन प्रश्नो पर विचार करेंगे। यहा हम कुछ सकेत करेंगे।

केन्द्र और परिधि

प्रत्येक सभ्यता में कुछ केन्द्रीय प्रतीक होते है जो पूरे समाज को बाधे रहते हैं। भारत मे भी इसी प्रकार के सस्कारो की एक जटिल परपरा थी, जो विभिन्न प्रदेशा

---

५ बर्क, दुखान, टाकविल, टोनीज तथा अन्य लेखको के ग्रथों में मध्यवर्ती समूहों और उप व्यवस्थाओं का महत्त्व स्वीकारा गया है। इधर एडवर्ड शील्स तथा राबर्ट डाल ने इस विषय पर विचार किया है। भारत में आर भास्करन ने इस विषयपर काफी लिखा है। पश्चिम के इस साहित्य की समीक्षा के लिए देखें मारिस पिनार्ड, 'मास सोसाइटी ऐंड पालिटिकल मूवमेंन्टस-ए न्यू फार्मुलेशन (द एनुअल अमेरिकन जर्नल आफ सोशियोलाजी, मई १९६८) तथा आर भास्करन 'सोशियोलाजी आफ पालिटिक्स (बबई १९६८)

मे विभिन्न स्थानीय समाजो की विचारधारा का निर्माण करती थी। भारत की यह विशेषता थी कि यहा की परपरा के निर्माण करने वाले ये प्रतीक किसी राजनीतिक व्यवस्था से बधे नही थे।[६] इस परपरागत व्यवस्था पर आधुनिकता की प्रवृत्तिया का प्रभाव पडा जिसके साथ नई सस्थाए, मूल्य और प्रतीक आए। इन नए प्रतीको ने पुराने विश्वासो को बिना नष्ट किए, पुरानी निष्ठाओ और प्रतीको का नया रूप दिया और पुरानी और नई व्यवस्थाओ मे मेल मिलाया। इस प्रक्रिया ने नए मध्यस्थ वर्ग को जन्म दिया, जो राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था और स्थानीय समाजो का जोडता है। य । मध्यस्थ वग नए राजनीतिक प्रतीको का जनता म प्रचार करता ह। जमा कि कहा जा चुका ह ये नए प्रतीक बिलकुल नए नही हैं, इन्हाने पुराने प्रतीको और विचारो मे से बहुत कुछ ग्रहण किया ह। इस प्रकार भारतीय समाज की विविधता नई व्यवस्था मे भी बनी रही। यह प्रक्रिया अभी भी जारी ह, इसके द्वद्वात्मक रूप की उपेक्षा नही की जा सकती। नए केन्द्रीय प्रतीक उसी हद तक सार्थक होत हैं, जिस हद तक वे परपरागत विविधता को बनाये रखत ह। यह जरूरी नही कि परपरा हमेशा पुरानी ही हो। नई परपरा भी तेजी से बनती रहती ह। स्मरण रखना चाहिए कि एक लगातार चली आई सभ्यता म आधुनिकता तभी जीवित रह सकती ह जब वह स्वय परपरा बन जाए।[८] पुराने प्रचलित परपरा के ढाचे में मिल कर ही नए केन्द्रीय प्रतीक पूरे समाज मे व्याप्त होत हैं। इसी प्रकार वे केन्द्रीय बनते हैं।

जो बात प्रतीको पर लागू होती है, वही राष्ट्रीय निष्ठा पर भी लागू होती है। इस विषय मे भारत का तरीका पश्चिम मे भिन्न है। यदि पश्चिम की तरह यहा भी सब लोगो पर एक ही निष्ठा लादने की कोशिश की जाती, तो या तो यह चेष्टा विफल होती या यह देश को टुकडे टुकडे कर देती। छोटी छोटी आदिम निष्ठाए राष्ट्रीय व्यवस्था पर तनाव कम करती ह। साथ ही राष्ट्रीय निष्ठा, विभिन्न प्रकार की छोटी छोटी निष्ठाओ पर ही आधारित होती है। भारत जस विशाल और विविधतापूर्ण देश मे ही नही, किसी भी देश म एक अस्पष्ट और अमूर्त राष्ट्र के प्रति तादात्म्य या निष्ठा सभव नही। भारत क राष्ट्रीय आदोलन की लबी अवधि और गहराई ने यहा राष्ट्रीय निष्ठा के निर्माण के लिए आधार

६ राबर्ट रेडफील्ड 'सिविलाइजेशन ऐन कल्चरल स्ट्रक्चर' सेटर फार एडवास्ड स्टडी इन बिहेवियरल साइस स्टानफोर्ड म दिया गया भाषण तथा बर्नार्ड एस कोन और मेकिम मैरियट 'नेटवर्क्स ऐंड सेन्टर्स इन द इटेग्रेशन आफ इडियन सिविलाइजेशन', जर्नल आफ सोशल रिसर्च (रांची) १ सित १९५८

७ राजनीति और सस्कृति के इस अलगाव पर अध्याय ७ मे विचार किया गया है।

८ आधुनिकता के परपरीकरण पर मेरे, 'ट्रैडिशन ऐंड माडर्निटी रिविजिटेड' म विचार किया गया है।

रहा। राष्ट्रीय आंदोलन पुरानी निष्ठाओं और प्रतीकों का सहारा ले कर ही खड़ा हो सका। स्वतंत्रता के बाद भी यही क्रम जारी है।

जब हम इन निष्ठाओं के स्वरूप पर विचार करते हैं तो हम परंपरा और परिवर्तन की परस्पर क्रिया का ज्ञान होता है। अक्सर यह कहा जाता है कि पुराने समाज में कार्यों का विभाजन ठीक नहीं होता, जबकि नए समाज में यह विभाजन सूक्ष्म और जटिल होता जाता है। पर भारत के उदाहरण से इस धारणा का खंडन होता है। छठे अध्याय में हम देखेंगे कि न सिर्फ भारत की प्राचीन समाजव्यवस्था में कार्यों का बटवारा सूक्ष्म और जटिल था, बल्कि यह व्यवस्था स्थिति के अनुसार बदलती भी रहती थी। आधुनिक युग में एक तरफ जाति, मजहब भाषा और प्रदेश के पुराने विभाजनों ने जातीय प्रादेशिक और भाषिक संगठनों और संस्थाओं का रूप लिया है, दूसरी ओर इन भेदों में नए किस्म के विभाजन भी पैदा हुए हैं और नई सत्ता और पद की व्यवस्था के अंग बन गए हैं। ये नए विभाजन नए ढंग के व्यावसायिक, [illegible] व्यापारिक और विशुद्ध राजनीतिक संगठन हैं। अक्सर इन नए वर्गों के सम्बन्ध पुराने परंपरागत वर्गों से ही बराबर होते हैं। जब देश के कई भागों में बहुत पढ़े ब्राह्मणों ने नए पेशों को अपनाया, पुराने व्यापारी घरानों के लड़कों ने नए उद्योग-प्रतिष्ठान कायम किए और वाणिज्य संघों की स्थापना की, सेना में पुराने योद्धा वर्गों के लोगों का प्रमुख स्थान रहा। जहां इस प्रकार का सिलसिला नहीं रहा और बिलकुल नए लोगों का उदय हुआ, वहां उनको भी समाज के पुराने ढांचे में ऊंचा स्थान दिया गया।

इस प्रकार जो वर्ग सत्ता और पद के दायरे से बाहर रहते थे उनको भी अंदर आने का मौका मिला। पिछड़ी जातियों के लिए सरकारी नौकरियों, शिक्षा संस्थाओं और विधानसभाओं में स्थान सुरक्षित किए गए। सभी राजनीतिक संगठन विभिन्न जातियों का [illegible] का महत्व समझते हैं। इससे पुरानी व्यवस्था की यह त्रुटि दूर हुई कि सारी [illegible] एक ऊंची जातियों के हाथ में रहता था और बाकी जातियों को दूसरा दर्जा मिलता था [illegible] तरह से राष्ट्र की [illegible] से वंचित रहती थी। [illegible] राष्ट्रों में भी यही बुराई थी। भारत में वर्ग-संघर्ष के [illegible] एक कारण [illegible] है कि यहां बहुत-सी जातियां हैं इस कारण यहां [illegible] को अंदर आने का मौका मिलता रहा और [illegible] की नौबत नहीं आने पाई। जाति प्रथा [illegible] यहां [illegible] बाहर से आने [illegible] [illegible] [illegible] यथास्थान दर्जा मिलने की प्रक्रिया रही है। भारत में पुराने और नए [illegible] में [illegible] लौकिक और पर लौकिक [illegible] [illegible] की टक्कर [illegible] हो [illegible] पाई। आधुनिकीकरण और परिवर्तन [illegible] प्रक्रिया [illegible] [illegible]

नेहरू के वस्तुनिष्ठ और लचीले दृष्टिकोण और प्रतिनिधित्व की प्रणाली में उनकी आस्था से भी इस प्रक्रिया में बहुत मदद मिली।

मगर उग्र संघर्ष या ध्रुवीकरण के अभाव का सारा श्रेय पुरानी अनेकनिष्ठ समाज–व्यवस्था को ही नहीं है। स्वतंत्रता के बाद शुरू से ही राष्ट्रीय नेता वर्ग ने भी संघर्ष और असंतोष के कारणों को दूर करने का प्रयत्न किया। यह उनकी दूरदर्शिता का द्योतक है। इस प्रकार उन्होंने जमींदारी और सामंती अधिकारों का अंत किया, मजदूरों के हित के कानून बनाये पिछड़े वर्गों और हरिजनों को विशेष संरक्षण और अधिकार दिये, हिंदू कोड बना कर स्त्रियों की स्थिति सुधारी संपत्ति के अधिकारों को सामाजिक न्याय के ऊपर स्थान मिले इस उद्देश्य से संविधान में संशोधन किये, भाषाओं के विवाद को सुलझाने के लिए राज्यों का पुनर्गठन किया। संघ से अलग होने के आंदोलनों पर रोक लगाई तथा राष्ट्र विरोधी और हिंसात्मक प्रवृत्तियों को कड़ाई से दबाया। ये सब कार्रवाइयां शुरू में ही की गईं और इनसे संघर्ष और तनाव दूर होने में बड़ी मदद मिली। हो सकता है कि इन सभी कदमों को पहले से न सोचा गया हो, परंतु इन सब की जड़ राष्ट्रीय आंदोलन और नेताओं की विचारधारा में थी। इस प्रकार राष्ट्रीय संगठन में नेताओं की राष्ट्रीय विचारधारा और दूरदर्शिता का भी उतना ही हाथ था जितना पुरानी सहिष्णुता और समन्वय की परंपरा का।

परिवर्तन के प्रेरणा स्रोत

परंपरा और परिवर्तन की चर्चा खतम करने से पहले हम चार बातों पर जोर दें। एक तो यह कि भारत में सामाजिक और राजनैतिक ढांचे में जो परिवर्तन आया उसकी प्रेरणा नये विचारों, संस्थाओं, शिल्प व उद्योग और संचार के नए साधनों के संपर्क से मिली। परंपरा के लचीलेपन और ग्रहणशीलता पर जोर देते हुए, कुछ लोग पुरानी परंपरा को ही परिवर्तन का स्रोत समझ बैठते हैं।[9] हम इस धारणा का खंडन करते हैं। परंपरा पर परिवर्तन की प्रतिक्रिया होती है वह परिवर्तन को जन्म नहीं देती। इसके प्रमाण हैं कि जब अंग्रेजी राज की शुरुआत हुई उस समय समाज में कुछ परिवर्तन होने लगे थे, किंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि परिवर्तन का मुख्य स्रोत पश्चिम का प्रभाव ही था।[10]

दूसरी बात यह है कि इस परिवर्तन को प्रगल्भ करनेवाला एक नया नेता या सुधारक वर्ग था, यह समाज की केंद्रीय परिचालक शक्ति था। समाज के निचले और बीच के स्तरों पर भी इसी प्रकार के नेतृत्व का उदय हुआ और इसी ने देश

९ रुडाल्फ ऐंड रुडाल्फ, पूर्वोक्त और सिंगर, पूर्वोक्त।

१० पश्चिमीकरण के नृशास्त्रीय विवेचन के लिए देखें, श्रीनिवास 'सोशल चेंज इन माडर्न इंडिया' (बर्कले १९६६) अध्याय–२।

पर आधारित न थी, साथ ही वह अस्पष्ट भी न थी इसमें परंपरा और आधुनिकता घुली मिली था। महान नेताओं की तरह इस संगठन का भी जनता पर चमत्कारी प्रभाव पडा।[12] भारत को आधुनिकता की ओर ले जाने वाली यह ऐतिहासिक शक्ति थी। इस राष्ट्रीय संगठन के मामले में भी भारत अन्य अनेक देशों से अधिक भाग्यवान रहा।

इस प्रकार भारत की प्राचीन संस्कृति के आधुनिकीकरण में उपयुक्त कई बातें सहायक हुई। ये थी इतिहास के अत्यंत दीर्घजीवी और शक्तिशाली विदेशी शासन के साथ आया आधुनिक युग का जबर्दस्त प्रभाव लेकर राष्ट्रीय आंदोलन आधुनिक विचारों से ओतप्रोत देशव्यापी प्रभाव वाला राष्ट्रीय नेतावर्ग चमत्कारी व्यक्तित्व वाले महान नेता और व्यापक राष्ट्रीय संगठन। इसके साथ ही हमारी पुरानी परंपरा का लचीलापन और नई बातों को ग्रहण करने की शक्ति ने भी भारत के आधुनिकीकरण में जबर्दस्त योग दिया।

१२ इस विषय के सैद्धांतिक विवेचन के लिए देखें – एडवर्ड शिल्स, 'द कंसेन्ट्रेशन एंड डिस्पर्शन आफ कैरिज्मा' वर्ल्ड पॉलिटिक्स ११ सं, १, अक्टूबर १९५८। इसी प्रकार कांग्रेस के बारे में विवेचन के लिए देखें – मेरा निबंध 'नेशन मेकिंग एंड कान्सेंसस द केस आफ द इंडियन नेशनल कांग्रेस – सेवेंथ वर्ल्ड कांग्रेस आफ द इंटरनेशनल पोलिटिकल साइंस असोसिएशन, ब्रुसेल्स १९६७।

में नये विचारों को फैलाया और पुराने समाज को नई दिशा और नये उद्देश्य दिये। नई संस्थाओं नए मूल्यों और नए तरीकों को चालू करने का मुख्य काम नए नेताओं ने किया और स्थानीय प्रमुखों और जनसाधारण ने इनको राजनीतिक समर्थन दिया और इनके नेतृत्व को स्वीकार किया।[११] इस प्रक्रिया को इस बात से भी बल मिला कि नेतावर्ग अधिकतर परंपरागत प्रमुख वर्ग से ही आए थे और उन्होंने पुरानी परंपरा और मूल्यों को ही नए रूप में जारी रखने का प्रयत्न किया था। नई शिक्षा को सबसे उत्साहपूर्वक पुराने ब्राह्मण और ऊंची जातियों ने ही अपनाया (संस्कृत साहित्य और वैदिक अध्ययन की परंपरा नई शिक्षा में भी आई) इस प्रकार परंपरागत विद्या के संरक्षक नई विद्या के भी संरक्षक बने। इससे परिवर्तन की क्रिया सहज हुई। फिर भी देश के विभिन्न भागों में इस आधुनिकतावादी शहरी, पश्चिमी और अंग्रेजी शिक्षित प्रमुख वर्ग का उदय हुआ, जो राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता था उसी के कारण आधुनिकीकरण में एकसूत्रता आई। बाद में निचली और बीच की श्रेणियों से गावों और कस्बों में भी आधुनिकतावादी नेताओं का उदय हुआ जिनके कारण आधुनिकता का प्रसार हर स्तर पर हुआ।

तीसरी बात यह थी कि आधुनिकता और सुधार के आंदोलन को कुछ अत्यंत प्रभावशाली और महान व्यक्तित्व के नेता मिले और सौभाग्यवश ये नेता दीर्घजीवी थे और इन्होंने लंबी अवधि तक देश का नेतृत्व किया। गांधी के महान नेतृत्व की अवधि सन १९२० से १९४८ तक थी, नेहरू की १९४७ से १९६४ और पटेल की १९३० से १९५० तक। इनके अलावा भी राष्ट्रीय और क्षेत्रीय स्तरों पर अनेक प्रभावशाली नेताओं ने इनके काम को जारी रखा और फैलाया। गांधी में नेताओं के निर्माण की बड़ी खूबी थी और उन्होंने देश को सैकड़ों कर्मठ कार्यकर्ता दिए, जिन्होंने पुराने विचार के लोगों को भी अपने आंदोलन में खींच लिया। कम देशों को ऐसे महान नेता और उत्साही कार्यकर्ताओं का दल मिलने का सौभाग्य हुआ।

अंत में, इंडियन नेशनल कांग्रेस का महान संगठन भी आधुनिकता की प्रमुख शक्ति सिद्ध हुई। न केवल आधुनिक काल में देश को ऐसे महान नेता मिले जो पुराने इतिहास के वीरों की श्रेणी में रखे जा सकते हैं, बल्कि एक ऐसा महान राष्ट्रीय संगठन भी मिला जिसका ८० वर्ष से ऊपर देश पर अप्रतिम प्रभाव रहा। बहुधा नेहरू आदि नेताओं को जिन बातों का श्रेय दिया जाता है, वे बिना इस महान संगठन का सहारा मिले संभव न हो पातीं। कांग्रेस एक ऐसा संगठन था जिसने अनेक स्रोतों से प्रेरणा ग्रहण की। इसकी विचारधारा किसी कट्टर मतवाद

११ देखिए, इंटरनेशनल पोलिटिकल साइंस असोसिएशन की सातवीं वर्ल्ड कांग्रेस (ब्रुसेल्स १९६७) में मेरा निबंध 'इन्टिग्रेशन आफ नेशन बिल्डिंग फार द टाइपोलाजी आफ पोलिटिकल सिस्टम्स'।

पर आधारित न थी, साथ ही वह अस्पष्ट भी न थी, इसमें परंपरा और आधुनिकता घुली मिली थी। महान नेताओं की तरह इस संगठन का भी जनता पर चमत्कारी प्रभाव पड़ा।[12] भारत को आधुनिकता की ओर ले जाने वाली यह ऐतिहासिक शक्ति थी। इस राष्ट्रीय संगठन के मामले में भी भारत अन्य अनेक देशों से अधिक भाग्यवान रहा।

इस प्रकार भारत की प्राचीन संस्कृति के आधुनिकीकरण में उपयुक्त कई बातें सहायक हुई। ये थी इतिहास के अत्यंत दीर्घजीवी और शक्तिशाली विदेशी शासन के साथ आया आधुनिक युग का जबदस्त प्रभाव तथा राष्ट्रीय आंदोलन आधुनिक विचारों से ओतप्रोत देशव्यापी प्रभाव वाला राष्ट्रीय नेतावर्ग, चमत्कारी व्यक्तित्व वाले महान नेता और व्यापक राष्ट्रीय संगठन। इसके साथ ही हमारी पुरानी परंपरा का लचीलापन और नई बातों को ग्रहण करने की शक्ति ने भी भारत के आधुनिकीकरण में जबदस्त योग दिया।

१२ इस विषय के सैद्धांतिक विवेचन के लिए देखें – एडवर्ड शिल्स, 'द कंसेंट्रेशन ऐंड डिसपर्शन आफ कैरिस्मा' वर्ल्ड पालिटिक्स ११ सं, १, अक्तूबर १९५८। इसी प्रकार कांग्रेस के बारे में विवेचन के लिए देखें – मेरा निबंध 'नेशन मेकिंग ऐंड कान्सेंसस द केस आफ द इंडियन नेशनल कांग्रेस – सेवेंथ वर्ल्ड कांग्रेस आफ द इंटरनेशनल पोलिटिकल साइंस असोसिएशन, ब्रुसेल्स १९६७।

पर लोकतंत्री संस्थाओं का लंबा चौड़ा ढांचा भी खड़ा कर दिया गया जो अब तक काम कर रहा है। इसका कारण यह है कि मूल बातों पर स्वतंत्रता के पहले की पीढ़ी एकमत थी और स्वतंत्रता के बाद की पीढ़ी में भी इन्हीं विचारों को मान्यता मिली। हम देख चुके हैं कि राष्ट्रीय आंदोलन के लंबे क्रम में किस प्रकार सिद्धांतों और उद्देश्यों पर खुल कर विचार हुआ और उन्हें कांग्रेस के प्रस्तावों में ठोस रूप दिया गया। सन १९२८ में ही कांग्रेस द्वारा आयोजित सर्वदल सम्मेलन ने मोतीलाल नेहरू कमेटी को नियुक्त किया[4] जिसने स्वतंत्र भारत के राजनैतिक ढांचे की रूप-रेखा बनाई। इसने संसदीय और संघीय ढांचे की सिफारिश की थी और मूल अधिकारों की विस्तृत सूची बनाई थी। इस सूची के १९ में से १३ अधिकार १९५० में तैयार संविधान के मौलिक अधिकार और निर्देशक सिद्धांत संबंधी अध्याय में करीब करीब उसी रूप में ले लिए गए। १९३१ में कराची कांग्रेस में मोतीलाल के पुत्र जवाहरलाल ने प्रसिद्ध कराची प्रस्ताव पेश किया जिसमें कांग्रेस के उद्देश्यों को विस्तार से निरूपित किया गया था। कांग्रेस के इतिहास-लेखक डा० सीतारामैया के शब्दों में जवाहरलाल का कहना था कि इन बातों पर राष्ट्र का दिमाग बिलकुल साफ होना चाहिए और जनता में इन्हीं का प्रचार होना चाहिए।[5]

इस प्रकार राजनीतिक व्यवस्था के बारे में पहले से विचार स्पष्ट होने के कारण संविधान सभा में (१९४७-४९) इस पर बहुत ज्यादा बहस-मुबाहसे की जरूरत नहीं पड़ी।

फिर भी इस समय सोचने का मौका था कि देश में किस प्रकार का राज्यतंत्र कायम हो। संविधान सभा में कुछ लोगों ने कहा कि देश की पुरानी संस्थाओं को नए युग के अनुरूप कुछ परिवर्तन के साथ स्थापित किया जाय। कुछ लोगों का ख्याल था कि अनपढ़ जनता को वोट और चुनाव का अधिकार देना ठीक नहीं, और ये चीजें देश की पुरानी परंपरा के प्रतिकूल हैं। परन्तु आधुनिकतावादियों की संख्या अधिक थी और उनका कहना था कि भारत को इधर केवल संसदीय लोकतंत्र का ही अनुभव हुआ है, और मध्यकालीन या प्राचीन राज्य का अनुभव अब काम नहीं दे सकता क्योंकि आधुनिक युग का तकाजा है कि जनसमूह को देश के शासन में हिस्सा दिया जाय और आर्थिक व सामाजिक न्याय की प्रतिष्ठा की जाय। गरीबी और निरक्षरता के आधार पर जनता को अधिकार से वंचित रखना अंगरेजों के तर्क को स्वीकार करना है जो स्वयं अपने देश में तो लोकतंत्र की दुहाई देते थे परन्तु भारतीयों को स्वशासन के अयोग्य मानते थे।[6]

[4] सम्मेलन में ३४ राजनैतिक दलों के प्रतिनिधि शामिल हुए थे। देखें - ग्रेन विल आस्टिन 'द इंडियन कान्स्टिट्यूशन : कार्नर स्टोन आफ ए नेशन' (लंदन १९६६)।

[5] पट्टाभि सीतारामैया, 'द हिस्ट्री आफ द इंडियन नेशनल कांग्रेस' (बंबई १९४६) - १, पृष्ठ ४६३।

[6] देखें - ई० स्टोक्स, 'द इंगलिश युटिलिटेरियन्स ऐंड इंडिया' (आक्सफर्ड १९५९)।

संस्था-निर्माण

स्वतंत्रता के साथ भारत में परिवर्तन और पुनर्निर्माण का नया दौर शुरू हुआ, किंतु इससे राजनीतिक परंपरा के विकास का चलता हुआ क्रम टूटा नहीं। हिंदू परंपरा पाश्चात्य विचारधारा और राष्ट्रीय पुनरुद्धार की भावना की परस्पर प्रतिक्रिया से परिवर्तन का जो क्रम शुरू हुआ उसने भारतीय समाज की नींव को आघात पहुँचाए बिना उसे एक नयी दिशा दी। अगस्त १९४७ में सत्ता देश के पुराने और मान्य नेताओं के हाथ में ही आई। जिस कांग्रेस ने अब तक राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व किया था उसी ने अब देश का शासन संभाला।[1] विचारों और अनुभवों में नया शासक वर्ग बहुत सी बातों में पुराने शासक वर्ग से मिलता था। ब्रिटिश शासन के अंत के बाद भी, उसके आदमी, संस्थाएं और विचार बने रहे। इन विचारों और परिपाटियों को संवैधानिक और संस्थागत रूप दिया गया।

संविधान का निर्माण

एशिया और अफ्रीका के नए स्वतंत्र देशों को अपना संविधान बनाने और उसे अमली रूप देने में बहुत कठिनाई हुई है।[2] भारत में ऐसी कोई कठिनाई नहीं हुई। न सिर्फ यहां तेजी से विस्तृत संविधान बना लिया गया[3] बल्कि उसके आधार

१ गांधी स्वयं इसके विरुद्ध थे। वह चाहते थे कि राजनैतिक संगठन के रूप में कांग्रेस को भंग करके उसे लोक सेवक संस्था का रूप दिया जाए। यद्यपि यह उनके आदर्शों के अनुरूप था, पर यह राजनैतिक वास्तविकता को न समझ सकने का द्योतक था और इसी लिए किसी ने इस पर ध्यान न दिया।

२ एडवर्ड शिल्स का निबंध 'द फार्चून्स आफ कांस्टिट्यूशनल गवर्मेंट इन द पोलिटिकल डेवलपमेंट आफ द न्यू स्टेट्स' जान हल्लोवेल संपादित 'डेवलपमेंट फार ह्वाट?' (डरहम १९५७) तथा सेमुएल पी. हटिंगटन 'पोलिटिकल डेवलपमेंट ऐंड पोलिटिकल डिके' वर्ल्ड पालिटिक्स, १७, सं ३ अप्रैल १९६५।

३ दिसंबर १९४६ से नवंबर १९४९ तक १६५ दिन संविधान सभा ने काम किया। जनवरी २६, १९५० को नया संविधान स्वीकार किया गया और भारत को पूर्ण प्रभुत्वसंपन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य घोषित किया गया।

पर लोकतंत्री सस्थाओ का लवा चौडा ढाचा भी खडा कर दिया गया जो अब तक काम कर रहा है। इसका कारण यह है कि मूल बातो पर स्वतन्त्रता के पहले की पीढी एकमत थी और स्वतन्त्रता के बाद की पीढी म भी इन्ही विचारो को मान्यता मिली। हम देख चुके है कि राष्ट्रीय आदोलन के लबे क्रम मे किस प्रकार सिद्धाता और उद्देश्या पर खुल कर विचार हुआ और उन्हे काग्रेस के प्रस्तावा मे ठोस रूप दिया गया। सन १९२८ मे ही काग्रेस द्वारा आयोजित सवदल सम्मेलन ने मोतीलाल नेहरू कमेटी को नियुक्त किया[४] जिसने स्वतन्त्र भारत क राजनतिक ढाचे की रूप-रेखा बनाई। इसने ससदीय और सघीय ढाचे की सिफारिश की थी और मूल अधिकारा की विस्तृत सूची बनाई थी। इस सूची के १९ म स १३ अधिकार १९५० में तैयार सविधान के मौलिक अधिकार और निर्देशक सिद्धात सबधी अध्याय में करीब करीब उसी रूप में ले लिए गए। १९३१ मे कराची काग्रेस मे मोतीलाल के पुत्र जवाहरलाल ने प्रसिद्ध कराची प्रस्ताव पेश किया जिसमे काग्रेस के उद्देश्या को विस्तार से निरूपित किया गया था। काग्रेस के इतिहास-लेखक डा० सीतारामया के शब्दा मे जवाहरलाल का कहना था कि इन बाता पर राष्ट्र का दिमाग बिलकुल साफ होना चाहिए और जनता में इन्ही का प्रचार होना चाहिए।[५]

इस प्रकार राजनीतिक व्यवस्था के बारे मे पहले से विचार स्पष्ट होने के कारण सविधान सभा मे (१९४७-४८) इस पर बहुत ज्यादा बहस-मुबाहसे की जरूरत नही पडी।

फिर भी इस समय सोचने का मौका था कि देश में किस प्रकार का राज्यतन्त्र कायम हो। सविधान सभा मे कुछ लागो ने कहा कि देश की पुरानी सस्थाओ को नए युग के अनुरूप कुछ परिवतन के साथ स्थापित किया जाय। कुछ लोगो का ख्याल था कि अनपढ जनता को वोट और चुनाव का अधिकार देना ठीक नही, और ये चीजे देश की पुरानी परपरा के प्रतिकूल ह। परन्तु आधुनिकतावादिया की सख्या अधिक थी और उनका कहना था कि भारत को इधर केवल ससदीय लोकतन्त्र का ही अनुभव हुआ है, और मध्यकालीन या प्राचीन राज्य का अनुभव अब काम नही दे सकता क्योकि आधुनिक युग का तकाजा है कि जनसमूह को देश के शासन मे हिस्सा दिया जाय और आर्थिक व सामाजिक न्याय की प्रतिष्ठा की जाये। गरीबी और निरक्षरता के आधार पर जनता का अधिकार से वचित रखना अगरेजा के तक को स्वीकार करना है जो स्वय अपने देश में तो लोकतन्त्र की दुहाई देते थे परतु भारतीयो को स्वशासन के अयोग्य मानते थे।[६]

४ सम्मेलन में ३४ राजनैतिक दलों के प्रतिनिधि शामिल हुए थे। देखें - ग्रेन विल आस्टिन 'द इडियन कान्स्टिट्यूशन कार्नर स्टोन आफ ए नेशन' (लदन १९६६)।

५ पट्टाभि सीतारमैया, 'द हिस्ट्री आफ द इडियन नेशनल काग्रेस (बबई १९४६) - १ पृष्ठ ४६३।

६ देखें - ई स्टोक्स, 'द इगलिश युटिलिटेरियन्स ऐंड इडिया' (आक्सफोर्ड १९५९)।

बहस के दौरान इस बात पर जोर दिया गया कि लोकतंत्रात्मक संस्थाओं को विदेशी या बाहर की चीज नही समझना चाहिए, क्योंकि प्राय एक पीढ़ी से देश में प्रतिनिधि संस्थाएं काम करती रही है और जब कि राष्ट्रीय नेता कहते थे कि इन संस्थाओं के अधिकार बढ़ाए जाएं तब अंगरेज सरकार इसका विरोध करती थी। कांग्रेस लगातार बालिग मताधिकार और संसदीय शासन की माग करती आई थी। इससे देश की प्राचीन परंपरा को भी कोई खतरा नहीं था। जैसा कि एक सदस्य ने कहा – संसदीय प्रणाली पर किसी एक देश का एकाधिकार नहीं है और इसको ग्रहण करने से हमारी 'भारतीयता' में कोई फरक नहीं पडता। भारत को आधुनिक युग की सभी नई विधियों को ग्रहण करके अपने विशिष्ट राष्ट्रीय व्यक्तित्व का विकास करना चाहिए। इन विचारों को सदस्यों का अत्यधिक समर्थन मिला और जब जवाहरलाल ने संघ विधान समिति की रिपोर्ट की धारा १० को पेश किया जिसमें भारत में मंत्रिमंडल शासन और संसदीय लोकतंत्र की स्थापना की सिफारिश की गई थी, तो इसका कोई विरोध नहीं हुआ और यह ऐतिहासिक निर्णय बिना शोरगुल के आसानी से ले लिया गया।[७]

किंतु राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान केवल सामान्य सिद्धान्तों पर सहमति हुई थी, जब इनको ठोस रूप देने का प्रश्न आया तो काफी मतभेद खडे हुए और संविधान निर्माताओं को विरोधी विचारों में सामंजस्य करना पडा। जिन महत्वपूर्ण प्रश्नों पर मतभेद हुए उनमें राज्य और केंद्र में अधिकारों का बंटवारा, संविधान की व्याख्या करने में न्यायालय की भूमिका, उचित विधि या कानून की परिभाषा, नागरिक की व्यक्तिगत स्वतंत्रता और राष्ट्र की सुरक्षा में सामंजस्य, संपत्ति के अधिकार की सामाजिक न्याय और आर्थिक विकास से संगति, सत्ता का विकेंद्रीकरण तथा अल्पसंख्यकों, हरिजनों और आदिम जातियों को विशेष संरक्षण के विषय थे।

राष्ट्रीय आंदोलन के समय कुछ विशेष परिस्थितियां थीं जिनके कारण कुछ सिद्धांत स्वीकृत किए गए, अब वे परिस्थितियां बदल गई थीं। जैसे पहले देश के विभाजन की बात नहीं सोची गई थी, इसलिए मुसलमानों को भरोसा दिलाने के लिए व्यक्तिगत अधिकारों और प्रांतीय स्वायत्तता पर बहुत जोर दिया गया था। देश के विभाजन और भयानक खूनखराबे के अनुभव के बाद देश का और विभाजन रोकने के लिए केंद्रीय सत्ता को राज्यों पर नियंत्रण रखने का अधिकार देने की आवश्यकता प्रतीत हुई। इसी तरह राष्ट्रविरोधी गतिविधियों को रोकने के लिए सरकार को एहतियाती नजरबंदी का अधिकार दिया गया यद्यपि यह लोकतंत्र के

---

७ संविधान सभा में इस विषय पर बहस के विवरण के लिए देखिए – डब्ल्यू एच मारिस-जोन्स, 'पार्लमेंट इन इंडिया' (लंदन १९५७)

नागरिक की अत्यत बुनियादी स्वतत्रता के प्रतिकूल था।[८] इसी तरह न्यायालयों को बुनियादी अधिकारो की रक्षा के अधिकार देते समय यह भी जरूरी समझा गया कि राज्य को आर्थिक और सामाजिक विषमता को दूर करने के लिए कारवाई करने का भी अधिकार रहे। इस उद्देश्य से उचित विधि (ड्यू प्रोसस) सबधी प्रस्तावित धारा म सशोधन किया गया। ये सारी व्यवस्थाए बडी लबी बहस मुबाहसे के बाद ही की गईं।[९]

सविधान बनाने में सभी वर्गों की सहमति प्राप्त करने की कोशिश की गई। देश के विभाजन के बाद काग्रेस का प्रचड बहुमत हो गया था फिर भी उसने सविधान सभा मे सभी मुख्य सप्रदायो और राजनीतिक मतो को प्रतिनिधित्व दिया। उसने सवण हिंदुओ के अलावा हरिजनो, मुसलमानो, सिखो, ईसाइयो, ऐंग्लो इडियनो और पारसियो के प्रतिनिधियो को सविधान सभा म निर्वाचित कराया। सभा के ३१ हरिजन सदस्यो म से २९ काग्रेस के नामजद थे। इसी तरह उसने ऐसे लोगो को भी लिया जिनका काग्रेस से कभी सबध न था। इनम डा सवपल्ली राधाकृष्णन और गोपाल स्वामी अययगार जसे लोग थे। यही नही उसने काग्रेस के विरोधियो को भी स्थान दिया। इनम जनसघ के सस्थापक डा श्यामाप्रसाद मुखर्जी और हरिजन नेता डा अम्बेडकर जसे लोग थे। डा अम्बेडकर ड्राफ्टिंग कमेटी के सभापति चुने गए और सविधान के रचयिता क नाम से प्रसिद्ध हुए। वास्तव में ड्राफ्टिंग कमेटी के ९ सदस्यो मे केवल एक प्रमुख काग्रेसी श्री क मा मुशी थे। अल्पसख्या सबधी कमेटी मे न केवल अल्प सख्याओ को पूरा प्रतिनिधित्व दिया गया बल्कि इसमे तो वे लोग भी लिये गये जो सविधान सभा के सदस्य नही थे, जैसे श्री पी के साल्वे (ईसाई), रूपनाथ ब्रह्म (आदिम जाति), एम वी एच कालिस (एग्लो इडियन) और एम रत्नस्वामी। मुस्लिम लीग के टिकट पर चुने गए तीन सदस्य भी इस कमेटी म लिए गए। यह सकुलरवाद का दिखावा मात्र नही था। काग्रेस की ईमानदारी इससे प्रकट है कि सविधान सभा का सूत्र सचालन करने वाली अतरग मडली में भी निदलीय सदस्यो को स्थान दिया

---

८ देखें - डेविड एच, बेली, 'पब्लिक लिबर्टीज इन न्यू स्टेट' (शिकागो १९६४) पृ २६-३५, तथा उन्हीं का 'प्रिवेंटिव डिटेंशन इन इडिया, ए केस स्टडी इन डमोक्रेटिक सोशल कट्रोल' (कलकत्ता १९६२)

९ आस्टिन (पूर्वोक्त) ने इसका बहुत अच्छा वर्णन किया है। सविधान के इतिहास के लिए देखें - शिवराव का 'द फ्रेमिंग आफ इन्डियान कान्स्टिट्यूशन' - ५ खडों में (नई दिल्ली १९६६-६८)

म इस विषय में श्री बशारुद्दीन अहमद के साथ हुए विचार-विनिमय से काफी लाभान्वित हुआ हूँ।

गया था।[१०]

संविधान सभा में बहुमत के बल पर निर्णय लेने के बजाय सबकी सहमति प्राप्त करने की कोशिश की गई। नेहरू ने सदस्यों से कहा था, 'आप जल्दबाजी न करें और जहां तक संभव हो एक राय से फैसले करें।' इसी भावना से प्रेरित होकर संविधान सभा के अध्यक्ष डा. राजेंद्रप्रसाद बहस स्थगित करके मनमुटाव के लिए समय दिया करते थे ताकि 'किसी पर जबरदस्ती न हो।' नेता लोग यह समझते थे कि बहुमत के बल पर बना संविधान टिकाऊ नहीं होता। इस प्रकार राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर गर्मागर्म बहस के समय राजेंद्र बाबू ने सदस्यों से कहा कि—'इस विषय पर जो निर्णय हो, वह यदि पूरे देश को स्वीकार्य न होगा तो उसे अमल में लाना बहुत कठिन होगा।'[११] संविधान सभा का सारा काम इसी भावना से ओतप्रोत था। नेताओं को यह भान था कि वे महज कोई दस्तावेज नहीं बना रहे हैं बल्कि एक राष्ट्र का निर्माण कर रहे हैं। उन्होंने नींव को मजबूत बनाने में पूरा जोर लगाया।

हमने इस प्रसंग का कुछ विस्तार से वर्णन किया क्योंकि इससे पता चलता है कि नए राष्ट्र की संस्थाओं का ढांचा तैयार करते समय किस प्रकार निर्णय लिए गए। यह संविधान भारत के भविष्य की आधार-शिलावत् था और इसकी रचना में नेताओं ने पुराने और नए विचारों में अधिक से अधिक सामंजस्य लाने का प्रयत्न किया। परिणामस्वरूप संसदीय शासन का संघीय ढांचा स्वीकार किया गया, जिसमें केंद्र और राज्यों में मंत्रिमंडल सरकार बनाई गई और सरकार को व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सामाजिक न्याय के लिए लोकतंत्री ढंग से काम करने का निर्देश दिया गया।[१२] राज्य की संस्थाओं का जो ढांचा तैयार हुआ, वह स्वरूप में आधुनिक है किंतु राष्ट्रीय एकता और सामाजिक साम्य के ख्याल से उसमें कुछ विशेष व्यवस्थाएं की गई जिससे वह पश्चिमी नमूने से भिन्न हो जाता है। भारत का राष्ट्रपति केवल नाम का पद है, फिर भी उसको राज्यों में कानून और व्यवस्था

---

१० आस्टिन-पृ. १८-१९ अंतरंग मंडली के ११ सदस्यों का नाम देता है। इनमें ७ कांग्रेसी थे-राजेंद्रप्रसाद, आजाद, पटेल, नेहरू, पंत, सीतारमैया और सत्यनारायणसिंह। अंबेडकर, अ. कृ. अय्यर और गोपालस्वामी अय्यंगार गैर कांग्रेसी थे। अंबेडकर तो कांग्रेस के कट्टर विरोधी थे। क. मा. मुंशी भी बाद में कांग्रेस से अलग हो गए।

११ यह भ्रम पैदा किया गया कि हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने का निर्णय केवल एक वोट के बहुमत से किया गया था। यह बिल्कुल गप है। केवल कांग्रेस असेंबली पार्टी में अंग्रेजी अंकों को रखने का निर्णय एक वोट के बहुमत से हुआ था। देखें-आस्टिन-पृ. २९९-३००। भाषा के प्रश्न पर निर्णय लंबी बहस और लेन-देन के बाद किया गया।

१२ इनका वर्णन 'निर्देशक सिद्धांत' के अध्याय में किया गया है। इसमें बड़े ऊंचे आदर्शवाद की झलक है।

भग होने की स्थिति मे वहुत अधिक आपत्कालीन अधिकार दिए गए।[13] राज्या के गवनर की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है, राज्य की जनता या विधान मडल नही। केन्द्रीय सरकार की सलाह पर राष्ट्रपति आपत्कालीन अधिकारा का प्रयोग और नियुक्तिया करता है। केन्द्रीय सरकार को देश के राजस्व का अधिकाश भाग और राज्यो पर प्रशासनिक और निर्देशक अधिकार दिये गये। समवर्ती विषया पर और अन्य कई मामला में केन्द्रीय ससद के अधिकार राज्यो से ऊपर हैं और राज्या में सवधानिक मशीनरी के टूट जाने पर, ससद उनके विधानमडला और शासन के अधिकार ले सकती है। केन्द्र को अवशिष्ट अधिकार भी दिये गये। इस प्रकार केन्द्र को वहुत शक्तिशाली वनाया गया। दूसरी ओर गाव पचायतो और स्थानीय स्वशासी सस्याओ की स्थापना के द्वारा और राज्या को शासन के वडे काम सौंप कर, शासन व्यवस्था को सघीय रूप दिया गया और शासन मे जनता को तथा प्राता, जिला और गावो का भी हिस्सा दिया गया।

सविधान की एक विशेषता अनुसूचित जातियो, आदिम जातियो और पिछडे वर्गो को सरक्षण देना है। इनके लिए सरकारी नौकरिया और विधान मडला में स्थान सुरक्षित किए गए है। इसी तरह देश की सभी मुख्य भाषाओ को राष्ट्रीय भाषाओ का पद दिया गया है। यद्यपि हिंदी का राजभाषा का पद दिया गया किंतु अहिंदी भाषी राज्यो के विरोध के कारण इसको लागू नही किया गया है। सविधान मे सशोधन की प्रक्रिया सरल रखी गई ताकि सामाजिक स्थिति के अनुसार इसमें परिवतन किया जा सके। वित्त आयोग और चुनाव आयोग जैसे स्वायत्त प्राधिकरणा को कायविधि मे महत्वपूण परिवतन के अधिकार प्राप्त है। यदि न्यायालय समय के विपरीत चले तो ससद को उनको नियन्त्रित करने का अधिकार दिया गया है। विशेष अधिकार-प्राप्त सम्मेलन और आयोगा के जरिये केन्द्र और राज्या के मतभेद दूर करने की व्यवस्था की गई है।[14] इसके बावजूद भी सवैधानिक कठिनाइया उठ सकती ह। इन पर हम राजनैतिक व्यवस्था के काया वयन सवधी अध्याय में विचार करेंगे।

स्थिरता और परिवतन की समस्याए

सविधान की रचना और १९५० में भारत गणराज्य की स्थापना देश में राज-

---

१३ इस विषय पर सविधान निमाताओ के विचारों को टी टी कृष्णमाचारी ने इस प्रकार प्रकट किया "*राष्ट्रपति और मन्त्रिमडल के सबधों के बारे में हमने ब्रिटेन की शासन-प्रणाली* का अनुकरण किया। हा, हमने अपने सघाय ढाचे के कारण कुछ विशेष व्यवस्था की है।" सविधान सभा के डिबेट-१०, पृ ९५६। परन्तु इस मत का भारत के प्रथम राष्ट्रपति डा राजेन्द्रप्रसाद तथा कुछ और लोगों ने खडन किया है।

१४ आस्टिन – आखिरी अध्याय-'कमेंट्स आन ए सक्सेसफुल कांस्टिट्यूशन', पृ ३०८-३३०।

नीतिक सम्थाओ के निर्माण गौर जनता की सहमति प्राप्त करने की लगातार चाल क्रिया के ही अग थे। राष्ट्रीय एकमत के और विकास के क्रम मे सविधान, नई सस्थाआ के विकास और 'राजनीतिक व्यवस्था के पुर्ननिर्माण' के प्रश्न उठे हैं।[१५] नई सस्थाआ की स्थापना से नए आचारविचार, तौर तरीके व परपराए तथा सत्ता की नई शखलाए विकसित होती हैं और राजनीति के सामाजिक ढाचे में परिवतन होता है। भारत मे सत्ता की यह शखला और जनता व शासन मे सपक दो मा'यमा मे स्थापित हुआ। एक है प्रशासन या सरकारी अमला, जिमका विकास मुगला और अग्रेजा के राज के समय हुआ और राष्ट्रीय योजना के तकाजे से जिसका और विकास हुआ। दूसरा है काग्रेस दल का ढाचा, जिसका विकास राष्ट्रीय आदोलन के समय हुआ। स्वतत्रता के वाद सरकारी सत्ता व अधिकार तथा चुनावा क कारण इसका वहुत विस्तार हुआ है। इन दोना के द्वारा और इनके परस्पर प्रभाव के कारण भारतीय राज्यतत्र का वतमान रूप स्थिर हुआ। इस बीच सविधान द्वारा स्थापित ढाचे मे भी परिवतन हुए ह, कुछ तो वतमान ढाचे की खामियो सुधारी गई और कुछ सामाजिक पुर्ननिर्माण और प्रतिनिधि शासन के नए विचारा के प्रभाव से नये उपाय किये गये।

स्वतत्रता के साथ नई समस्याए आइ। साप्रदायिक दगो और उपद्रवा के शमन के साथ साथ पाकिस्तान स उदवासित लाखा आदमिया का बसाने का कठिन काय तथा तेलगाना में कम्युनिस्ट प्रेरित किसाना का बलवा, निजाम हैदरावाद के खिलाफ पुलिस कारवाई। सरकार को अग्रेजी जमाने के सरकारी नौकरो और सेनाओ का विश्वास और वफादारी प्राप्त करनी थी। इसके अलावा साप्रदायिक शक्तिया को भी दवाना या, जो देश के विभाजन के बाद उमड आई थी। असतुष्ट प्रादशिक और राजनीतिक समहा को सतुष्ट करना था। सबसे वडा काम था देशी रियासतो को मिलाने का।[१६] इसम राजनीतिक कुशलता और सगठनपटुता की जरूरत थी। सक्षेप मे नेताआ के सामने यह काम था कि देश को विघटित होने से बचाए और उसके विभि'न भागो और तत्वो को मिला कर एक राष्ट्र की रचना करे।

नेताआ की समझदारी और दूरदर्शिता की तारीफ है कि उन्हाने इन कठिन समस्याआ को काफी जल्दी सुलझा लिया। भारत के प्रथम गहमत्री वल्लभभाइ पटेल

---

१५ यह जयप्रकाश नारायण के एक लेख का शीर्षक है। हम इस पर दलों में सहयोग विषयक अ याय में विचार करेंगे।

१६ भारत का जो भाग अग्रेजों के सीधे शासन में था उसे ब्रिटिश भारत कहा जाता था। इसक अलावा देशी राजाओं के शासन में करीब ५०० छोटी बडी रियासतें थी। ये स्वतत्र राज्य नहीं, ब्रिटिश आधिपत्य के अतर्गत थे। किंतु अग्रेजों के हटने से भारत और पाकिस्तान का अपने आप इनके ऊपर आधिपत्य नहीं मिला। इसलिए देशी रियासतों को शेष देश में मिलाने की टेढ़ी समस्या पैदा हुई।

ने देशी रियासतो को भारत मे मिलाने का काम बडी खूबसूरती से पूरा किया। इससे भी बडी सफलता उन्होने देश में शाति और व्यवस्था स्थापित करने और प्रशासकीय और सैनिक सेवाओ की निष्ठा प्राप्त करने मे पाई। स्वतत्रता आदोलन के समय भारतीय अधिकारियो को देशद्रोही और अगरेजो का गुलाम कहा जाता था, इस कारण स्वतत्रता आने पर वे लोग घबराए हुए थे। पटेल ने सरकारी नौकरो को आश्वासन दिया कि उनकी स्थिति वही रहेगी जो पिछले शासन मे थी और उन्होने राजनीतिक लोगो से कहा कि वे सरकारी कर्मचारियो के काम मे दखल न दे। उन्होने देश मे स्थिरता कायम करने मे भारतीय सिविल सर्विस की योग्यता का बहुत अच्छा उपयोग किया। सेना के प्रति भी उनका यही रुख था।

नेताओ ने बडे प्रश्नो पर दढता दिखाने के साथ साथ विरोधी और भिन्न मतो के साथ समाधान करने की भी कोशिश की। इस नीति से उन्हे उपर्युक्त समस्याओ को सुलझाने मे बडी मदद मिली। स्वतत्रता के बाद के दशक मे उनकी यही सामान्य नीति रही। अपना कार्यक्रम निर्धारित करने मे वे जहा तक हो सके सघर्ष बचाते थे। नेहरू ने सन १९५२ मे इस बात को यो कहा था, "इस नाजुक समय मे मैं देश की एकता को सर्वोपरि समझता हूँ। जब तक इस एकता की नीव पक्की न हो जाए, हमें ऐसी कारवाई से बचना चाहिए जो इसमे बाधक हो"।[१७]

देश की एकता और मजबूती के साथ साथ नेतावर्ग सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रो मे देश की प्रगति के लिए भी उत्सुक था। तात्कालिक समस्याओ के समाधान और नये सविधान के लागू होने के बाद भारत सरकार ने योजना कमीशन की स्थापना की। इसका पचवर्षीय योजनाए बनाने, सामाजिक और आर्थिक कार्यक्रम की प्राथमिकता निर्धारित करने और आर्थिक विकास की रूपरेखा तैयार करने तथा उसको कार्यान्वित करने के लिए साधन जुटाने के उपाय सुझाने का काम सौपा गया। बहुत थोडे समय मे ही विकास के आयोजन मूल्याकन और सलाह मशविरे के लिए केन्द्रीय मशीनरी का विकास कर लिया गया।[१८] स्मरण रहे कि सविधान में योजना आयोग का जिक्र भी नही था। इसकी स्थापना नेहरू के इस दृढ विचार के कारण हुई कि राजनीतिक को मजबूत बनाने के लिए शुरू मे ही देश के आर्थिक

१७ 'स्पीचेज आफ जवाहरलाल नेहरू १९४९–५३' (भारत सरकार, दिल्ली १९५४) सघर्ष बचाने के विषय पर 'सेमिनार' (नई दिल्ली) ६३, नवबर १९६४ में देखिए जितेन्द्र सिंह का लेख 'ए न्यू लेजिटिमेसी'।

१८ सरकार का योजना और तथ्य-सकलन की मशीनरी के बारे म देखिए – विलफ्रेड मैल्कम-बाम, 'हू डज द प्लानिंग?' और मेरिल आर गुडल का लेख- आर्गनाइजेशन आफ एडमिनिस्ट्रेटिव लीडरशिप इन द फाइव ईयर प्लैन्स, रिचर्ड एल पार्क और इरेन टिंकर द्वारा सपादित 'लीडरशिप ऐंड पोलिटिकल इस्टीट्यूशन्स इन इडिया' में (प्रिंसटन १९५९), पृ ३०१–२८। राजनीतिक प्रक्रिया के रूप में योजना के विशद अध्ययन के लिए देखें – ए एच हैन्सन 'द प्रोसेस आफ प्लानिंग' (लदन, १९६६)

विकास की नीति से कर लेनी चाहिए। इसी के साथ केन्द्रीय सरकार ने ससद स अस्पश्यता निवारण जस अनेक समाज हित और सुधार के कानून भी पास कराए। राज्यो मे भी जमीदारी उन्मूलन के कानून बनाए गए और गरीब व दलित वर्गो को सरक्षण व सुविधाए दी गइ। इन कानूना को अदालत में चुनौती न दी जा सक इस हेतु सविधान मे सशोधन किए गए। इसस प्रकट होता है कि नेताओ को यह ध्यान था कि राष्ट्रीय एकता केवल झगडे की बातो को टालते रहने से नहा बनी रह सकती उसके लिए सघष के कारण को दूर करने के लिए रचनात्मक कारवाई करनी भी जरूरी है जिसस एकता की शक्तिया का बल बढे।

स्वतन्त्रता के तुरत बाद की इस अवधि मे कुछ काय ऐसे हुए, जिनस एकता को बल मिला। यद्यपि ये काय आर्थिक और सामाजिक विकास के उद्देश्य से किए गए, फिर भी इनस सघष के कुछ ऐसे कारण दूर हुए, जो उग्र होकर देश की एकता को नुकसान पहुचा सकते थे। श्रमिको के हिता की रक्षा के लिए जो कानून बनाए गए तथा काग्रेसजनो ने मजदूर सघा के काय मे जो रुचि ली, उससे औद्योगिक सघर्षो को रोकने म मदद मिली। इसी तरह अनुसूचित जातिया और पिछडे वर्गो को शिक्षा और सरकारी नौकरियो म जो विशष सरक्षण दिए गए और उनकी सामाजिक स्थिति को सुधारने की जा कारवाइया की गइ, उससे ऊची जातिया से उनका सघष टला। जमीदारी और सामती अधिकारा के उन्मूलन से भी सघष का एक बडा कारण दूर हुआ।

स्वतन्त्रता के प्रथम दशक म देश के सूत्रधारा ने एक और महत्त्वपूण काय किया। यह था भाषा के आधार पर राज्या का पुनर्गठन। अग्रेजा ने सामाजिक और सास्कृतिक आधारा की उपेक्षा करके केवल शासन की सुविधा के ख्याल से प्राता का निमाण किया था।[१९] राष्ट्रवादिया को यह बात पसद न थी और राष्ट्रीय आदोलन के समय कई बार काग्रेस ने भाषावार प्रातो की स्थापना का निश्चय प्रकट किया था। १९२१ म काग्रेस ने अपनी प्रदेश शाखाए इसी आधार पर स्थापित की थी। लेकिन स्वतन्त्रता के बाद जो कठिन समस्याए आई उनके कारण काग्रेस राज्या क इस प्रकार पुनगठन पर ध्यान न दे सकी और कुछ यह भी ऊहापोह होने लगा कि भाषावार राज्य बनाना उचित है या नही। यद्यपि नवबर १९४७ म नेहरू ने सविधान सभा म भाषावार राज्या के सिद्धान्त को स्वीकार किया था, लेकिन सविधान सभा द्वारा नियुक्त भाषावार प्रात कमीशन (धर कमीशन) ने भाषा के

१९ इस शताब्दी में अग्रेजों ने प्रातों की रचना भाषा और सस्कृति के आधार पर करने के सिद्धान्त के महत्त्व को स्वीकार किया और बिहार, उडीसा, आसाम और सिंध (अब पाकिस्तान में) के नए प्रान्त इसी प्रकार बने थे। १९१८ की मांटेगु-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट और १९३० की साइमन कमीशन की रिपोर्ट में भी भाषावार प्रातों की स्थापना की सिफारिश की गई था।

...ी गई। ... किया इसलिए संविधान म ऐसे ...न भाषावार राज्यो के निर्माण की माग जोर पकडती गई। विशेषत मद्रास प्रात से तेलुगु भाषी जिलो को अलग करके आध्र प्रदेश की स्थापना के आदोलन ने उग्र रूप पकडा। अत १९४९ म काग्रेस कार्यसमिति ने इस माग को स्वीकार कर लिया। लेकिन केन्द्रीय सरकार अब भी हिचक रही थी क्योकि उसे डर था कि इससे इसी प्रकार के और राज्यो की स्थापना की माग उठेगी। सरकार का ख्याल था कि ऐसे राज्यो के निर्माण से प्रातवाद जोर पकडेगा और राष्ट्र की एकता कमजोर होगी। इस प्रश्न पर काग्रेस म मतभेद हो गया। काग्रेस ने आदेश दिया कि काग्रेसजन भाषावार राज्यो के आदोलन से अलग रहे किंतु इस आदेश का पालन नही किया गया और सभी दल इस आदोलन म शामिल हुए। आध्र की माग के समर्थन म पोट्टी श्रीरामुलु ने अनशन करके प्राण दे दिये। इससे ...र को यह माग स्वीकार करनी पडी और अक्टूबर १९५३ म तेलुगु भाषी ...प्रात का निर्माण हुआ। इससे भाषावार राज्यो की माग ने जोर पकडा। ...ग पर विचार करने के लिए सरकार ने दिसम्बर १९५३ म राज्य पुनर्गठन ...की नियुक्ति की। इसने खूब जाच पडताल के बाद सन १९५५ म अपनी ...दी। इसने भाषा के आधार पर राज्यो के पुनर्गठन का सिद्धात स्वीकार ...र राज्यो के तदनुसार पुनर्गठन की सिफारिश की। कुछ हेरफेर के साथ ...रिश स्वीकार की गई और १९५६ म इसके अनुसार राज्यो का पुनर्गठन ... कुछ बहुभाषी राज्य अब भी छूट गए। सन १९६० म द्विभाषी बबई ...तोडकर महाराष्ट्र और गुजरात राज्यो की स्थापना की गई और १९६६ ...र हरियाना को अलग किया गया।

...ार भारत से सहानुभूति रखने वाले राजनीतिक पर्यवेक्षको की आश-...बावजूद पुनर्गठन से भारत का राजनीतिक नकशा अधिक सुसगत ...राष्ट्र की एकता को भी खास नुकसान नही पहुचा।[21] बल्कि इससे

...ोन्स जैसे यथार्थवादी आलोचक को भी इस विषय में आशका थी। भाषा... क्षेत्रों के दावेदार पडे। देखें उनकी पार्लमेंट इन इडिया (लदन १९५७)। ...राज्यों में है वहा काग्रेस का प्रभाव है जो इन वर्गों पर अकुश रखता है। ...कारण आध्र म किसान वर्ग के नेताओं को उभरने का मौका मिला है। इससे ...र्गों में घबराहट है जो जनता को देश की एकता का सूत्र समझता है। इस ...के लिए देखिए—सलिग हॅरिसन 'इडिया द मोस्ट डेंजरस डिकेड्स'

...ान में राज्यों की तीन श्रेणियां थीं—ए में भूतपूर्व अग्रेजी शासन में ...देशी रियासतें तथा सी में केन्द्र शासित प्रदेश। राज्यों के पुनर्गठन के ...ए राज्य और संघशासित क्षेत्र।

लाभ यह हुआ, कि झगडे का एक कारण दूर हुआ और राज्यों का कामकाज ऐसी भाषा में होना संभव हुआ, जिसे जनसाधारण समझ सके। यदि यह न हुआ होता तो यह कहा जा सकता है कि भाषा जोडनेवाली शक्ति सिद्ध हुई।[22] यदि इसमें कोई आपत्ति की बात है तो यही कि उपभाषाओं और स्थानीय संस्कृतियों के आधार पर राज्यों के टुकडे न हो जाएं।[23]

इस प्रकार पहले दशक में भारतीय राष्ट्र का संवैधानिक प्रादेशिक और विकास का ढांचा तैयार किया गया। जहाँ संविधान की व्यवस्था में संशोधन की जरूरत पडी वहां संशोधन किए गए जैसे राज्यों का पुनर्गठन योजना आयोग की स्थापना और भूमिसुधार के लिए संपत्ति संबंधी अनुच्छेद का संशोधन। ब्रिटिश युग से चली आई घोर विषमताओं का अंत किया गया। योजनापूर्वक विकास का क्रम चालू किया गया। पहली पंचवर्षीय योजना १९५६ में पूरी हुई और दूसरा उससे बडी योजना शुरू की गई। १९५५ में आवडी अधिवेशन में कांग्रेस दल ने समाजवादी ढांचे का ध्येय स्वीकार किया। उद्योगों के बारे में पहले १९४८ में नीति की घोषणा की गई। १९५६ के उद्योग नीति प्रस्ताव में इसे और यथार्थ तथा व्यापक रूप दिया गया। इसके साथ ही गावों के विकास और ग्रामीणों को राजनीतिक कार्य की शिक्षा देने के लिए १९५२ में सामुदायिक विकास कार्यक्रम चालू किये गये और दस वर्ष में विकास खंडों का जाल बिछाया गया। बाद में पंचायती राज या लोकतंत्री विकेन्द्रीकरण का सूत्रपात हुआ। इस विषय के लिए नियुक्त अध्ययन टोली की रिपोर्ट सन १९५७ में प्रस्तुत हो चुकी थी।[24] इस बीच (१९४७–५७) दो आम चुनाव और बीसियों स्थानीय चुनाव हो चुके थे और कांग्रेस पार्टी की प्रधानता स्थापित हो चुकी थी।

२२ भाषा के प्रश्न के कुछ और पहलू हैं जो राष्ट्र की एकता के लिए खतरनाक हैं। इनमें सब से महत्व का प्रश्न है राजभाषा और क्षेत्रीय भाषाओं का द्वंद्व और अंग्रेजी का स्थान। इस विषय का विवेचन आठवें अध्याय में है।

२३ राज्य पुनर्गठन आयोग ने जनभावना का ख्याल रखते हुए एक भाषा के एक राज्य की सिफारिश की (हिन्दी भाषा राज्यों को छोडकर)। वास्तव में इसका कोई कारण नहीं कि हिंदी राज्यों की तरह अन्य भाषा-क्षेत्रों में भी एक से अधिक राज्य क्यों न हों। बाद के अनुभव से पता चला है कि भाषा के अलावा अन्य बातें भी हैं जो राजनीतिक एकता, प्रशासनिक कुशलता और आर्थिक विकास को प्रभावित करती हैं। इस विषय पर देखें–श्रीनिवास, 'द फ्यूचर आफ विज़न', टाइम्स आफ इंडिया नवंबर १६ १९६७ और रजनी कोठारी, 'नेशनल यूनिटी इन इंडर केस फार स्मालर यूनिट्स', टाइम्स आफ इन्डिया, फर १०,१९६८। हम इस प्रश्न पर अध्याय ८ में विचार करेंगे।

२४ योजना कमीशन – 'कमेटी आन प्लान प्रोजेक्टस, रिपोर्ट आफ द टीम फार द स्टडी आफ कम्युनिटी प्रोजेक्टस एंड नेशनल एक्सटेंशन सर्विस' (नई दिल्ली १९५७) इसे बलवंत राय मेहता कमेटी रिपोर्ट भी कहा गया। इस रिपोर्ट का ग्राम – विकास और ग्राम – लोकतंत्र संबंधी विचारों पर काफी प्रभाव पड़ा है।

इस प्रकार इस अवधि में राजनीतिक एकता और संस्थाओं की स्थापना की दिशा में काफी काम हुआ, जिस कारण देश आगे आने वाले दशक में और कठिन समस्याओं का सामना कर सका। तनावों और कठिनाइयों के बावजूद देश में एक हद तक स्थिरता बनी रही। विकास जारी रहा और संविधान द्वारा जो संस्थाएं कायम हुई उन्हें जड़ जमाने का मौका मिला। आगे जो विकास हुए, वे इसी ढांचे में हुए। उनसे ये संस्थाएं गतिशील हुई और जनता के संपर्क में आई। हम इस विकास की मुख्य बातों की चर्चा करेंगे।

केन्द्र और परिधि

संविधान द्वारा स्थापित संघीय शासन-तंत्र के अंतर्गत केन्द्र राज्य और जिलों के संबंध स्थिर हुए। केन्द्र और राज्यों में शासन का ढांचा करीब करीब एक ही तरह का है। फर्क यह है कि राष्ट्रपति का चुनाव संसद और राज्यों के विधान मंडलों के सदस्यों द्वारा होता है जबकि राज्यपालों की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है। संवैधानिक शासन के पिछले अनुभव, ब्रिटिश राजनतिक परंपरा, जनमत और केन्द्र तथा राज्यों के प्रभावशील नेताओं की राजनैतिक समझ ने केन्द्र और राज्यों के संबंध को प्रभावित किया है। इन संबंधों पर विशेष राजनतिक प्रवृत्तियों नेताओं और विभिन्न हितों के संगठनों का भी प्रभाव पड़ा है। सब से बढ़कर इन पर इस बात का प्रभाव पड़ा है कि स्वतंत्रता के बाद के दो दशकों में केन्द्र में तथा लगभग सभी राज्यों में लगातार एक ही दल का शासन रहा है।

राज्यों के हाथ में देश के शासन का बहुत बड़ा भाग है। यद्यपि उन्हें आर्थिक साधनों के लिए केन्द्र पर निर्भर रहना पड़ता है और विकास कार्यों का संयोजन भी केन्द्र करता है, फिर भी राज्यों में अपने अधिकारों पर जोर देने की प्रवृत्ति है और देश के शासन में वे ज्यादा हाथ चाहते हैं। सबसे मुख्य बात है राज्यों के मुख्य मंत्रियों की महत्त्वपूर्ण स्थिति। मुख्य मंत्री न केवल राज्य का सब से शक्तिशाली व्यक्ति होता है, बल्कि राष्ट्रीय क्षेत्र में भी उसका महत्त्व बढ़ रहा है। प्रधानमंत्री और कांग्रेस के अध्यक्ष के चुनाव जैसे महत्त्वपूर्ण मामलों में उनकी राय ली जाती है।[२५] इस प्रकार उन्होंने राष्ट्रीय नेताओं की स्थिति प्राप्त कर ली है। मुख्य मंत्रियों का यह महत्त्व उनकी शक्ति और उनके महत्त्वपूर्ण पद के कारण प्राप्त हुआ है।

शासक दल के भीतर भी इसी प्रकार की प्रवृत्ति काम कर रही है। राज्य कांग्रेस कमेटी और राज्य चुनाव कमेटियों का महत्त्व बढ़ रहा है। राज्य कांग्रेस का

---

२५ १९५५ में नेहरू ने कांग्रेस अध्यक्ष का पद छोड़ दिया। तब से एक बार को छोड़कर जब इंदिरा गांधी अध्यक्ष रहीं, कांग्रेस के अध्यक्ष राज्यों के मुख्य मंत्रियों में से ही चुने जाते रहे हैं। प्रधान मंत्री के चुनाव में मुख्य मंत्रियों के हाथ के बारे में अध्याय आठ देखिए।

अन्दर या अन्य किसी नाम का हुआ तो कांग्रेस का असली सरदार[२६] बड़ा शक्तिशाली होता है और अपनी बात केन्द्रीय नेताओं से भी मनवा लेता है। कांग्रेस के अलावा अन्य दलों में भी इसी प्रकार राज्य के संगठनों की शक्ति बढ़ी है।

भारत में सरकारी नीतियों और विकास कार्यक्रम को अमल में लाने का काम राज्य सरकार और नीचे के अधिकारियों का है। संविधान में केन्द्र और राज्यों के कार्यों का जो बंटवारा किया गया है वह यथार्थ स्थिति का द्योतक नहीं है। संविधान की आठवीं अनुसूची में कार्यों की तीन सूचियां दी गई हैं – (१) संघ सूची (२) राज्य सूची और (३) समवर्ती सूची। इन तीनों सूचियों में बहुत घालमेल है, खास कर कई काम समवर्ती और राज्य सूची दोनों में मिलते हैं। संविधान में यह भी व्यवस्था है कि कुछ स्थितियों में संसद समवर्ती सूची के विषयों पर भी कानून बना सकती है और राज्यसभा दो तिहाई बहुमत से संसद को राज्य सूची के भी किसी विषय पर कानून बनाने का अधिकार दे सकती है। केन्द्रीय सरकार को अनेक विषयों पर राज्य सरकार को निर्देश देने का भी अधिकार है। इनमें से कुछ विषय राज्य सूची के भी हैं। इसके अलावा राष्ट्रपति को कुछ हालतों में राज्यों के शासन में हस्तक्षेप का अधिकार है। वह राज्य का विधान सभा को भंग कर सकता है, राज्य के शासन को अपने हाथ में ले सकता है और राज्य के विधान-मंडल में विचाराधीन विधेयकों पर राज्यपाल से रिपोर्ट मांग सकता है। इस प्रकार केन्द्र को राज्यों के क्षेत्र में हस्तक्षेप का अधिकार है। इस कारण कुछ प्रमुख आलोचकों ने यहां तक कह डाला कि भारत नाम के लिए संघ है।[२७]

परन्तु स्वतन्त्रता के बाद से अब तक भारत में प्रशासन और सरकार की गतिविधि की समीक्षा से इस विचार का खंडन होता है। अक्सर राज्य सरकारें केन्द्र पर दबाव डालने में और उससे अपनी बात मनवाने में सफल रही हैं। केन्द्र के लिए सुरक्षित क्षेत्रों में भी राज्यों ने घुसपैठ की है और दूसरे देशों से व्यापारसंबंध भी स्थापित किए हैं।[२८] कई राज्यों के मुख्य मंत्री बड़े शक्तिशाली हैं और प्रधान मंत्री

२६ बंगाल कांग्रेस पर एक दशक से भी अधिक समय तक (१९६८ तक) अतुल्य घोष का राज्य रहा। अतुल्य घोष का राज्य सरकार या राज्य कांग्रेस में कोई पद नहीं था किंतु केन्द्रीय नेताओं पर उनका बड़ा प्रभाव था।

२७ संविधान विशेषज्ञ के सी व्हीयर ने भारत को अर्ध संघ कहा है – 'फेडरल गवर्नमेंट' (लंदन १९५३)। केन्द्र द्वारा राज्यों के अधिकारों के अपहरण के बारे में देखिये – 'द इंडियन जर्नल आफ पोलिटिकल साइंस' अक्टूबर–नवंबर १९ ३ में के वी राव का 'सेंटर–स्टेट रिलेशन्स इन थियरी ऐंड प्रेक्टिस'।

२८ पश्चिम बंगाल के शक्तिशाली मुख्य मंत्री डा विधानचंद्र राय ने एक विदेशी फर्म के साथ अपने राज्य की ओर से व्यापार समझौता किया था। कांग्रेस पर, विशेष कर नेहरू पर उनके प्रभाव के कारण इस मामले को नजरअंदाज किया गया। लेकिन इधर जब केरल के एक मंत्री और मद्रास के मुख्य मंत्री ने जापान तथा कुछ पश्चिमी देशों के साथ व्यापार के बारे में बातचीत की, तब स्वयं वित्तमंत्री मुरारजी देसाई ने कहा कि राज्य सरकारें यदि अपना व्यापार बढ़ाने का प्रयत्न करती हैं तो इसमें कोई बुराई नहीं।

को इनका बहुत ख्याल रखना पडता है। जैसा कि पाल ऐपिलबी ने कहा है कि, भारत की शासन प्रणाली ऐसी है जिसमे प्रशासन के सारे महत्त्वपूर्ण काय राज्य सरकारे करती हैं, और योजना की कार्यान्विति के लिए केंद्र को उन्ही पर निभर रहना पडता है। केंद्रीय सरकार मे सब अफसर हैं, कोई सिपाही नही इसका मतलब यह है कि क्षेत्र म काम करने वाले सब अधिकारी राज्य सरकारो के अधीन है। राज्य सरकारे समझती हैं कि केंद्र झखमार कर उन्हे आर्थिक सहायता देगा और उनके घाटे को पूरा करेगा। अनुदान देने की प्रणाली म केंद्र को राज्यो के काम की जाच और देखरेख का जो अधिकार रहता है इससे वह व्यथ-सा हो गया है। एपिलबी यहा तक कह गए कि भारत मे राज्य सरकारो के सामने केंद्रीय सरकार की कुछ नही चलती।[२९]

ये दोना ही विचार एकागी हैं। सघ प्रणाली की समस्याओ को हमेशा सघ और राज्य के द्वद्व के चश्मे से न देखना चाहिए। भारत म सघीय प्रणाली का विकास यहा की राजनीतिक स्थिति के अनुसार हुआ है।[३०]

भारत म राजनीतिक शक्ति के बटवारे को प्रभावित करने वाला एक नया तत्व है, निर्वाचन क्षेत्रो मे मतदाताओ और स्थानीय नेताओ का बढता हुआ महत्त्व। इसके कारण राजनीतिक और प्रशासनिक शक्ति का विकेंद्रीकरण हुआ है। जिला और राज्यो के नेताओ की शक्ति बढी है और राष्ट्रीय नता उनसे सलाह करने लगे हैं। योजना आयोग की राष्ट्रीय विकास समिति मे सभी राज्यो के मुख्य मत्री सदस्य हैं और योजना बनाते समय और उसे कार्यान्वित करते समय राज्यो के नेताओ से पूरा पूरा सलाह मशविरा किया जाता है और उनकी बात काफी मानी जाती है।

काग्रेस के चुनाव-यत्र पर राज्य और जिलो के नेताओ का बहुत हद तक नियत्रण रहता है। इसका एक कारण तो यह है कि इतने बडे देश म केंद्रीय नेता अधिकाश जनता के प्रत्यक्ष सपर्क म नही आते। दूसरे, चुनाव की जीत हार बहुत हद तक गावो के प्रमुख लोगो पर निभर होती है। इस कारण राज्यो की काग्रेस कमेटियो का महत्त्व बढ गया है, जसे योजना और विकास कार्यो के कारण राज्य सरकारो का महत्त्व बढा। नये नेता भी स्वभावत राज्यो से ही आते ह। राजनीति

२९ पाल एच ऐपिलबी, 'पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन इन इंडिया-रिपोर्ट आफ ए सर्वे' (दिल्ली १९५३)

३० केन्द्र-राज्य सबध के बारे में इन विरोधी मतों की समीक्षा के लिए मेरे फार्म ऐंड सब्स्टेंस इन इंडियन पालिटिक्स शीर्षक पहले लेख को देखें-इकनामिक वीकली १३, स १७ और १८, अप्रैल २९ और मई ६, १९६१। वाट्स के मत से सघ प्रणाली एकता और विभिन्नता की प्रवृत्तियों में सतुलन लाती है। 'न्यू फेडरेशन-एक्सपेरिमेंटस इन द कामनवेल्थ' (आक्सफोर्ड १९६६)। वाट्स ने भारत की सघीय प्रणाली पर विस्तृत विचार किया है।

का जनता में फैलाव और नए राजनीतिक दलों का उदय राज्यों में हुआ है और राज्यों से ही राष्ट्रीय क्षेत्र में नये नये नेता आए हैं।

इसके साथ ही एक प्रवृत्ति भी चालू है। राष्ट्रीय नेता वर्ग, राज्यों में होने वाले राजनीतिक झगडों में अक्सर बीच-बचाव और निपटारा करते रहे हैं। कांग्रेस कार्यकारिणी (हाईकमान) और केंद्रीय सरकार के प्रमुख सदस्य राज्य कांग्रेस के झगडों में समझौता कराते हैं और यह तय करते हैं कि नेतृत्व का सेहरा किसके सिर पर बंधे। कांग्रेस हाइकमान की शक्ति का यही स्रोत है। कांग्रेस की दलबंदियों पर गौर करने से पता चलेगा कि राज्यों के झगडों को निपटाने या भडकाने में केंद्रीय नेताओं का बडा हाथ होता है। राज्यों के नेता अक्सर यह शिकायत करते हैं कि यदि ऊपर से इशारा न मिले तो ये झगडे इतने न बढें। वास्तव में इन हथकंडों से केंद्रीय नेता प्रांतीय राजनीति पर अपना नियंत्रण और प्रभाव कायम रखते हैं और इसी पर केंद्रीय और प्रांतीय नेताओं की शक्ति निर्भर रहती है। साधारणतः केंद्रीय नेतृत्व का रुख यही रहता है कि विरोधी गुटों को बराबर रखे। उन्हें आपस में निपटने दे, जब कोई गुट बहुत प्रबल होने लगे तब बीच बिचाव करे, हवा का रुख देखते रहे और हर हालत में आखिरी फैसला हाईकमान के हाथ में रखे। राज्यों में नए राजनीतिक दलों के प्रादुर्भाव के कारण, अस्थिरता पैदा हो गई है और केंद्रीय नेताओं को हस्तक्षेप और मध्यस्थता के, जिसमें राष्ट्रपति और संसद द्वारा संवैधानिक कार्रवाई भी शामिल है, और मौके मिल गए हैं।

कहा जाता था कि केंद्र और राज्यों में एक ही पार्टी के सत्तारूढ होने के कारण केंद्रीय सरकार की सत्ता बहुत बढ गई थी और जहां यह स्थिति बदली केंद्रीय सरकार की सत्ता कम हो जाएगी। किंतु केंद्र राज्य संबंधों पर पार्टी के प्रभाव के जरा गहरे अध्ययन से पता चलेगा कि बात उलटी है। जब तक राज्यों में कांग्रेस की सरकारें थीं मुख्य मंत्रियों का केंद्र पर बहुत अधिक प्रभाव था और आज भी जहां कांग्रेस मुख्य मंत्री हैं, उनका केंद्र पर प्रभाव है। दूसरी ओर जहां दूसरे दल की सरकार होती है, उसके मुख्य मंत्री का केंद्र पर वह प्रभाव नहीं होता और चाहे वित्तीय सहायता हो, या विकास परियोजनाओं को लगाने का प्रश्न हो, या खाद्य की सप्लाई हो, राज्य को केंद्र का मुंह जोहना पडता है। केंद्रीय सरकार पर गैर-कांग्रेसी मुख्य मंत्रियों का उससे बहुत कम प्रभाव पडता है, जितना कांग्रेसी मुख्य मंत्रियों का, जो कांग्रेस संगठन में भी प्रभाव रखते हैं।

राज्यों की राजनीति

पार्टी प्रथा के विकास के सिलसिले में हम राज्यों की राजनीति और केंद्र-राज्य संबंधों पर अगले अध्याय में विस्तार से विचार करेंगे। यहां हम प्रादेशिक

राजनीति के मुख्य तत्वा पर एक नजर डालेंगे जिसस राष्ट्रीय राजनीति का भी सबध था।[31]

राज्या की प्रवृत्तिया को चार मुख्य बाता ने प्रभावित किया है – स्वतत्रता के पहले का राजनीतिक स्वरूप, काग्रेस के विरोधी या प्रतिपक्षी तत्त्वा का स्वरूप और शक्ति, राज्या की काग्रेस की राजनीति पर प्रभाव डालने वाले आतरिक विरोध या विभिन्नता और विभिन्न प्रदेशा क सामाजिक ढाचे म अतर।

यह याद रखना चाहिए कि काग्रेस को जनता का समथन मिलने के बावजूद अनेक क्षेत्रा म इसका जोर नही फल सका था। इन क्षेत्रा म दूसरे दला का जोर था। इनम बगाल, पजाब और मद्रास प्रधान थे। अनेक देशी रियासता म छिटपुट आदोलन चल रहे थे, मगर मजबूत दला का विकास नही हुआ था। इनम केरल, मसूर राजस्थान, मध्यप्रदेश का बडा भाग, पटियाला और पजाब की रियासत, सौराष्ट्र थे। उडीसा और आसाम क आदिवासी-बहुल प्रात भी इसी श्रेणी म आते थे। १९४७ क बाद यहा की राजनीति अलग अलग ढग से विकसित हुई। बगाल और पजाब का देश के विभाजन से गहरा धक्का लगा था, किंतु विधानचद्र राय और प्रतापसिंह कैरा जैसे विशिष्ट नेताओ के कारण यहा काग्रेस की सत्ता स्थापित हुई और खूब आर्थिक उन्नति हुई। मद्रास (तमिलनाडु) म काग्रेस की मुख्य प्रतिद्वदी अब्राह्मण जस्टिस पार्टी थी। कामराज के नेतत्व के उदय से मद्रास काग्रेस ब्राह्मणा क हाथ स निकल गई। राजस्थान सौराष्ट्र और मैसूर के प्रजा आदोलनो का काग्रस स निकट सबध रहा और स्वतत्रता के बाद राजाओ के विरोध के बावजूद इनमे काग्रेस की प्रधानता कायम हो गई और केन्द्रीय सत्ता को इनसे बल मिला। दूसरी ओर मध्यप्रदेश, उडीसा और आसाम म अस्थिरता रही तथा काग्रेस म दलबदी और आदिवासिया और सामती तत्त्वा की ओर से विरोध बना रहा। केरल म वामपथी प्रवत्तिया का जोर रहा और काग्रेस वहा जड न जमा सकी।

प्राता के राजनीतिक विकास पर मजबूत और योग्य नोकरशाही के होने या न होने का भी असर पडा। मद्रास और पश्चिम बगाल बहुत दिना तक अगरेजी प्रशासन म रहे और वहा नोकरशाही शासन की मजबूत परपरा थी, इससे राजनीतिक स्थिरता और आर्थिक विकास म मदद मिली। मैसूर और बडोदा जैसी रियासता म भी प्रशासन प्रगतशील और अच्छा था। किंतु मध्यप्रदश, उत्तरप्रदेश

३१ प्रादेशिक राजनीति के अध्ययन के लिए अनेक ग्रथ हैं। माइरन वानर द्वारा सपा 'स्टेट पालिटिक्स इन इडिया' (प्रिंसटन १९६७), इकबाल नारायण, सपा 'स्टेट पालिटिक्स इन इडिया (मेरठ १९६७) पाल ब्रास, 'फैक्शनल पालिटिक्स इन ऐन इडियन स्टेट-द काग्रेस पार्टी इन उत्तर प्रदेश (बर्कले और लास ऐंजेल्स १९६६) बलदेवराज नायक 'माइनारिटी पालिटिक्स इन पजाब (प्रिंसटन १९६६) एफ जी बेली, पालिटिक्स ऐंड सोशल चेंज-उडीसा इन १९५९' (बर्कले ऐंड लास ऐंजेल्स १९६२) सेलिग एस हैरिसन, 'कास्ट ऐंड द आध्र कम्युनिस्ट्स' -अमेरिकन पोलिटिकल साइस रिव्यू, ५०, न २ जुलाई १९५६।

और उडीसा म इस प्रकार की अच्छी प्रशासन परपरा न थी, इसलिए व पिछडे रहे और वहा राजनीतिक अनक्य भी रहा ।

महाराष्ट्र, गुजरात और आध्र जस प्रदेशा म जहा काग्रेस का जार रहा, उसने जल्दी जड जमा ली और उसका शासन भी लगातार रहा । इनम नए क्षेत्र शामिल हुए, जैसे गुजरात मे सौराष्ट्र और आध्र म हैदराबाद और तेलगाना, इनम विकास काय भी अच्छा हुआ । इन राज्यो मे जो सघप ह, उनकी जडे स्वतत्रता के पहले से चली आ रही है, जैसे गुजरात मे सौराष्ट्र और आध्र में तेलगाना का आदोलन। बिहार और उत्तरप्रदेश में यद्यपि हाल तक काग्रेस सत्तारूढ रही, लेकिन सामती परपरा और राजनतिक अनैक्य के कारण यहा गुटबदी और व्यक्तिगत राजनतिक प्रतिद्वद्विता का जोर है, जिसका नतीजा राजनतिक अस्थिरता है और जल्दी जल्दी सरकार बदलती रही ।

इन प्रातो की स्थिति पर वहा के सामाजिक ढाचे का भी प्रभाव पडा । मद्रास और महाराष्ट्र मे अब्राह्मणो के सगठन, गुजरात और आध्र में बीच की जातियो की राजनतिक शक्ति और मसूर में भी जातिविशेष के जोर के कारण, यहा की राजनीति और शासन में स्थिरता रही । दूसरी ओर उत्तर में बिहार और उत्तर प्रदेश और दक्षिण में केरल जैसे राज्या में जातिया में स्पर्धा के कारण राजनतिक गठजोड न हो पाए और अस्थिरता बनी रही । पश्चिम बगाल के ऊपर कलकत्ता छाया हुआ हे, इसलिए वहा की राजनीति म शहरीपन आ गया । वहा वामपथी दला का जोर है और बजाय एक दल की प्रधानता के सयुक्त दल की राजनीति का चलन है । इसके विपरीत आन्ध्र प्रदेश मे खेती की प्रधानता है और भूस्वामी वग का जोर है । इसने छोटी किसान जातियो का अपने साथ मिला लिया है और इस प्रकार वहा आश्रयदाता – आश्रित वर्गो का गठजोड बन गया है । मध्यप्रदेश, आसाम और उडीसा मे काग्रेस और गैरकाग्रेस दला की जोड तोड मे आदिवासी कबीलो का हाथ रहा है ।

इस प्रकार इन प्रातो की सामाजिक, प्रशासनिक पष्ठभूमि का राज्य की राज नीति और केन्द्र–राज्य सबधो पर प्रभाव पडा है । पश्चिम बगाल में काग्रेस सर कार कायम होने पर भी वहा शहरी वामपथी दला की ओर से सयुक्त विरोध की परपरा रही । इसी प्रकार केरल मे भी दलित एजवा जाति से कम्युनिस्टा को सम-थन मिला । इसके साथ शिक्षिता की सख्या बढने के साथ साथ उनमे बेकारी भी बढी, वहा गावा और नगरो मे भी घना सबध बना रहा । बगाल और केरल दोना जगह काग्रेस और कम्युनिस्ट नेतृत्व में सयुक्त मोर्चे के बीच सीधा मुकाबला या ध्रुवी-करण हुआ । आध्र प्रदश में कम्युनिस्टो का जोर था, इसे रेडडी और कामा जातिया के द्वद्व से बल मिला । बाद म काग्रेस की गठजोड नीति के कारण दानो जातिया काग्रेस सरकार और सगठन में आ गइ और विरोध हैदराबाद और तेलगाना

जैसे क्षेत्रों से उठा, जो राज्य में बाद में शामिल हुए थे और अभी तक उसमें घुल-मिल न सके थे। पंजाब और मद्रास में कांग्रेस के पुराने विरोधी अकाली और अब्राह्मण तत्वों ने पुनः सिर उठाया और राजनीति को प्रभावित किया। उडीसा आसाम और मध्यप्रदेश के आदिवासी-बहुल प्रदेश में और सामंती पूर्वी यू० पी० और बिहार में चाहे कोई पार्टी सत्ता में रहे, वहां व्यक्तिगत स्पर्धा और जोडतोड चलता रहता है।

इस प्रकार हमने देखा कि राज्यों में राजनीति की गतिविधि का संघ की राजनीति पर बहुत प्रभाव पडता है। यह बात भी ध्यान योग्य है कि केन्द्रीय सरकार का, विशेषकर राष्ट्रीय कांग्रेस का, भारतीय समाज के बिखरे तत्वों को राष्ट्रीय राजनीतिक ढांचे में एक साथ लाने में बहुत हाथ रहा है। इसी के साथ ही संघीय शासनतंत्र का विकास और सत्ता का विकेन्द्रीकरण हुआ है। अगले अध्याय में हम यह देखेंगे कि एक दल कांग्रेस के बजाय अनेक दलों के जोर पकडने से किस प्रकार केन्द्र-राज्य संबंधों का और स्पष्टीकरण हुआ है और संघीय व्यवस्था किस प्रकार विभिन्न प्रदेशों और जातियों के राजनीतिक दबावों का सामना कर रही है।

विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया

स्वतंत्रता के बाद से शासन की संस्थाओं और राजनीतिक अधिकारों का प्रसार नीचे तक हुआ है। चार बातों ने इस क्रिया को प्रभावित किया है। पहली बात यह है कि योजनाओं के कार्यक्रमों की पूर्ति नीचे के लोगों पर निर्भर है। राज्य का प्रशासन केन्द्र एवम् राज्य के नीति निर्णयों का विशेष कार्यरूप देने और जिले और उससे निम्न स्तर पर कार्यान्वयन के लिये इन कार्यों का वितरित करने के अलावा कुछ अधिक नहीं करता। अंग्रेजों ने भी इसी प्रकार जिलों के प्रशासन को राज्य की इकाई बनाया था। स्वतंत्रता के बाद विकेन्द्रीकरण के और कदम उठाए गए। योजना को चलाने के लिए जिला विकास बोर्डों की स्थापना की गई, सामुदायिक विकास खंड, विस्तार एजेंसियां, ऋण सहकारी समितियां और पंचायतें स्थापित की गईं। ये प्रशासनिक और राजनीतिक विकेन्द्रीकरण की नई संस्थाएं थीं।[३२]

दूसरे लोगों को लाभ पहुंचाने और इस प्रकार अपना प्रभाव जमाने के जरिया

---

३२ स्वतंत्रता के पहले भी स्थानीय बोर्ड और सहकारी संगठन मौजूद थे और बंबई व मद्रास जैसे उन्नत प्रांतों में अच्छा काम कर रहे थे। अवश्य ही ये संस्थाएं प्रारंभिक अवस्था में थीं और अधिकारी-विशेष के उत्साह पर निर्भर रहता थी। जनता का सहयोग भी इनमें कम था। इस विषय पर देखें-बाबे कोआपरेटिव इंस्टीट्यूट के 'फिफ्टी इयर्स आफ कोआपरेशन'-म के बा नायक का- इनाशियल स्टेज आफ आर्गेनाइजेशन (१९०४-१९१२)। स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं के विकास के बारे में देखिए ह्यूग टिंकर 'द फाउन्डेशन आफ लोकल सेल्फ गवर्नमेंट इन इंडिया पाकिस्तान ऐंड बर्मा' (लंदन १९५४)।

की शृंखला स्थापित हो गई। नए राजगार व नौकरियां तथा ऋणों का बटवारा, गावों म ऋण और मिट्टी के तेल, शक्कर आदि बांटने वाली संस्थाएं तथा स्कूलों के खुलने से पहुंच व प्रभाव तथा अर्थोपार्जन के नए जरिये प्रस्तुत हो गए। इनसे सरकारी मशीन को नया महत्त्व मिल गया और पुराने समाज का नई राजनीतिक व प्रशासनिक संस्थाओं से रोज और प्रतिक्षण काम पड़ने लगा।

राज्यों के नेताओं ने लाभों के वितरण का यह सिलसिला शुरू किया। अपना पद बनाये रखने के लिए, इनको गावों के वोटों का जरूरत थी। इसलिए इन्होंने अपने प्रभाव का जाल फैलाया और स्थानीय संस्थाओं, स्कूलों, विकास की संस्थाओं आदि पर कब्जा किया, जिससे लोगों को नौकरी दे कर और फायदा पहुंचा कर, उनका समर्थन प्राप्त किया जा सके। नतीजा यह हुआ कि सत्ता नीचे की ओर जाने लगी और जिलों व नगरों मे ऐसे लोग ऊपर आए जिन्होंने लाभकारी संस्थाओं पर और राजनीतिक दलों के पदों पर कब्जा जमाया और धीमे धीमे प्रभाव और शक्ति प्राप्त की। ये लोग छोटे कस्बों और तहसीलों के नेता थे, और जनता के बीच से आए थे। ये देश के परंपरागत समाज से उठे थे और उसकी मनोवृत्ति को समझते थे। ये व्यावहारिक और दबंग आदमी थे। नए विचारों से इनको बहुत मतलब न था, परन्तु इन्होंने नई व्यवस्था को फैलाने में योग दिया। ये लोग स्थानीय गुटबंदी और दावपेच में माहिर हैं और अपनी शक्ति को जानते हैं। चुनाव के समय राज्य के नेताओं को इन्हीं स्थानीय नेताओं पर भरोसा करना पड़ता है, जिनके हाथ में स्थानीय संस्थाओं की बागडोर होती है और जो आर्थिक और सामाजिक शक्ति रखने वाले वर्ग से घनिष्ठ संबंध रखते हैं। इनमें से कुछ लोकप्रिय नेता होते हैं और कुछ दादागिरी में माहिर, लेकिन जनता के वोट इनके हाथ में होते हैं। इस लिए शक्ति भी इनके हाथों में आ गई है।[33]

तीसरी बात है चुनाव प्रणाली का अत्यधिक विस्तार। भारत में अनेक स्तर पर निर्वाचित संस्थाएं हैं — राष्ट्रीय संसद, राज्य विधान सभा, जिला परिषद, ब्लाक और ग्राम पंचायत। इसके अलावा वे निर्वाचित संस्थाएं हैं जिनके हाथ में बड़ी आर्थिक शक्ति होती है, जैसे जिला सहकारी बैंक, नकदी फसलों के उत्पादन और बिक्री की सहकारिणियां और जिला पंचायत की आर्थिक समितियां।[34] इनमें से कुछ का सीधा जनता द्वारा चुनाव होता है, कुछ नीचे की संस्थाओं के प्रति-

३३ मैं ने राष्ट्रीय और राज्य नेताओं से स्थानीय नेताओं के हाथ में शासन जाने के कारणों का विवेचन इकनामिक वीकली १४, विशेषांक जुलाई १९६२ में अपने लेख 'इण्डिया : पोलिटिकल टेक आफ' में किया है।

३४ राज्य की राजनीति में सहकारी संस्थाओं के महत्त्व के लिए देखिए-बी एम बाविस्कर, 'कोआपरेटिव्ज एंड पालिटिक्स' इकनामिक एंड पोलिटिकल वीकली-३ न १२, मार्च २३, १९६८।

निधियो द्वारा चुनी जाती है, और कुछ ये सदस्य ही चुनते है जो विभिन्न श्रेणियो से आते हैं। कुछ लोग कई संस्थाओ के सदस्य होते है लेकिन साधारणत राज्य की विधान सभा के उम्मीदवार नीचे की संस्थाओ के नेताओ पर भरोसा करते है।

चौथे, वालिग मताधिकार के कारण राजनीति म नए नए वर्गो का प्रवेश हुआ है। जो जातियां अब तक राजनीति को ब्राह्मण और क्षत्रिय जैसी ऊची जातियो का क्षेत्र समझती थी, उनको अब सख्याबल का महत्त्व ज्ञात हो गया है और वे भी सगठित हो रही है। उनकी सस्थाए और नेता मैदान में आ रहे हैं। राजनैतिक दलो की स्पर्धा और आर्थिक योजनाओ व जनता की भलाई के कामो के चालू होने से जातियो के मुखियाओ का महत्त्व बढ गया है और राजनैतिक नेताओ को इनसे व्यवहार करना पडता है। इस प्रकार गावो के सामाजिक ढाचे का राजनीतिकीकरण हो रहा है और शासन तथा राजनीतिक दलो का नीचे की ओर फैलाव हो रहा है, जिससे भारतीय समाज के शक्ति के ढाचे मे परिवर्तन आ गया है।

लेकिन शक्ति के इस फैलाव से गाधीजी की कल्पना के स्वावलबी ग्राम समाज की स्थापना नहीं हुई है। राजनीतिक सगठन या शासन की इकाई के रूप म गाव का महत्त्व घटा है। ग्राम सुधार या सामुदायिक विकास योजना की इकाई भी गाव न होकर विकास खड है। शिक्षा प्रचार, यातायात, जातीय सगठनो आदि के द्वारा गाव ऊपर के स्तर से प्रभावित होते है। गाव के झगडो को छोड कर गाव की राजनीति क्षेत्र की राजनीति का अग होती है। नेतृत्व के लिए केवल गाव का समर्थन नही, गाव के बाहर से समर्थन प्राप्त करना जरूरी है। केवल बहुत बडे गाव इसके अपवाद है, जैसे केरल में। जो गाव बाहर से मतलब नही रखते और अपने म ही सिमटे रहते हैं, उनका राजनीति में ज्यादा महत्त्व नही।

जिले का महत्त्व

क्षेत्र की गतिविधियो का केन्द्र जिला होता है। बहुत वर्षो से जिला प्रशासन का आधार रहा है। जिले की जनसख्या करीब १५ लाख, प्रशासन के लिए आदर्श है। इसी प्रकार उसका रकबा भी अच्छे प्रशासन और विकास काय के लिए आदर्श होता है। सार्वजनिक कार्यकर्ताओ के लिए भी जिला अच्छा कार्यक्षेत्र होता है। योजना के काय जिले के स्तर से ही शुरू होते हैं। मुगलो के जमाने से लेकर आज तक शासन की इकाई के रूप म जिले ने राजनीतिक और सामाजिक रूप से भी एक व्यक्तित्व प्राप्त कर लिया है। जिले का कलेक्टर जनता की आखो में शासन और अधिकार का प्रतीक होता है।

राजनीति म भी जिला काग्रेस कमेटी शक्ति की धुरी होती है। जिलो के नेताओ के बल पर राज्य के मन्त्रिमडल और राज्य काग्रेस का सगठन निर्भर होता है। महाराष्ट्र

और गुजरात मे एक एक मत्री के जिम्मे कई जिले लगा दिए ह वह लोगो के प्रतिनिधियो से मिलता है, उनकी शिकायते सुनता है और जिले के हित की दखरेख करता है। राज्यो के मन्त्रिमडलो म जिले प्रतिनिधित्व का दावा करने लगे हैं। यद्यपि सभी जिलो का दावा स्वीकार नही किया जाता, पर राज्य को राजनीति म उनका महत्त्व स्पष्ट है ।

जिला आर्थिक और सामाजिक जीवन का भी केन्द्र बन गया है। लोग अपना परिचय देते समय अपने जिले का नाम लेते है। जातियो के सगठन भी जिलावार होते है। राजनीतिक और जातीय गुट भी जिलो के हिसाब स बनते है। जिलो के केद्र ने नगरो का रूप लिया है । जिलो के कद्र मे ही कचहरी, स्कूल, कालेज, बाजार, जिला सहकारी बैंक, भूमिबधक बैंक, लाइसस के दफ्तर, खेती और वन विभाग के दफ्तर, जिला पुलिस, जिला बोड और जिला कलेक्टरी होने के कारण क्षेत्र की सभी गति विधि वहा केन्द्रित हो जाती है । इसमे जिला मजिस्ट्रेट और जिला काग्रेस नेता का भी प्रमुख स्थान होता है ।

कलेक्टर या जिलाधीश क पद का भारत म अपना अलग महत्त्व है। स्वतत्रता के बाद बदले हुए वातावरण म जिलाधीश के महत्त्व को कम करने के प्रयत्न हुए, लेकिन ब्रिटिश शासन की यह ऐसी परपरा है जो टूट नही सकी। इधर जिला मजिस्टेट के समकक्ष विकास अधिकारी भी नियुक्त किए गए ह। हो सकता है इससे जिला कलेक्टर का एकछत्र प्रभाव कम हो जाए, किन्तु जिले का प्रशासनिक महत्त्व तब भी बना रहेगा ।

जिले का सबस बडा महत्त्व राजनीतिक सस्थाओ और नेतृत्व के विकास म है। जिले म अनेक नई सस्थाए और विभाग खोले गए ह। शुरू म बहुत सी विकास की और अर्ध-सरकारी एजेंसिया स्थापित की गई । इनम कज देने की सस्थाएँ, स्वास्थ्य की एजेंसिया, स्कूल और कालेज थे, जिनसे नेताओ के हाथ म लोगो का फायदा कराने के साधन आए। इसके बाद सामुदायिक विकास और पचायती राज की सस्थाए कायम हुई। इनसे स्थानीय नेताओ के प्रभाव और शक्ति की वद्धि हुई। यद्यपि सामुदायिक विकास खड जिलो से छोटे थे लेकिन इनको टेक्निकल सलाह और साधन जिले से ही मिलते थे । जिला और ब्लाक अधिकारियो को महत्त्वपूर्ण काय और अधिकार सौंपे गए। इससे जिले के नेताओ की शक्ति और बढ गई। जिले के निर्वाचित प्रमुख होने लगे, जिनको सावजनिक कोष से वेतन मिलता था । ये लोग ज्यादातर धनी भूस्वामी वग के होते हैं, इनको अपने क्षेत्र का राई रत्ती हाल मालूम होता है और ये जनता का नेतृत्व करने तथा सस्थाओ को चलाने म निपुण होते ह । ये जनता से ही नही, जिले के और ऊपर के अधिकारियो से भी बडे विश्वासपूर्वक व्यवहार करते हैं । इस प्रकार शासन के विकेन्द्रीकरण और नई स्थानीय सस्थाओ की स्थापना से जिलो के थोडे से प्रमुख व्यक्तियो के हाथ म

आर्थिक और राजनैतिक शक्ति भी आई है, पार्टी की मशीन का विस्तार हुआ है और स्थानीय आदोलनो और सघर्षो के सचालन की पद्धति विकसित हुई है।

इस प्रकार भारत मे स्वतन्त्रता के बाद एक पीढी के अन्दर ही शासन और राजनीति का तन्त्र अनेक स्तरोपर काम करने लगा। स्थानीय स्तर पर विकास और राजनीतिक सगठन की अनेक सस्थाए काम करने लगी, स्थानीय लागो से सलाह, जाच पडताल और निणय लेने की व्यापक प्रणाली विकसित हुई, जो एक राष्ट्रीय शखला से जुडी हुई है। इससे आधुनिकता और परपरा, पुरानी और नई राजनीतिक व्यवस्था का अतर मिट रहा है।[३५]

पचायती राज का महत्त्व

राष्ट्रीय नेतृत्व का एक दूरदर्शितापूण काय था पचायती राज की स्थापना। इसका व्यापक महत्त्व भाषावार राज्यो के गठन और योजना कमीशन की स्थापना से अधिक है। इससे भारतीय राज्यव्यवस्था का विकेन्द्रीकरण हो रहा है और देश म एक सी स्थानीय सस्था के निमाण से उसकी एकता भी बढ रही है। सभव है कि इस कदम का दूरगामी महत्त्व नेताओ ने उस समय न समझा हो। प्रशासनिक और बौद्धिक क्षेत्रो म इसकी सफलता मे सदेह था और इसका मजाक उडाया गया था। इसकी शुरुआत का श्रेय जवाहरलाल नेहरू को है।[३६] उनका लोकतन्त्र के तरीको म अटूट विश्वास था। उन्होने पचायती राज और सामुदायिक विकास दोनो पद्धतियो का जोरो से समयन किया था।[३७]

सामुदायिक विकास कायक्रम १९५२ मे आरभ हुआ। इसमे काफी सख्या मे सरकारी कमचारी रखे गए और लबे चौडे दावे किए गए। पर यह सरकारी तन्त्र और ग्रामीण जनता के बीच की दूरी कम करने के मुख्य उद्देश्य मे विफल

---

३५ इसके लिए देखें-सी एम फिलिप्स सपादित-'पालिटिक्स एड सोसाइटी इन इन्डिया' (न्यूयार्क १९३६) में मारिस जोन्स का 'इडियन पोलिटिकल रेजिम'। उन्ही का देखिये-पार्लमेंट इन इडिया' पृ ३७-४०। और भी लुशियन पाइ और सिडनी वर्बा-सपा 'पोलिटिकल कल्चर एंड पोलिटिकल डेवलपमेंट' (प्रिंसटन १९६५) मे मायरन वानेर का 'इंडियन टू पालिटिकल कल्चर्स'।

३६ लेखक को भी इसमें सदेह था। देखिए-पूर्वोक्त 'फार्म एड सबस्टस' में मेरा द्वितीय लेख। इसमें इस कायक्रम की सफलता की समीक्षा भी की गई है और इस विषय के सदर्भ-सूत्रों का उल्लेख किया गया है।

३७ 'गावो के लोगों को अधिकार सौंपना चाहिए। उनको काम करने दो चाहे वे हजारों गलतियां करें। इसमें घबराने की जरूरत नहीं। पचायतों को अधिकार दो'। कम्युनिटी- 'ए सिपोजियम (दिल्ली १९६१) में जवाहरलाल नेहरू।

रहा।[३८] इस विफलता का एक कारण यह था कि इसे सरकारी महकमे की तरह चलाया गया और गावो के विकास के बजाय सामुदायिक विकास की मशीनरी के विस्तार पर ही ज्यादा जोर दिया गया।[३९] सरकारी तन्त्र के जरिए गावो के लोगो की मनोवृत्ति को बदलने की आशा की गई, नतीजा यह हुआ कि गावो की उन्नति के लिए खुद प्रयत्न करने के बजाय ग्रामीण जनता सरकार का मुह जोहती रही।[४०]

दूसरी बात यह थी कि इस कार्यक्रम के सारे कर्मचारी और साधन जुटाने का काम सरकार ने ओढ लिया और सरकार ने सर्वोच्च प्राथमिकता उद्योगो के विकास को दी इसलिए इस कार्य के लिए बहुत कम साधन और कर्मचारी जुटाए जा सके। तीसरे, सरकारी तन्त्र की प्रधानता और साधनो की कमी के कारण सामुदायिक विकास कार्यक्रम म प्राथमिकता का क्रम बिल्कुल उलटा हो गया। ब्लाको मे कार्यालय की इमारत बनाने और सरकारी कर्मचारी भर्ती करने मे तो बडी तत्परता दिखाई गई पर खेती की तरक्की और जनता म स्वावलबन और स्वय काम करने की भावना पैदा करने पर कम ध्यान दिया गया।[४१] चौथे, आर्थिक विकास की व्यापक रीतिनीति से इस कार्यक्रम के लक्ष्य गावो के कायाकल्प का कोई सबध नही स्थापित किया गया। इस कार्यक्रम पर काफी खर्च हो चुकने और इसकी सफलता के लबे चौडे दावो के बाद इसकी जाच के लिए एक कमेटी नियुक्त की

---

३८ सामुदायिक विकास का सबसे बडा कमजोरी उसका सरकारी स्वरूप और नेताओं का लफ्फाजी थी। एक तरफ इस कार्यक्रम के सूत्रधार जनता से आगे आने की आशा करते थे, दूसरी ओर उनका विश्वास था कि सरकारी कारवाई से ही नतीजा निकल सकता है। कार्यक्रम जनता को चलाना था लेकिन वे बनाये ऊपर से जाते थे। इस समस्या पर रेनहार्ड बन्डिक्स, 'नेशन बिल्डिंग एड सिटिजनशिप' (न्यूयार्क १९६४) पृ २६६-८३ में बहुत अच्छा विचार किया गया है।

३९ जितनी तेजी से सामुदायिक विकास खड और विस्तार एजेंसियाँ खोली गईं उनसे इसके सरकारी रूप का पता चलता है। सन १९५३ में सारे देश में इसे फैलाने का निर्णय हुआ और १९५६ तक १२०० ब्लाक खोल दिए गए जिनके अतगत देश की एक चौथाई ग्रामीण जनसख्या आती थी। १९६३ तक सारे देश में यह फैल गया। सयुक्त राष्ट्र के एक मिशन ने यह राय दी कि इतने तेज विस्तार से सघन विकास नहीं हो पाएगा। यू एन कमिशनर फार टेकनिकल असिस्टेंस, रिपोर्ट आफ ए कम्युनिटी डेवलपमेंट एवैलुएशन मिशन इन इंडिया १९५८-५९ (दिल्ली-१९६१)

४० स्वयसेवक सगठन की जिम्मेदारी भी सरकार ने ले ली। योजना कमीशन की जनसहयोग कमेटी और आयोग के उपाध्यक्ष गुलजारीलाल नदा की प्रेरणा से भारत सेवक समाज को जिसके सरक्षक नदा और नेहरू थे, लोक-कार्यक्षेत्र खोलने के लिए रुपया दिया गया। इसके मूल्याकन के लिए देखिए—योजना कमीशन 'ए स्टडी आफ द लोक कार्यक्षेत्राज आफ द भारत सेवक समाज' (नई दिल्ली – १९६०)

४१ मेहता कमेटी रिपोर्ट, खड १, पृ ४ प्लानिंग कमीशन, प्रोग्राम एवैलुएशन आर्गेनाइजेशन, एवलुएशन रिपोर्ट आन वर्किंग आफ कम्युनिटी प्रोजेक्ट्स ऐंड एन ई एस ब्लाक्स (दिल्ली-१९५९)

गइ। इसने सरकार को बताया कि इस कायक्रम की बुनियादी त्रुटि यह है कि जनता का इस म सहयोग नही मिला। इस रिपोट में तथा अ य जाच रिपोर्टों म यह कहा गया कि जब तक स्थानीय नेताआ को जिम्मदारी और अधिकार नही सौप जात, सविधान क निर्देशक सिद्धातो का राजनतिक और विकास सबधी लक्ष्य पूरा नही हो सकता। [४२]

इसलिए लोकतत्री प्रणाली के विकेन्द्रीकरण और विकास कायक्रमा म जनता का सहयोग लने क उद्दश्य स पचायती राज की शुरुआत की गई। इसक स्वरूप म विभिन राज्या में कुछ अतर हैं, मगर कुछ बात एक सी ह। [४३] एक तो पचायती राज की तीन सीढियाँ हैं – गाँव पचायत, खड में पचायत समिति और इसके ऊपर जिला परिषद। इनक लिए विकास कमचारिया की शृखला है जो राज्य स्तर स शुरू हो कर गाव तक फली हुई है। इस प्रणाली मे स्थानीय लोगा को काम करने की आजादी है और दखरेख ऊपर स है। अर्थात इसका वही ढग है जो केद्र और राज्य के सबध का। दूसरे, सामुदायिक कायक्रम की तरह यह सरकारी मशिनरी का अग नही है। पचायती राज की सस्थाएँ निर्वाचित हाती है और इसके कमचारी निर्वाचित प्रतिनिधिया क अधीन काम करते हैं। [४४] तीसरे, साधन जुटाने और जनसहयोग सगठित करने का भी इन सस्थाओ को अधिक अधिकार है। य कार्य नौकरशाही नही कर पा रही थी। इसका नतीजा यह हुआ है कि ग्राम स्तर से ले कर केन्द्रीय सरकार तक निरतर प्रशासनिक और राजनीतिक परपरा सुचारु रूप से नही काम कर रही है, परतु प्रवत्ति स्पष्ट लक्षित होती है।

पचायत बहुत पुराने जमाने म भी वनमान थी, मगर वतमान पचायती सस्था इस माने म नई हैं कि उनको काफी अधिकार, साधन और जिम्मेदारिया सौपी

---

४२ योजना कमीशन द्वारा प्रकाशित प्रोग्राम एवेलुएशन रिपोर्टों को देखिए – कमीशन ने सामुदायिक विकास कार्यक्रम से असतोष प्रकट किया और राष्ट्रीय विकास परिषद से उसकी जाच कराने को कहा। तदनुसार मेहता कमेटी नियुक्त हुई और १९५७ में इसने बहुत बडी रिपोर्ट दी। इसका मुख्य सुझाव यह था कि विकास काम में स्थानीय जनता को लगाने के लिए एक प्रतिनिधि सस्था की स्थापना की जाए।

४३ इस प्रणाली के विविध रूपों के बारे में देखें – सेंटर फार द स्टडी आफ डेवलपिंग सोसाइटीज – 'ए ग्राफ डिस्क्रिप्शन आफ लोकल सल्फ गवर्नमेंट सिस्टम इन गुजरात, महाराष्ट्र ऐंड उत्तरप्रदेश (मिमियो १९६६)।

४४ ब्लाकों की पचायत समितियों में ग्राम पचायतों के प्रधान होते हैं। अधिकाश राज्यों में जिला परिषदों का चुनाव पचायत समितियाँ करती हैं। बाद म महाराष्ट्र और गुजरात में जिला परिषदों का प्रत्यक्ष निर्वाचन होने लगा। इन सस्थाओं में अधिकारियों की उपस्थिति या शिरकत के बारे में भी अलग अलग परिपाटी है। पूरे विवरण के लिए देखें उपर्युक्त पुस्तक।

गई है। नाम पुराना है मगर संस्था नई है।[४५] इन संस्थाओ ने नए स्थानीय नेताओं को जन्म दिया है जो आगे चल कर राज्य और केन्द्रीय सभाओं के निर्वाचित प्रतिनिधियो से अधिक शक्तिशाली हो सकते है। काग्रेस और अन्य दलो के राजनीतिक इन संस्थाओ के महत्त्व को समझने लगे है। अब वे राज्य विधान मडल के बजाय पचायत समिति और जिला परिषदो और जिला सहकारी बक और जिला परिवहन अधिकरण के पदो को तरजीह देने लगे है। इन पदो पर रहकर वे प्रशासन और प्रबध में निपुणता प्राप्त कर लेते हैं। ये गैरसरकारी पदाधिकारी स्थानीय समाज और राजनीतिक व्यवस्था के बीच की कडी है।[४६] इन स्थानीय पदाधिकारियो के बिना ऊपर से प्रारभ किए हुए राष्ट्रनिर्माण के क्रियाकलापो का चलना मुश्किल हो जाता। इन लोगो के सहयोग के बिना सरकारी अधिकारियो का काम भी मुश्किल हो जाता। गैर सरकारी कार्यकर्ताओ की शक्ति केवल प्रशासनिक और वितरण संस्थाओ के पदो के कारण नही, बल्कि समाज के शक्तिशाली वर्गो के समर्थन के कारण है। इस प्रकार पुरानी व्यवस्था धीमे धीमे नई व्यवस्था के पास आ रही है।

बिचवई लोग

इस क्रिया ने एक दलाल बिचवई वर्ग को जन्म दिया है। गैर सरकारी राजनीतिक, स्थानीय समाज के समर्थन के बल पर ही अपना काम कर सकता है। उसे विभिन्न तबको के प्रभावशाली लोगो का समर्थन प्राप्त करना पडता है। इन प्रभावशाली लोगो में जातीय और धार्मिक नेता, विभिन्न संस्थाओ के नेता, शिक्षक, वकील, डॉक्टर आदि व्यवसायो के प्रमुख, राजनीतिक पेशेवर या चुनाव के दलाल और स्थानीय गुडे भी होते हैं जो लोगो को वश मे रखते है और सौदा हो जाने पर दगाबाजी नही कर सकते। हो सकता है कि कही एक आदमी विभिन्न हितो और वर्गो को काबू मे रखता है और कही कई विभिन्न हितो के अलग अलग नेता

४५ योजना कमीशन, 'द विलेज पचायत एड पैटर्न आफ विलेज डेवलपमेंट' जुलाई १९५४–अक्टूबर १९५५ तरलोकसिंह (मामियो)। किंतु इन संस्थाओं के कार्यों के बारे में कुछ दुविधा थी। कुछ अफसरों के विचार से इन्हें स्थानीय स्वशासन की वास्तविक संस्था होनी चाहिए और कुछ की राय थी कि इन्हें केन्द्रचालित योजनाओं को चलाने की एजेंसी मात्र होना चाहिए। देखें – मेहता कमेटी रिपोर्ट। विदेशी विशेषज्ञ में भी मतभेद था। डेनियल थार्नर इन्हें केन्द्रीय एजेंसी बनाने के पक्ष में थे और अल्बर्ट मेयर स्थानीय स्वायत्त शासन संस्था के पक्ष में। देखिये जान टी हिचराज, 'सेंट्रली प्लान्ड रूरल डेवलपमेंट इन इंडिया' इकनामिक वीकली १३ मार्च, १९६१।

४६ गैर सरकारी शब्द अंग्रेजी जमाने में बना था, जब महत्त्व सरकारी लोगों का था।

होते है। हर हालत मे ये महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं।[४७]

संबंध की ये शृंखलाएं पुराने जाति-बिरादरी के मुखिया, सरकारी अधिकारियों से काम निकलवाने वाले चुनाव के दल और गुट, सब एक सार्वजनिक व्यवस्था के अंग बन गए हैं। संसद और विधानसभाओं के चुनावों से राजनीतिक गतिविधि में भाग लेने का सबसे बड़ा मौका मिलता है। पंचायती राज के चुनाव कांग्रेस के उम्मीदवारों का चयन और कांग्रेस कमेटियों के चुनावों से राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेने का और मौका मिलता है। इसके अलावा भी और मौके हैं, जैसे विकास, अनुदान और खेती के लिए ऋणों के बंटवारे चीनी, तेल आदि के वितरण, स्कूल, सड़क, ट्यूबवेल, दवाखानों आदि के निर्माण में बातचीत और जोर दबाव के मौके मिलते है। इन सब गतिविधियों का स्थानीय महत्त्व बहुत अधिक होता है। पंचायती राज के चालू होने से जनसहयोग की इन शृंखलाओं का संबंध ऊपर के राजनीतिक और आर्थिक निर्णय लेनेवाले स्तरों से जुड़ जाएगा और गांवों के लोगों का महत्त्व बढ़ जाएगा। भारत की पुरानी ग्रामीण समाज-व्यवस्था का शासन और राजनीति में सहयोग, भारत के विकास की पद्धति में निहित है।

यहां आधुनिकतावादी और आधुनिकता के प्रचारक में जो फर्क है उस को जान लेना चाहिए। आधुनिकतावादी शहरों के बौद्धिक और राजनीतिक विचारक लोग हैं। ये आधुनिक भारत के आदर्शों और विकास के लक्ष्यों का निरूपण करते हैं। ये सैद्धांतिक बात करते हैं, जनसाधारण की आकांक्षाओं और मांगों से ये मतलब नहीं रखते। दूसरी ओर आधुनिकता के प्रचारक जनसाधारण में काम करते हैं। ये सिद्धांत के बजाय व्यवहार पर ज्यादा ध्यान देते हैं, ये आधुनिक लक्ष्यों के लिए जनता का समर्थन प्राप्त करते है। साथ ही वे नीति-निर्माता लोगों को असलियत की जानकारी देते हैं। वे ही राष्ट्र निर्माण के कार्य को गति देते है। कालांतर में ये आधुनिकतावादियों का स्थान ले लेते हैं। लोकतंत्रीकरण की इसी व्यापक प्रक्रिया को सरल रूप में शहर से गांवों की ओर शक्ति के परिवर्तन का नाम दिया जाता है।

---

४७ यह परिवर्तन या संक्रान्ति काल की विशेषता है। केरल, मद्रास महाराष्ट्र और गुजरात जैसे राज्यों में जहां राजनैतिक दल और सरकारी एजेंसियां एकदम नीचे तक पहुंच गई हैं, बिचवइयों की जरूरत कम होती जा रही है। लोग सीधे राजनीतिज्ञों या अफसरों से व्यवहार करते हैं। लेकिन कम विकसित इलाकों में बिचवइयों के जरिये ही, यह बातचीत होती है। देखें-आर चंद्रीदास 'द फोर्थ जनरल इलेक्शन्स इन मध्यप्रदेश, ए केस स्टडी' इकनामिक ऐंड पोलिटिकल वीकली २, सं ३३-३५ विशेषांक अगस्त १९६७। इस विषय पर सामान्य विचार के लिए जयंत लेले, 'लोकल ब्रोकर्स ऐंड नेशनल लीडर्स ए स्टडी आफ सपोर्ट लिंकेजेज इन ए डेवलपिंग पालिसी', अमेरिकन पोलिटिकल साइंस असोसिएशन की वार्षिक बैठक में पढ़ा गया लेख, सितंबर १९६८ (मीमियो)।

राजनीतिक विकास और नौकरशाही

भारत सरकार ने गावा तक पहुँचने और देशव्यापी सस्थाओ की शखला बनाने का जो विशाल प्रयत्न किया उससे यह पता चलता है कि जनता का समथन मिलने के बावजूद राष्ट्रीय आदोलन समाज में गहरा नही जा सका था। गाधी ने राष्ट्रीय आदोलन को शहरी मध्यम वग के सकीण दायरे से निकाल कर जनता में पहुँचाया था और ग्रामो के पुर्ननिर्माण को उसका लक्ष्य बनाया था। लेकिन इस पर काम स्वतन्त्रता के बाद ही शुरू हुआ।

दूसरे, स्वतनता के बाद जो कुछ काम हुआ है उसके बावजूद भारत में एकरूप राजनीतिक समाज का निर्माण नही हो सका है। अभी भी यहाँ बहुत विषमताएँ और अतर है। अभी बहुत दिनो तक यहाँ का समाज अनेकात्मक रहेगा, जिसमें अनेक स्वायत्त उपसमाज बने रहेगे।

अब तक हमने जनता में राजनीतिक सस्थाओ के प्रसार पर जोर दिया है। साथ ही हमने बताया है कि प्रशासन और आर्थिक योजना का इस प्रक्रिया मे क्या हाथ रहा है। बिना इन के राजनीतिक सस्थाओ का प्रसार न हो पाता। यहा हम इस विषय पर और विचार करगे।

अग्रेजो की विरासत

अग्रेजो ने इस महादेश का शासन करने के लए एक नमूने की जिला शासन प्रणाली की रचना की थी जिसके अधिकारी एक अखिल भारतीय सिविल सर-विस के सदस्य होते थे और जो शासन के समान सिद्धात पर चलते थे। यही शासन प्रणाली हमको अग्रेजो से विरासत में मिली।[४८] अग्रेजी शासन मे महत्त्व-पूण राजनैतिक और विकास सबधी निश्चय सरकारी ढग से किए जाते थे। यही परिपाटी भारतीय नेताओ ने भी अपनाई। इस परिपाटी को चार बडे परिवतनो का मुकाबला करना पडा। एक तो शासन के कार्यों में बेहद विस्तार हुआ, दूसरे शासन के हर स्तर पर राजनीतिक कायकर्ताओ का प्रभुत्व हुआ और नीति तथा निणय इन के हाथो मे आया। तीसरे, जिले और नीचे के स्तरा पर लोकतत्री सस्थाओ को अधिकार दिया गया, और चौथे, आर्थिक आयोजन, नियत्रण और सयोजन की अनेक सस्थाए कायम हुइ तथा सावजनिक क्षेत्र का अपार विस्तार हुआ।

हमने देखा है कि स्वतत्रता के पहले सहकारी अधिकारियो और राष्ट्रीय नेताओ में विरोध और कटुता के सबधो के बावजूद स्वतत्रता के बाद काग्रेसने सरकारी नौकरो की स्थिति बरकरार रखी और इस प्रकार उनका विश्वास प्राप्त किया। यही नही उन्होने भविष्य के सारे परिवतनो और नई नीतियो का भार भी सर-

---

४८ हमने अध्याय २ में आइ सी एस पर विचार किया है। आइ सी एस की उत्तरा-धिकारी नइ आइ ए एस है, जिसके अधिकार प्राय पूव सेवा जैसे ई।

कारी सेवाओं पर डाल दिया । सारी आर्थिक और राजनीतिक गतिविधियों का संचालन सरकारी अधिकारियों द्वारा किया जाता है। देशव्यापी चुनावों का प्रबंध, सामुदायिक विकास कार्यक्रम, सरकारी संगठनों की स्थापना व संचालन स्वयंसेवक संस्थाओं का भी संगठन, विशालकाय सरकारी कारखानों और कारपोरेशनों की व्यवस्था, बड़ी बड़ी परियोजनाएँ जिस में बहुत रुपया और टेकनिकल ज्ञान लगता है, अनुसंधान और विकास की बहुत बड़ी योजनाएं, पंचायती राज जैसी राजनतिक संस्थाओं के संगठन और संचालन और दुर्लभ वस्तुओं पर कंट्रोल और वितरण, यह सारा सरकारी नौकरों के जिम्मे है, और इस हेतु स्वतंत्रता-पूर्व नौकरशाही का अभूतपूर्व विस्तार हुआ है।

परिवर्तन में भी पुराने ढांचे को बनाए रखने का कुपरिणाम भारत के प्रशासन तंत्र में नजर आता है। फिर भी आश्चर्य है कि गाड़ी चलती रही। याद रहे कि भारतीय प्रशासन सेवा की ऊँची श्रेणियों में अधिकारियों की संख्या अधिक नहीं। आइ ए एस के करीब केवल ३००० आदमी केंद्र और राज्यों के प्राय सारे शासन को चलाते हैं। दूसरे यह विकेंद्रित सेवा है (*निर्णयों पर अमल का काम* केवल जिला स्तर पर शुरू होता है)। तीसरे, इस सेवा के सदस्य विशेषज्ञ न होकर एक काम से दूसरे काम पर जाते रहते हैं। इससे यह प्रश्न और महत्त्व का हो जाता है कि प्रशासनिक ढांचे को नए सिरे से पुनर्गठन करने बजाय, पुराने ढांचे को ही क्यों बनाए रखा गया।[४९] भारत ने न तो समाजवादी देशों की भांति शासन के समानांतर राजनैतिक मशीन का निर्माण किया, न पश्चिमी देशों की भांति आर्थिक विकास को निजी उद्योग के हाथ में छोड़ दिया। उसने देश के *प्रशासन को विकास प्रशासन से अलग भी नहीं किया और कंट्रोलों की पेचीदा* प्रणाली से काम चलाया।

नए विकास

स्वतंत्रता के बाद आर्थिक गतिविधियों के समन्वय के लिए कबिनेट सचिवालय से लेकर नीचे के स्तर तक अनेक संस्थाओं का निर्माण हुआ। एक ओर योजना कमीशन और उसकी समितियां तथा जांच पड़ताल की एजंसियां तथा दूसरी ओर

---

४९ पुनर्गठन का प्रश्न बराबर चलता रहता है। सरकार ने इसके लिए कई बार जांच पड़ताल कराई है। देखें, पाल एपिलबी, पूर्वोक्त, और 'रिएक्जामिनेशन आफ इंडियन एडमिनिस्ट्रेटिव सिस्टम' (दिल्ली १९ ६) और ए डी गोरवाला, 'रिपोर्ट आन पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन' (दिल्ली १९५१)। अभी हाल में प्रशासनिक सुधार आयोग ने इस विषय पर कई रिपोर्टें दी हैं। इनमें भारतीय प्रशासन के बारे में विस्तृत जानकारी और उसके पुनर्गठन के लिए व्यापक सुझाव दिए गए हैं। इन पर अमल किया जाएगा या नहीं यह और बात है। इसके बारे में पिछला अनुभव अच्छा नहीं रहा है।

केन्द्रीय मत्रालया ने सरकारी कपनिया और कारखाना तथा विभागीय उद्योगा
का एक जाल बिछा दिया। केन्द्र और राज्या म सलाह मशविरे की प्रणाली चालू
की, तथा आर्थिक और मानवीय साधना के उपयोग के लिए जाच पडताल, देख
रेख और नीति निधारण की व्यवस्था की। विकास सबधी अनेक मत्रालया के
मत्री विशेषज्ञ लोग हैं, ५० और विभागा मे विशेषज्ञ और टेकनिकल कायकर्ता रखे
गये। राज्यो म भी यही हो रहा है। यहा सबसे अनुभवी अधिकारी मुख्य सचिव
और विकास आयुक्त जैसे सबसे महत्त्व के पदो पर रखे जाते हैं और वे राज्य
का आर्थिक और प्रशासनिक सूत्र सचालन करते हैं। इन्ही अधिकारिया पर और
इनके राजनैतिक मालिका या मत्रिया पर, जो काफी समय तक उन्ही महकमे को
सभालते है, विकास कार्यों का मुख्य भार पडता है। ये लोग एक-सा दृष्टिकोण
और टेकनिकल बाता का गहरा ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। इन लोगा पर इतना
अधिक भार लादना सुव्यवस्था के सिद्धाता के खिलाफ है, मगर इससे लाभ यह
होता है कि नीति और काय मे एक रूपता बनी रहती है। ५१

जिला के स्तर म अधिकार दो अधिकारिया के हाथ म रहत है। साधारण
प्रशासन और जिले की देखरेख का काम जिले का कलेक्टर करता है और उसी
के समकक्ष पद का विकास अधिकारी जिला, ब्लाक और गावो के विकास काय
की देखरेख करता है। ५२ ये अधिकारी निर्वाचित गैर सरकारी पदाधिकारिया के
मातहत काम करते हैं जो स्वय निर्वाचित ब्लाक व जिला परिषदो के प्रति जिम्मदार
होते हैं। केन्द्रीय सरकार, योजना कमीशन और राष्ट्रीय विकास परिषद यह
अनुभव कर रहे थे कि प्रशासन के निचले स्तरा से ढिलाई है, अत इन सस्थाओ
की स्थापना शासन की निचली श्रेणिया को चुस्त बनाने के उद्देश्य से की गई
है। ये सस्थाए अपने उपर अनेक काम ले लेती हैं और प्रशासन को जनता की
जरूरता के मुताबिक चलाने की कोशिश करती है। स्थानीय प्रशासन राष्ट्रीय और
राज्य सरकार की नौकरशाही पर स्थानीय विकास के कार्यों और आर्थिक जरूरतो

५० उदाहरण हैं सी डी देशमुख, के एल राव एम सी चागला, वि क र व राव
एस चद्रशेखर और त्रिगुण सेन। अशोक मेहता भी इसी श्रेणी में हैं। सी सुब्रमनियम भी बड़े
टेकनिकल विषयों के मत्री रहे, इस्पात तथा खाद्य, कृषि और इनमे उन्होंने राजनीतिज्ञ के बजाय
विशेषज्ञ की भाति काम किया।

५१ भारत में बहुत थोड़े ऊपर के आदमी बहुत ज्यादा काम करने की कोशिश करते हैं इस
आलोचना के लिए देखें—पाल एपिलबी, 'पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन । लोकतत्र की स्थिरता के
लिए स्पष्ट विचार वाले सगठित अधिकारी वर्ग के महत्त्व के लिए देखें—एडवर्ड शिल्स, 'पोलिटिकल
डेवलपमेंट्स इन द न्यू स्टेट्स कम्पेरेटिव स्टडीज इन सोसाइटी ऐंड हिस्ट्री, २, १९६०।

५२ प्रशासनिक और विकास सबधी कार्यों में अतर करना कठिन है। कलेक्टर के हाथ में
भी विकास के अनेक कार्य होते हैं, जैसे नये उद्योगों का विकास और वन तथा खनिज सपदा
की रक्षा।

की पूर्ति के लिए दवाव डालता है।

इस प्रणाली का सवसे वडा लाभ यह है कि ऊपर के अधिकारी नीचे के स्तरा को अधिक प्रभावित कर पाते हैं, और अभाव या कष्ट के समय जनता की सहायता करते है, खेती की उन्नति और अन्य सुझावो की प्रेरणा देते है और आर्थिक सहायता और अन्य प्रकार के समथन का आश्वासन देकर उनके निणयो को प्रभावित करते ह। दूसरी ओर ऊपरके लोगा को स्थानीय हालता की जानकारी मिलती रहती है और जनता की भावनाआ का पता चलता रहता है।[५३] इससे सरकार और जनता म परस्पर सपक वढता है।

ववारिक कठिनाइया

नई सस्याओ की स्थापना या पुरानी के सुधार के साथ साथ उनका उपयोग भी ठीक ढग स होना चाहिए और नीति भी परिस्थिति के अनुरूप गतिशील होनी चाहिए। जब प्रगतिशील नेतृत्व का साविका अप्रगतिशिल समाज से पडता है तो अक्सर नीतिया अव्यावहारिक हो जाती है। नेता लोग विकास की अपनी धारणा वना लेती है और ठोस कारवाई के वजाय कितनी वातो, सिद्धान्तो और नारा से सतोप कर लेते हैं और समझ वैठते है कि उनके अमुक कदम का अमुक परिणाम होना ही चाहिए। जब उनको गहरी विफलता मिलती है, तब स्थिति पर पुर्नविचार किया जाता है आर नीति वदली जाती है। भारत म यही बात हुई।

पहली पचवर्षीय योजना की सफलता के वाद वडे पैमाने पर भारी उद्योगा के विकास की योजना वनाई गई। गावो के लिए सामुदायिक विकास, भूमि सुधार के कानून और सहकारी खेती की वडी किताबी या अव्यावहारिक योजना वनाई गई।[५४] भारी उद्योगो के विकास म ही देश के अधिकाश साधन – जो पहले

---

५३ सभी जगह इस प्रकार का परस्पर सपर्क नहीं स्थापित हो सका है। अक्सर पचायतों में जाति या वर्ग का बोलबाला रहता है और सब वर्गों के हितों की देखरेख नहीं हो पाता। निर्वाचित पदाधिकारी सरकारी अधिकारियों पर गलत दबाव भी डालते हैं। फिर भी कुछ बातें स्पष्ट हैं। एक तो चुनावों के कारण ऊची जाति वालों को नीची जातियों से मेल करना पडता है। दूसरे, ऊपर की शखला का अग होने के कारण पचायतों में ज्यादा जिम्मेदारी आ रही है और सबसे बडी बात यह है कि सरकारी नौकरशाही को अब जनता की मांगों पर ध्यान देने और मजबूर होना पडता है। देखें – ए. हेन्सम। इस प्रणाली की सभावनाओं और चुनावों का भूमिका के लिए देखें – एस सी जैन 'कम्युनिटी डेवलपमेंट ऐंड पचायती राज इन इंडिया' (कलकत्ता और बवई १९६७)।

५४ इस में शब्दजाल अधिक था, ठोस कारवाइ कम। भूमि सुधार कानूनों में भी राजनीतिक वास्तविकता की उपेक्षा की गई। सहकारी खेती के मामले में भी वास्तविकता का ध्यान नहीं रखा गया। नागपुर प्रस्ताव द्वारा कांग्रेस दल ने 'सहकारी लोकतंत्र' की स्थापना का ऐलान

[आगले पृष्ठ पर]

ही से कम थे – लग गए और खेती पर बहुत कम ध्यान दिया जा सका।[५५] जब कि खेती की उन्नति के बिना, देश की दशा मे कोई वास्तविक सुधार न हो सकता था। नतीजा यह हुआ कि योजना के लक्ष्य पूरे न हो सके। राज्य सरकारो ने, जो योजना कमिशन के पोथी पडितो के मुकाबले, वास्तविकता को ज्यादा समझती थी भूमिसुधार के कानून बनाने और सरकारी खेती को चालू करने मे उत्साह न दिखाए और जनता ने सामुदायिक विकास योजना के निर्माताओ के उपदेशो पर कोई ध्यान न दिया। इस से स्पष्ट हो गया कि केवल लक्ष्य निर्धारित कर देने से ही विकास का काम पूरा नही हो जाता।

सामुदायिक योजना की विफलता को शब्दजाल से ढकने का प्रयत्न किया गया और नए नए सुझावो की झडी लगा दी गई, जो कभी पूरे नही हो सके।[५६] योजना बनाने वालो तथा प्रशासको ने अपना दोष स्वीकार करने के बजाय किसानो पर अकमण्यता का दोष मढा। देशी और विदेशी समाज शास्त्रियो ने भी भारतीय जनता की अकमण्यता और भाग्य के भरोसे रहने की मनोवृत्ति को ही दोष दिया।[५७] इन लोगो ने इस बात पर ध्यान नही दिया कि खेती के साधनो के अभाव और अधिकारियो की खामख्यालो और कूढमगजी के कारण किसान नए तरीको की जोखिम उठाने को तैयार न था।

इस बीच लोकतंत्री प्रणाली ने अपना असर दिखाया। सघीय व्यवस्था, स्थानीय नेता और पार्टी सगठन की गतिविधि जोरो से चालू होने के फलस्वरूप ऐसे नेता

[पिछले पृष्ठ से]
किया, मानो कलम की नोक से इसकी स्थापना हो जायगी। इस प्रस्ताव की गहरी प्रतिक्रिया हुई और फलस्वरूप स्वतंत्र पार्टी का जन्म हुआ। प्रस्ताव की अव्यावहारिकता स्पष्ट हो गई और इसको धीरे से खतम कर दिया गया। इस चक्कर में खेती की उन्नति के लिए कोई ठोस काम न किया जा सका।

५५ खेती कोविकास की उपेक्षा और आयोजन की सामान्य त्रुटियों के लिए देखें – डी आर गाडगिल, 'प्लानिंग ऐंड इकनामिक पालिसी इन इंडिया' (पूना १९६१)।

५६ इन सुझावों में सबसे साहसपूर्ण था नीचे से आयोजन का, अर्थात् गांवों की योजना को राज्य और राष्ट्रीय योजना का आधार बनाने का। इस पर कभी अमल नहीं किया गया, यद्यपि इसे त्यागा भी नहीं गया। देखिए – हैन्सन, पूर्वोक्त का अध्याय 'ग्रास रूट्स'। इसमें यह भी बताया गया है कि इस सुझाव को अमल में लाने के लिए क्या कदम उठाए गए।

५७ भारत के बौद्धिक नेताओं के भाषणों और लेखों में भारतीय किसान की अकर्मण्यता की बहुत शिकायत की जाती है। यू एन मिशन रिपोर्ट में भारत के गांवों की प्रगति-हीनता के अनेक कारण बताये गये हैं। इस विषय पर विदेशी पाठकों में कुसुम नायर की किताब – "ब्लासम्स इन द डस्ट" (लंदन १९६१) काफी मशहूर हुई। भारतीय किसानों की अकमण्यता का प्रचार करने वालों में एक डेविड सी मेकक्लेलैंड भी हैं – द 'अचीविंग सोसाइटी' (यूजर्सी १९६१)। भारतीय जनता की उद्यमशीलता के बारे में बहुत अध्ययन किए गए हैं, इनमें से अधिकांश अमेरिकन संस्थाओं द्वारा कराए गए।

ऊपर आए, जो जनता के वोटा का महत्त्व समझते थे और उसकी प्रारभिक जरू-रता को जानते थे। इसलिए उन्हाने विकास के तरीका के बारे म नए सिरे से सोचने का तैयार थे। राज्यो के मुख्यमत्री, काग्रेस अध्यक्ष कामराज, प्रधान मत्री लालबहादुर शास्त्री और इदिरा गाधी तथा काग्रेस के अय यथार्थवादी लोगा ने इन पुर्नविचार मे योग दिया। सी सुब्रमण्यम जैसे कल्पनाशील मत्री और उनके निष्ठावान अधिकारियो ने 'नई आर्थिक नीति' की तफसील तैयार की। लगातार दो वार के अकाल और देश की जनता को भोजन देने के लिए विदेशो से भिक्षा मागने की जलालत ने नीति-परिवतन को बाध्य कर दिया।[५८] योजना का कायक्रम बदल दिया गया, आर्थिक नियत्रण ढीले किए गए, योजना कमीशन का पुनगठन किया गया। (उसको जो जरूरत से ज्यादा महत्त्व मिल गया था, उसे उचित स्तर पर लाया गया।) प्रशासन को निश्चित काम और दिशा दी गई और वास्तविक समस्याओ को सुलझाने मे सक्षम बनाया गया और प्राथमिकताओ का पुर्ननिर्धारण किया गया।

अब काग्रेस मे आर्थिक नीति पर राजनतिक विवाद होने लगे और आर्थिक तथा सामाजिक प्रश्ना को गुटबदी का आधार बनाया गया। १९६९ मे श्रीमती इदिरा गाधी और काग्रेस सगठन के नेताओ मे जो विरोध हुआ, उसके कारण इदिराजी ने बैंको के राष्ट्रीयकरण का निश्चय किया और ऋण तथा पूजी नियोजन के क्षेत्र मे राज्य को बहुत अधिक शक्ति मिली। यह कारवाई तेज विकास म याग देगी या सिफ नारेबाजी का रूप लेगी, यह तो आगे पता चलेगा, किन्तु इतना तो स्पष्ट हो गया कि राजनतिक सघष को नीति के प्रश्ना से जोडने की प्रवत्ति की शुरुआत हो गई। इस के कारण देश के लक्ष्यो' व उद्देश्यो को ठोस रूप मिलने की आशा हो गई है। इस राजनैतिक सघष स नीति म जो परि-वतन होगे उनसे भारत के विकास का राजनतिक नमूना क्या होगा।

इन प्रश्ना पर हम अध्याय ६ मे अधिक विस्तार से विचार करेंगे। यहा इतना ही कहना काफी है कि देश ने जिन सस्थाओ का विकास किया है और उनसे जो राज-नैतिक प्रवृत्तिया चालू हुई है, उनके कारण देश के लक्ष्यो को अधिक ठोस शकल मिलती जा रही है और जनता की भावनाओ और जरूरता के अनुसार नीति में सशोधन किए गए हैं, तथा शासन जनता के अधिक निकट आया है। अभी भी व्यवस्था मे बहुत-सी त्रुटिया हैं, ठोस काय के बजाय नेक इरादा से सतोष कर लेने

[५८] नीति रीति का यह परिवर्तन केवल नीचे से दबाव के कारण नहीं हुआ। ऊपर के लोग भी खेती की उन्नति को प्राथमिकता देने की जरूरत समझ रहे थे। अतरराष्ट्रीय दबाव भी पड़ रहे थे। विश्व बैंक, सयुक्त राज्य अमरीका और सहायता मिशन भी भारत सरकार पर जोर दे रहे थे कि वह विकास की नीति को सुधारे। मगर जैसा कि एक फड रिपोर्ट में स्वीकार किया गया खेती के विकास को सब से अधिक राजनैतिक समर्थन भारत के अदर से मिला।

की प्रवत्ति बनी है और पुरानी रूढिया तथा स्वाथ राष्ट्रीय प्रगति के आडे आत है। सवसम्मत राजनतिक विचार अभी सस्था का रूप नही ले पाये हैं। विकास काय के लिए सस्थाओ मे क्या परिवतन होने चाहिए, अभी इसको नेतागण ठीक समय नही पाए ह। फिर भी ठोस यथाथ का सामना करने और समस्याओ को सुलझाने के लिए नीति और प्रशासन के तत्र में यथोचित सशोधन करने की प्रवत्ति स्पष्ट रूप से लक्षित होती है। राजनैतिक विकास की थोर दिशाओ पर विचार करने के बाद, हम अध्याय ८ से ११ मे विचार करगे कि विभिन्न समस्याओ को सुल झाने में शासन को कितनी सफलता मिली है।

सस्था निर्माण और जनता की स्वीकृति

कहा गया है कि विकास प्रक्रिया की कठिनाइया और दबावो के बावजूद भारत मे स्थिरता बनी रही इसका मुख्य कारण यहा शुरू में ही सस्था निमाण काय का हो जाना है।[५९] स्वतन्त्रता के पहले और बाद म भारतीय लोकतन की सस्थाओ के निर्माण का हमने जो अध्ययन किया है उससे इस मत की पुष्टि होती है। परतु भारत के राजनैतिक नेताओ ने सस्थाओ के निर्माण म क्या रीति नीति अपनाई इसका तफसील से अध्ययन जरूरी है। हमें इन प्रश्नो का उत्तर देना होगा कि सस्थाओ के निर्माण के पीछे क्या प्रेरणा थी और सस्थाओ के विकास और उनके मान्यता व स्वीकृति प्राप्न करने मे जनता के सहयोग और सगठन का क्या हाथ रहा।[६०]

चार बाते स्पष्ट ह। एक तो यह कि भारत मे सस्थाओ के विकास की प्रक्रिया काफी समय तक चलती रही। लबे विदेशी शासन म प्रादेशिक और प्रशासनिक ढाचे की रूपरेखा निर्मित हुई। फिर राष्ट्रीय आदोलन भी लबा चला और उसके लक्ष्यो का विकास हुआ और जनता मे उन्हे मान्यता मिली। फिर दो दशको तक काग्रेस का शासन चला जिसमें सविधान के ढाचे और उसकी प्रक्रिया का निर्माण हुआ और जनता में उनकी जड जमी। इन सब से लोकतन की सस्थाओ का ढाचा मजबूत हुआ। यह प्रक्रिया कभी टूटी नही, निरतर जारी रही और लवे अनुभव के साथ प्रशासन और राजनीति की लबी परपरा भी वतमान रही। मशीन टूटने नही पाइ।

५९ सैमुअल एच हटिंगटन, 'पोलिटिकल डेवलपमेंट एड पोलिटिकल डिके'। इनका मत है कि जनता के सहयोग के साथ हा सस्थाओं का निमाण नहीं हो जाता तो राजनीतिक ह्रास होने लगता है। दूसरों का मत है कि बहुत जल्दी सस्थाए बन जाती हैं तो इससे सघष बढता है और प्रणाली के टूटने की नौबत आती है।

६० देविद मेरा – ट्रैडिशन ऐंड माडर्निटी रिविजिटेड, गवनमेंट ऐंड अपोजिशन ४, स ३, १९६८ ग्राष्म।

लवाई के साथ ही इस प्रक्रिया मे गहराई भी रही। राष्ट्रीय आदोलन और उसी से उत्पन्न राष्ट्र निर्माण का आदोलन दोनो जनता के समर्थन पर आश्रित थे और इसी उद्देश्य से वे जनता मे फैलाए गए। राष्ट्रीय नेता अधिक से अधिक जनता को राष्ट्रीय राजनीति में भाग देने से कभी हिचके नही। सस्थाओ के विकास के हर चरण पर जनता को उसमें शामिल होने का और उससे लाभ उठाने का मौका दिया गया। इससे सस्थाओ की गतिशीलता बनी रही और उनमे जडता नही आने पाई।

देश में जो विचारो और आदर्शो की एकता फैल सकी, उसका कारण यही था कि नेताओ को भी कुछ आदर्शो मे विश्वास था, और इन पर आचरण कर के उन्होने पहले अपने साथी कार्यकर्ताओ मे और फिर जनसाधारण मे इनका प्रचार किया। गाधीजी के लेखो और भाषणो के विशाल सग्रह को पढिए तो आप यही पाएगे। उनमे थोडी-सी बातो को बार बार दोहराया गया है, जब तक कि वे राष्ट्र के मन में न समा गइ और उसकी विचारधारा का अग न बन गईं। नेहरू ने भी यही किया। लोकतत्र समाजवाद, योजना और गुटो से अलग रहने की वह लगातार रट लगाते रहे जिससे इन विचारो ने स्वयंसिद्ध तथ्य का रूप धारण कर लिया और वे राष्ट्र के बुनियादी सिद्धातो मे शामिल हो गए। कुछ समय तक इन बातो ने ही ठोस काय का स्थान लिया। किंतु यदि इन बातो का प्रचार न हुआ होता तो राजनीतिक सस्था मे जडता आ जाती और वह सिद्धातहीन गुटबदी के दलदल मे फस जाती। इसी विचारधारा के कारण दलगत राजनीति देश की एकता का साधन बन गई।

हमने यह भी देखा है कि सविधान द्वारा जो ढाचा स्थापित हुआ, भारतीय नेता उसमें लगातार नई बाते जोडते गए। यह बहुत जरूरी है क्योकि सस्थाओ का ढाचा जड नही होता कि एक बार हमेशा के लिए बन गया और उसमे कोई सुधार न हो सके। जैसे जैसे नई समस्याए उपस्थित हो, उनमें आवश्यक परिवर्तन होना चाहिए। नए राष्ट्र के एकीकरण और सस्थानीकरण का काम एक बार में नही होता, उसे बार बार करना होता है। पुराने मूल्य और उनके सस्थागत रूप, जातिप्रथा, स्थानीय राजनीति प्रादेशिक सगठन, बदलते रहते हैं। यह काम वर्षो तक चलता रहता है। वास्तव म यह कभी रुकता नही। यह धारणा कि सस्थाओ को स्थिर होना चाहिए और अस्थिरता की प्रक्रियाओ से प्रभावित नही होना चाहिए, भारत जैसे नए और विकासमान राष्ट्र की असलियत से मेल नही खाती।

अत मे हम यह कहना चाहते ह कि यह न समझना चाहिए कि सस्थाओ के निर्माण की यह प्रक्रिया पहले से बनाए गए नमूने के अनुसार होती है। इसकी साधारण रूपरेखा कुछ आदर्शो व प्रयोजनो से निर्धारित होती है लेकिन इसका भावी विकास नई परिस्थितियो के अनुसार होता है। नेतावर्ग जो कदम उठाता

है उसका परिणाम क्या होगा यह हमेशा नही सोच पाता । यदि सब परिणामो, विफलताओ, सघर्षो और कठिनाइयो की कल्पना पहले से ही कर ली जाए तो बहुत से कदम उठाए ही नही जाते ।[1]

नसोच परिणामो के बारे में देखिए – अलबर्ट ओ हर्शमैन, 'डेवलपमेन्ट प्राजे स
(वाशिंगटन डी सी १९६७) ।

पार्टीप्रणाली और गठजोड

अब तक हम देख चुके हैं कि भारत को इतिहास से क्या विरासत मिली है, उसने किस प्रकार पुरानी और नई बातो म समन्वय किया और किस प्रकार इसके आधार पर अपने सविधान की और आर्थिक व सामाजिक नीतियो की रचना की। हमने यह भी देखा है कि इन नई सस्थाओ और विचारो तथा कुछ प्रतीको और विधिया के जरिए देश की राजनतिक व्यवस्था किस प्रकार अपना एक स्वरूप ग्रहण कर रही है।

प्रश्न यह है कि ये सस्थाए किस हद तक समाज म प्रवेश कर पाई हैं और राजनैतिक व्यवस्था कहा तक जनता की स्वीकृति पा सकी है। इस प्रश्न के उत्तर के लिए हमे इस व्यवस्था के उन अवयवो या तत्त्वो को देखना होगा जो इसे गति देते हैं। ये तत्त्व तीन है। एक है दल की पद्धति और किस प्रकार यह विभिन्न तत्त्वा या गुटो से गठबधन करके सहमति प्राप्त करने की काशिश करती है। दूसरा है जाति का ढाचा, जो इस पद्धति का सामाजिक आधार बन गया है और तीसरा है वे राजनैतिक सस्कार और सामाजिक प्रवृत्तियाँ जो प्रथम दोनो तत्त्वा से उत्पन्न होते ह। इस और अगले दो अध्यायो म इन्ही तीना तत्त्वो का विवचन किया गया है।[1]

[1] भारताय पार्टी पद्धति पर मेरे पहले के अध्ययन ये है-'पार्टी सिस्टम', 'फार्म ऐंड सबस्टेंस इन इडियन पालिटिक्स का पाचवा लेख, द इकनामिक वीकली, १३, जून ३, १९६१। 'द कॉग्रेस सिस्टम इन इडिया' - एशियन सर्वे ५, न १२ दिसबर १९६४। 'पार्टी पालिटिक्स ऐंड पोलिटिकल डवलपमेंट' इकनामिक ऐंड पोलिटिकल वीकला, वार्षिक अक, फरवरी १९६७। नेशन मेकिंग ऐंड कानर्सेसस - द केस आफ द इडियन नेशनल काग्रेस - सेवेंथ वर्ल्ड काग्रेस आफ द इटरनेशनल पोलिटिकल साइस असोसिएशन, ब्रुसेल्स। 'अपोजिशन इन इडिया परवेनिव ऐंड वीक - रावर्ट डाल सपादित 'दे एमर्जेंस आफ अपोजिशन्स (न्यू हेवेन १९७०)। 'कांग्रेस सिस्टम इन इडिया शीर्षक लेख, 'पार्टी सिस्टम ऐंड एलेक्शन स्टडीज' में छपा है अकेजनल पेपर्स १, सेंटर फार द स्टडी आफ द डेवलपिंग सोसाइटीज (नई दिल्ली - १९६७)। इस अध्याय में इन सब लेखों में प्रस्तुत विचारों को और भी विकसित किया गया है।

प्रतिस्पर्धी प्रमुखता

स्पष्ट है कि भारत की वतमान राजनतिक सस्थाओ की धुरी काग्रेस है। हमने देखा कि काग्रेस ने देश का एक सगठित नेतृत्व दिया, जो उसकी ओर से बोलने का दावा कर सकता था। इस क्रिया म काग्रेस का अपना स्वरूप निखरा और उसने जनता की निष्ठा प्राप्त की। यह भी याद रखना चाहिए कि काग्रेस ने न केवल विदेशी शासन का विरोध किया बल्कि इसने भारतीय समाज म घुस आई बुराइयो का भी विरोध किया। समाज का सुधार और पुनर्निर्माण उसको उतना ही प्रिय था, जितनी देश की आजादी।[2] काग्रेस नेता बार बार यह कहा करते थे कि समाज का पुनगठन आजादी हासिल करने का उपाय है। काग्रेस की यह दोहरी भूमिका—राष्ट्र की ओर से बोलने की और राष्ट्र की कमजोरियो की आलोचना करने और उसे बदलने की – आजादी के बाद शासन सभालने पर भी कायम रही। इससे यह जाहिर होता है कि आजादी की प्राप्ति राष्ट्र निर्माण के काय की शुरुआत है। इसके लिए वतमान स्थिति से असतोष और उसको बदलने की प्रवृत्ति उतनी ही जरूरी है जितनी स्थापित शासन-व्यवस्था को बनाए रखने की। ऐसा न करने के कारण ही एशिया और अफ्रीका की बहुत-सी राष्ट्रीय पार्टिया आजादी के बाद छिन्न भिन्न हो गईं। पार्टी या दल तन्त्र का विकास तभी हो सकता है जब राष्ट्र के एकीकरण के साथ साथ उसके पुनर्निर्माण का भी प्रयत्न चालू रहे।

काग्रेस पार्टी एक विशिष्ट पार्टी है। इसका सगठन चुनाव लडने के उद्देश्य से नही विदेशी शासन के विरोध के लिए किया गया था और इसे जनता म फैलाने के साथ साथ विभिन्न विचारधाराओ और हितो को भी इसम लाने का प्रयत्न किया गया था। इसका परिणाम यह हुआ कि काग्रेस सगठन म प्रधान या सत्ताधारी गुट के अलावा विरोधी गुट भी रहते थे। जब इसने शासक दल का रूप ग्रहण किया, तब भी इसम विरोधी गुट बने रहे। इससे सगठन की शक्ति ही बढी साथ ही इसके नेतावर्ग को विरोधी गुटो की आलोचना का भी लगातार सामना करना पडा। यह आलोचना राजनतिक और सामाजिक प्रश्नो को ले कर की जाती थी। बालिग मताधिकार के द्वारा काग्रेस ने हर स्तर पर प्रतिद्वद्विता के लिए अवसर दिया। चुनावो से केंद्र म काग्रेस की प्रधानता स्थापित हुई, और राज्यो तथा स्थानीय चुनावो मे भी उसकी शक्ति दृढ हुई। उसे देहात के लोगो का समर्थन मिला। चुनावो और योजना के कायक्रमो के द्वारा पहली बार देश की सरकार का गावो

२ काग्रेस एक और अर्थ में विरोध का प्रतिनिधित्व करता था। इसके अंदर अनेक विचारों के छोटे छोटे दल या समूह थे। हिंदू महासभा, कम्युनिस्ट और सोशलिस्ट सभी पार्टियां एक समय काग्रेस के अंग थे। काग्रेस के सत्ताधारी दल से मतभेद हो जाने पर लोग इससे निकल कर अलग पार्टी बना लेते थे और इसमें वापस भी आ जाया करते थे।

म प्रवेश हो सका। इसके साथ ही विपक्षी दल भी सगठित होते गए और उन्होने अनेक स्तरो पर काग्रेस को चुनौती दी।

प्रचलित धारणाए

उल्लेखनीय है कि भारतीय राष्ट्र के प्रमुख निर्माता भी काग्रेस सगठन की इस भूमिका को ठीक तरह से नही समझ पाए थे कि यह सरकार के समानातर जनता में राजनतिक काय करने वाला एक व्यापक सगठन है जिसम विरोधी विचारो और गुटो को भी स्थान है। इसका पता इस बात से चलता है कि गाधीजी ने सन १९४८ म यहाँ तक कह दिया कि काग्रेस का राजनैतिक रूप समाप्त कर दिया जाए और उसके स्थान पर जनता मे रचनात्मक काय करने के लिए लोक सेवक सघ की स्थापना की जाए। उनका कहना था कि जो लोग ससद या सरकारी पदो के इच्छुक है उन्ह काग्रेस छोड देनी चाहिए और अपना अलग राजनतिक दल बनाना चाहिए। काग्रेस को सत्ता और पद की होड से अलग रखना चाहिए। इस प्रस्ताव के पीछे यह विचार निहित था कि काग्रेस जिस आदोलन की प्रतीक थी वह जारी रहना चाहिये। परतु काग्रेस का राजनैतिक रूप समाप्त कर देने का विचार नितात अव्यावहारिक था और काग्रेस के नेताओ ने उसको नही माना।[३]

दूसरे छोर पर सरदार पटेल थे जो काग्रेस से सब राजनतिक गुटो को निकाल कर उसे एक मत का सदढ अनुशासनबद्ध दल बनाना चाहते थे। उन्होने ही सन १९४८ म काग्रेस के विधान मे सशोधन कराया, जिससे सगठन के अदर ऐसे दलो के रहने पर रोक लगा दी गयी जिनकी अलग सदस्यता, विधान और कायक्रम हो।[४]

इसी सशोधन के कारण काग्रेस सोशलिस्ट पार्टी को काग्रेस से निकलना पडा। मगर पटेल के सशोधन का अभिप्राय इससे भी आगे जाना था। वह काग्रेस के व्यापक (सब विचारो को समेटने वाले) स्वरूप को बदल कर इसे अनुशासित काय-

---

३ गाधीजी की यह वसीयत उनकी मृत्यु के एक दिन पहले लिखा गयी थी और यह भारतीय राजनीति के नैतिक स्वर की प्रतीक है। एक ओर इसकी दुहाई वे काग्रेसजन देते हैं जो दलबदी से खिन्न होकर काग्रस से अलग हो गए, दूसरी ओर जनसघ और स्वतन्त्र दल भी इसकी साक्षी देकर यह कहते हैं कि यदि गाधीजी की इच्छा का पालन किया गया होता तो देश में दो या तीन दलों की पद्धति कायम हो सकती थी।

४ १९३० के दशक में काग्रेस से हिंदूसभा को निकाला जा चुका था और युद्ध के समय कम्यु निस्टों को, क्योंकि उन्होंने भारत छोड़ो आन्दोलन का विरोध किया था और युद्धप्रयत्नों में सहयोग किया था। अब काग्रेस में मुख्य सगठित गिरोह काग्रस सोशलिस्ट ही रह गया था। मगर कुछ और नए गुट भी खड़े हो गए जैसे काग्रेस डेमोक्रेटिक फ्रट और काग्रेस सोशलिस्ट फारम।

कर्ताओ का सुमगठित दल बनाना चाहते थे।[५] वह यथार्थवादी व्यावहारिक आदमी थे और वह सब विचारो को साथ लेकर चलने के बजाय, एक नेतृत्व और विचार के मानने पर जोर देते थे। पटेल इस बात को नही समझ सके कि शासक दल के रूप मे भी काग्रेस को कई दशको तक अनेक तत्त्वो को साथ लेकर चलना होगा।[६]

नेहरू वचारिक मतभेदो से कम घबडाते थे और इस बात को ज्यादा समझते थे कि शासक दल के रूप म काग्रेस को आदोलन और राजनीतिक पार्टी, दोनो रूपो मे काम करना है। इसका एक कारण यह था कि उनको भरोसा था कि राष्ट्र को किस ओर जाना चाहिए। साथ ही उन्हे यह भी विश्वास था कि इस विषय म उनके विचारो को काग्रेस स्वीकार कर लेगी। दूसरे, वह पार्टी म खुले मतभेद या झगडो से बचते थे।[७] जैसा हम देख चुके हैं, उनकी नीति अप्रिय प्रश्नो या झगडे की बातो को टालने की रहती थी। गाधी या पटेल के बजाय नेहरू इस बात को ज्यादा समझते थे कि काग्रेस मे विभिन्न विचारो के लोग ह और उसे सहमति से चलना चाहिए। लेकिन नई स्थिति मे काग्रेस सगठन की क्या भूमिका होनी चाहिए, इसे वह भी ठीक न समझ सके। यह स्वाभाविक था कि स्वतत्रता के बाद सगठन के बजाय सरकार का स्थान प्रमुख हो जाए और सरकार को देश के राजनैतिक सगठन के नये काम करने पडे, साथ ही सरकार और जनता की कडी के रूप मे काग्रेस सगठन का भी महत्त्व अभी भी कम नही हुआ था। एक तो देश म सशक्त विपक्षी दलो का अभाव था, दूसरे ससद मे भी अभी विरोधी मत और लोगो की शिकायते ठीक ढग से अभिव्यक्त नही हो पा रही थी इसलिए काग्रेस सगठन को यह काम करना था। नेहरू ने सगठन को यह काम नही करने दिया,

---

५ पटेल का उद्देश्य इतना स्पष्ट नहीं था। वह वाम पक्ष के कट्टर विरोधी थे। सन १९४९ में जब नेहरू देश के बाहर थे तब काग्रेस कार्यकारिणी ने यह निश्चय किया कि राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ के सदस्य भी काग्रेस के सदस्य हो सकते हैं। पटेल ने इस निश्चय का विरोध नहीं किया। बाद में नेहरू के लौटने पर यह निश्चय रद्द हुआ।

६ १९४७ में काग्रेस के प्रधानमत्री श्री शकरराव देव को काग्रेस के असली स्वरूप की अधिक समझ था। एक सकुलर में उन्होंने कहा कि आने वाले कठिन समय में देश की एकता और स्थिरता को बनाये रखने और सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्र में परिवर्तन और विकास के पहले से चले आए अधूरे काम को पूरा करने के लिए एक बड़े राजनैतिक दल के शासन में बने रहने की जरूरत है और काग्रेस का यही काम करना है।

७ नेहरू सोशलिस्टों को काग्रेस से निकालने के इच्छुक न थे। यद्यपि उन्होंने पटेल को ऐसा करने से नहीं रोका (आदोलन के दिनों में गाधीजी से भी वह इसी तरह दब जाते थे और वाम पक्ष का साथ छोड देते थे)। लेकिन बाद में उन्होंने सोशलिस्टों को काग्रस में फिर से लाने की बातचीत चलाई और समय-समय पर कुछ सोशलिस्ट काग्रेस में वापस आते भी रहे। नेहरू प्रगतिशील तत्त्वों के नेता माने जाते थे। नेहरू और पटेल की प्रवृत्ति और विचारों में अतर था और काग्रेस शासन व पार्टी के बारे में उनकी धारणाए भी भिन्न थीं।

क्योंकि वह अपनी ही प्रमुखता कायम करना चाहते थे। सगठन मे अपने विरोधियो या भिन्न मत वालो को उन्होंने शुरू में ही दबा दिया और सगठन को स्वतत्र हो कर काम न करने दिया। राज्या मे वह सगठन पक्ष को सत्ताधारी पक्ष के प्रतिद्वदी के रूप मे काम करने देते थे और इस प्रकार सत्ताधारी गुट पर अकुश रखते थे, किंतु केद्र मे वह सगठन को अपने प्रतिद्वदी के रूप में काम नही करने देते थे और वागडोर अपने हाथ मे रखना चाहते थे। उनके अतिम समय म ही फिर एक बार सगठन की शक्ति बढने लगी और उसमे प्रभावशाली नेता सगठन के पदाधिकारी बने, लेकिन तब तक सामाजिक और राजनैतिक परिवतनो की सूत्रधार क रूप में सरकार की शक्ति स्थापित हो चुकी थी।

स्वतत्रता के बाद काग्रेस की भूमिका क्या हो आर काग्रेस सरकार से उसका क्या सबध हो, इसके साथ ही यह प्रश्न भी था कि उसकी काग्रेस की प्रमुखता क सामने विरोधी दला का क्या स्थान हो। इस विषय पर भी गभीरता से नही सोचा गया। शुरू मे विरोधी दलो को आशा थी कि वे काग्रेस को अपदस्थ कर सकेंगे। लेकिन पहले और दूसरे चुनावा के बाद विरोधी दला की बडी निराशा हुई और काग्रेस के खिलाफ मोर्चा बनाने की बात शुरू हुई। बुद्धिजीवी वग द्विदलीय प्रणाली को ही सब स अच्छी समझते थे आर प्रमुख काग्रेसजन भी आशा करत थे कि धीरे धीरे यहा ऐसी पद्धति का विकास होगा। इस बीच कुछ प्रमुख लोग, जिनमें श्री जयप्रकाश नारायण भी थे, इस नतीजे पर पहुँचे कि दलगत राजनीति भारत के लिए उपयोगी नही, आर व राजनीति स अलग हो गए।[८] दूसरी ओर अशोक मेहता का कहना था कि देश की गरीबी का देखते हुए, देश की सारी प्रतिभा उसे दूर करने में लगनी चाहिए, इसलिए विरोधी पक्षो का काग्रेस स इस काय में सहयोग करना चाहिए, उनका काग्रेस का विरोध नही, स्वस्थ आलोचना द्वारा उसकी नीतियो में सुधार करना चाहिए।[९] मगर उनकी बात का 'अगूर खट्टे है' का उदाहरण समझा गया। नेता लोग यह नही समझ पाए कि देश की सत्ता के ढाचे म विरोधी दला का महत्त्वपूण स्थान है। ये विरोधी दल क्षेत्रीय स्तर पर शक्तिशाली है आर स्वय काग्रेस की आतरिक स्पर्धा क सरक्षक है।

८ जयप्रकाश नारायण, 'सोशलिज्म टु सर्वोदय' (वाराणसी १०५६) 'टुवार्ड्स ए न्यू सोसाइटी' (नई दिल्ली १९५८), 'ए प्ली फार रिकन्स्ट्रक्शन आफ इडियन पालिटी' (वाराणसी १९५९), 'स्वराज फार द पीपुल' (वाराणसी १९६१)।

९ अशोक मेहता, 'पालिटिक्स आफ प्लान्ड इकानामी' (हैदराबाद १०५९), 'द अपोजिशन इन द न्यू स्टेट्स-पेपस आन द रोड्स सेमिनार आन रिप्रेजेंटेटिव गवरनमेंट ऐंड पब्लिक लिबर्टीज इन द न्यू स्टेट्स' (नई दिल्ली, १९०८)। मेहता ने अपने दल के विशेष सम्मेलन में अपने निबध 'पोलिटिकल कम्पल्शस आफ बैकवर्ड इकानमी' में अपने विचार प्रस्तुत किए। देखिए, रिपोर्ट-स्पेशल कनवेंशन आफ द प्रजा सोशलिस्ट पा। (बेतूल १९५०)।

१९६० के बाद ही कांग्रेस में फूट पडने से और डा राममनोहर लोहिया के करारे व्यंगो से उत्तेजित हो कर विरोधी दलो ने विरोध की एक सुसगत पद्धति का विकास किया।

दलीय प्रणाली का विश्लेषणात्मक स्वरूप

इस प्रकार हमारे देश में भी अन्य अनेक देशो की तरह दलीय राजनीति में प्रमुख सूत्रधार दल के विभिन्न अगो के आपसी सबध को ठीक ठीक समझ नही सके। इसका एक कारण राजनीति को वर्गहित-साधन का जरिया समझने की धारणा है जिसमें दल शासन या सरकार के ढाचे से अलग चीज समझा जाता है जो मुख्य वर्गों का हित-साधन करता है। इन्हें ससदीय शासन मे चुनाव के यत्र का एक अग समझा जाता है जिसका काम समाज में प्रचलित वर्गों या विचार सघर्ष का लाभ उठा कर वोटो और सीटो को प्राप्त करने की कोशिश करना है।

इस धारणा मे इस बात को भुला दिया जाता है कि सत्ताधारी और विरोधी पक्षो के ढाचे को सुसगठित करने के लिए सरकार और पार्टी या दल दोनो एक साथ मिल कर काम करते हैं। स्थानीय प्रातीय और राष्ट्रीय विभिन्न स्तरो पर विभिन्न इलाको में सरकार का समर्थन और विरोध सगठित करने में लोगो को राजनीति और सार्वजनिक मामलो में लगाने में तथा सरकार या सत्ता से सबध जोडने में पार्टी-पद्धति का जो हाथ होता है उसकी भी उपेक्षा कर दी जाती है। यह बात भी भुला दी जाती है कि पार्टिया समुच्चयन और विघटन दोनो काम करती हैं और अनेक बीच की सस्थाओ और सगठनो के जरिये काम करती हुई सघर्षों को फैलने मे रोकती है और जनता को शासन की विभिन्न सस्थाओ और क्षेत्रो में जैसे स्थानीय शासन राशन कोआपरेटिव आदि में दिलचस्पी लेने को प्रवृत्त करती है पार्टी या दल सरकार को विभिन्न क्षेत्रो में कारवाई करने को भी प्रवृत्त करते हैं। पार्टिया केवल एक दूसरे से स्पर्धा और जनता का प्रतिनिधित्व ही नही करती, वे इस प्रकार सरकार के पक्ष या विपक्ष मे साधन भी प्रस्तुत करती हैं।

यदि इस बात का समर्थ लिया जाए तो यह भी समझ में आ जाएगा कि केवल दो दलो की पद्धति से समाज के विभिन्न हितो और मतो को शासन मे भाग लेने और अपनी आवाज बुलद करने का पूरा अवसर नही मिलता। पश्चिम के देशो में भी दो दलो की पद्धति से असतोष बढ रहा है और उससे अल्पमतो को अभि-व्यक्ति और प्रतिनिधित्व नही मिल पाता। यदि पार्टिया कई हो, और विभिन्न स्तरो और क्षेत्रो में काम करें तो अल्पमतो का प्रतिनिधित्व ज्यादा अच्छा हो सकेगा। फिर भी नए राज्यो में भी दो दल पद्धति का ही दौरदौरा है। आगे हम पार्टी पद्धति का अध्ययन इस दृष्टि से करेंगे कि सरकारी क्रियाकलाप को उसने किस प्रकार प्रभावित किया है, विभिन्न स्तरो पर उसने कैसा काम किया है और

समाज की ओर से इसकी क्या प्रतिक्रिया हुई है।[10]

मुख्य विशेषताए

पहले हम यह देखगे कि पार्टी पद्धति के विकास की पृष्ठभूमि क्या है और उसमे सहमति और मतभेद का क्या रूप रहा है।

(१) पार्टी पद्धति का विकास एक सुपरिचित केन्द्र से हुआ, जिसका उदय स्वतन्त्रता से अनेक दशक पूव हुआ। इस सुपरिचित केन्द्र की अभिव्यक्ति इडियन नेशनल काग्रेस के देशव्यापी सगठन और प्रभावशाली नेतृत्व के द्वारा हुई।

(२) ये नेता मुख्यत अग्रेजी पढे ऊची जाति के और इस प्रकार सामाजिक रूप से समरूप एक छोटे से वग के थे।[11]

(३) विरोधी दल भी इसी वग से निकले। स्वतन्त्रता के पहले भी काग्रेस के अदर विरोधी दल या समूह थे। स्वतत्रता के बाद काग्रेस के अदर गुटबदी बढने के साथ साथ उसके बाहर भी विरोधी पार्टिया का सगठन हुआ। अधिकतर विरोधी दला के नेता पहले काग्रेस मे रह चुके थे और उनकी सामाजिक–बौद्धिक पृष्ठभूमि एक–सी थी।

(४) इस प्रकार राजनीतिक दला का विकास एक मध्यवर्ती दल के फूटने से हुआ, सामाजिक और आर्थिक हितो के आधार पर नही। यह विरोध ससदीय लोकतन्त्र की नई सस्थाओ और वालिग मताधिकार के माध्यम स सगठित हुआ और शासन तथा विकास कार्यों के विभिन्न स्तरा पर प्रकट हुआ। यह विरोध सामाजिक या वग सघर्ष का परिणाम नही था बल्कि राजनैतिक फट या सघर्ष का परिणाम था।

(५) विरोध की इस पृष्ठभूमि का एक नतीजा यह हुआ कि भारत म सरकार, सरकारी दल म विरोधी या असतुष्ट गुट, विरोधी दल और विरोधी दला म असतुष्ट गुटा म स्पष्ट अतर न था और विभाजन–रेखा अस्पष्ट थी। सत्ताधारी और विरोधी दोना दलो मे वैचारिक स्पष्टता और एकता का अभाव है। इससे सरकार और पार्टी या दल के बीच रेखा खीचना भी कठिन हो गया।

---

१० देखें, मेरा 'इन्ट्रोडक्शन टु कन्टेक्स्ट आफ एलेक्टोरल चेंज इन इडिया' (नई दिल्ली – सटर फार स्टडी आफ डेवलपिंग सोसाइटीज १९६०)। माइरन वीनर ने भारतीय पार्टियों का विस्तार से अध्ययन किया है, देखें – उनका 'पार्टी पालिटिक्स इन इडिया, डवलपमेंट आफ ए मल्टी पार्टी सिस्टम' (प्रिंसटन १९५७) और 'पार्टी बिल्डिंग इन ए न्यू नेशन, द इडियन नेशनल काँग्रेस' (शिकागो १९६७), वीनर के मत की सरकार के काय की दृष्टि से आलोचना के लिए देखें – फ्रांसीन आर फ्रकेल, 'डेमोक्रेसी ऐंड पोलिटिकल डेवलपमेंट, पसपेक्टिव फ्राम द इडियन एक्सपीरियंस', वर्ल्ड पालिटिक्स, २१ स ३, अप्रेल १९६९।

११ गोपाल कृष्ण, 'वन पार्टी डामिनेन्स – डेवलपमेंटस, पार्टी सिस्टम ऐंड एलेक्शन स्टडीज, अकेजनल पेपस १, सटर फार स्टडी आफ डेवलपिंग सोसाइटीज (नई दिल्ली–१९६७)।

(६) सत्ता और अधिकार के बल पर पार्टी का यह ढांचा टिका हुआ है। सरकारी तंत्र से संबंध रख कर ही नेतावर्ग अपनी स्थिति बनाये रख सकता है। इसके लिए किसी दल और गुट से संबंध रखना जरूरी है। जो लोग ऐसा संबंध नहीं रख सके, वे प्रभावहीन हो गए, भले ही व्यक्तिगत रूप से उनका कितना ही प्रभाव रहा हो। इसी कारण पार्टी या दल का स्पष्ट वैचारिक आधार न होते हुए भी सदस्य या नेता पार्टी की उपेक्षा नहीं कर सकते, क्योंकि भारतीय राजनीति का केंद्रबिंदु सरकार है इस लिए यहां वे ही जीवित रह सकते हैं, जो सरकारी दल में हों या सरकार विरोधी दल में।[१२]

(७) इससे भारतीय राजनीति में बड़ी स्वतंत्रता आ गयी है। न सिर्फ यहां नए दल बनाने और दल परिवर्तन की स्वतंत्रता है बल्कि सत्ताधारी दल के विभिन्न गुटों से विरोधी दलों का परस्पर संबंध बना रहता है। जब कोई दल बहुत दिनों तक सत्ता में बना रहता है, जैसे कि कांग्रेस, तब उसमें कई स्पष्ट गुट बन जाते हैं। ऐसा होने पर विरोधी दलों का प्रभाव बढ़ जाता है। विरोधी नेता विधान सभा के भीतर और बाहर आलोचना द्वारा, या सत्ताधारी दल के गुटों या सदस्यों पर अपने व्यक्तिगत प्रभाव के द्वारा (कई नेताओं का कांग्रेस से अलग हो जाने पर भी कांग्रेस जनों पर बड़ा प्रभाव है) सरकारी नीतियों और निर्णयों को प्रभावित कर लेते हैं। १९६७ तक विरोधी दलों का बहुत कम प्रभाव था और कांग्रेस के अंदर विरोधी गुट विरोधी दलों का काम करते थे, उनमें से अनेक तो अक्सर विरोधी दलों की नीतियों और विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व करते थे और कांग्रेस दल के अंदर विरोधी दलों की भाषा में बात करते थे। इन गुटों के द्वारा सरकार और विरोध पक्ष में कड़ी जुड़ी रहती थी और उनमें काफी खुल कर राजनैतिक व्यवहार चलता था।[१३]

(८) जब सरकारी दल का स्थिर और स्पष्ट बहुमत रहता है तब विरोधी पक्ष उसकी नीतियों को ज्यादा प्रभावित कर पाते हैं, बनिस्बत उस समय के जब

१२ अनेक अत्यंत प्रभावशाली नेता कांग्रेस या अन्य दलों को छोड़ने के बाद अस्त हो गए। कांग्रेस ने दल छोड़ने वालों के साथ बड़ी कड़ाई का बर्ताव किया। ऐसे लोगों में चक्रवर्ती राजगोपालाचारी, आचार्य कृपलानी, एन. जी. रंगा, हरेकृष्ण महताब, कृष्ण मेनन और टी. टी. कृष्णमाचारी हैं, यद्यपि कृष्णमाचारी कांग्रेस से अलग नहीं हुए। जिन लोगों ने कांग्रेस छोड़ने के बाद दूसरे दल स्थापित किए, उनका प्रभाव बना रहा, जैसे अजय मुकर्जी, चरणसिंह और गुरनामसिंह। पार्टी का महत्त्व इससे सिद्ध है कि निर्दल सदस्यों का, उनको छोड़ कर जिनका सरकार से संबंध है, कोई राजनैतिक महत्त्व नहीं।

१३ देख, मेरा 'पार्टी सिस्टम'। डब्ल्यू. एच. मारिस जोन्स ने, गवर्नमेंट ऐंड अपोजिशन १ सं ४, अगस्त १९६६ में अपने निबंध 'डामिनेंस ऐंड डिसेंट' में यही मत प्रकट किया है। विरोधी पक्ष के खुले या बंद रूप के बारे में देखिए, एडवर्ड शिल्स का निबंध 'अपोजिशन इन द न्यू स्टेट्स आफ एशिया ऐंड अफ्रीका,' गवर्नमेंट ऐंड अपोजिशन, १, सं. २, फरवरी १९६६।

सरकारी बहुमत अस्थिर होता है। कारण जब सरकार मजबूत होती है, तो दल के भीतर विरोध को छूट दी जाती है। विरोधी दल भी इस स्थिति मे लोकतन्त्री पद्धति से चलते हैं लेकिन जब सरकार का बहुमत बहुत थोडा रहता है, तब विरोधी दलो की प्रवृत्ति तोडफोड करके सरकार को उलटने की रहती है। अस्थिर बहुमत से सत्ताधारी दल मे ज्यादा एकता और अनुशासन आने के बजाय, गुटबदी और फूट को प्रोत्साहन मिलता है। विरोध के ये दोनो ही रूप भारत मे देखने को मिलते है।

(९) यहा केवल राजनैतिक दल का सगठन करने और चुनाव लडने की ही छूट नही है, बल्कि सरकार के विरुद्ध आदोलन करने की भी छूट है। राष्ट्रीय आदोलन के दिनो से ही इस प्रकार के विरोध, सीधी कारवाई, सत्याग्रह, अनशन आदि की परपरा चली आई है। लोकतत्र के सिद्धात से जनता के नाम पर आदोलन करने का समर्थन किया जाता है। साधारणत ऐसे आदोलनो को उचित समझा जाता है और सरकार भी इन पर ध्यान देती है। इनकी उपेक्षा करना सरकार के लिए कठिन हो जाता है। [१४]

(१०) साधारणत कुछ उग्रवादियो को छोड कर सरकारी दल के अन्दर विरोध और जन आदोलनो का उद्देश्य सरकार को उलटना नही बल्कि उसमे प्रवेश पाना रहता है। इसलिए उन्नत या अमीर देशो के ऐसे आदोलनो के विपरीत यहा ये आदोलन छिटपुट और असगठित रहते है और तात्कालिक उद्देश्य सिद्ध होने के बाद ये खतम हो जाते हैं।

(११) विरोधी तत्वो का उद्देश्य सत्ता या व्यवस्था को उलटना नही, उस पर कब्जा करना है। अक्सर विरोधी दल सत्तारूढ दल के सिद्धान्तो या लक्ष्यो का विरोध नही करते, बल्कि यह कहते है कि सत्ताधारी दल उन पर अमल नही करता। इसका एक कारण यह है कि विरोधी दलो के नेता भी उसी वर्ग के है जिसके काग्रेस वाले है। उल्लेखनीय है कि १९६७ के आम चुनाव के बाद, देश के आधे राज्यो मे गैर-काग्रेसी सरकार कायम हुईं, किंतु ८ मे से ६ मुख्यमत्री भूतपूर्व काग्रेसी थे। इस तरह न केवल व्यक्तियो मे, बल्कि विचारधारा और कार्यक्रम मे भी काग्रेस और विरोधी दलो मे कडी बनी रही। इस प्रकार विरोध को राजनीतिक व्यवस्था मे मान्यता मिली।

(१२) व्यवस्था की धुरी सरकार है। पार्टी की अधिकतर गतिविधि सरकार या शासन के जरिये चलती है। सरकारी शक्ति और साधनो, खास कर विकास कार्यक्रमो के साधनो के जरिए सत्ताधारी दल अपने सगठन को फैलाता है। इसलिए

१४ ससदीय लोकतन्त्र में सरकार के लिए अपनी प्रतिष्ठा के नाम पर कड़ा रुख अपनाना सभव नहीं होता। देखिये, मेरा 'डाइरेक्ट ऐक्शन – ए पैटन आफ पोलिटिकल बिहेवियर', क्वेस्ट (बबई), न २४, जनवरी १९६०।

विरोधी दल भी सत्ता पर कब्जा करना चाहते हैं। राजनैतिक व्यवस्था, अधिकाशत सरकारी नौकरशाही और विकास की मशीनरी पर चलती है, इसलिए राजनैतिक अस्थिरता या एक दल के सत्ताच्युत होने पर भी काम चलता रहता है। राजनैतिक अस्थिरता या सरकार के पतन की स्थिति में काम चलाने के लिए सविधान मे व्यवस्था है। इस के अलावा अगरेजो के समय में जब दलतत्र नही था, प्रशासन का जो ढाचा बना था, वह राजनैतिक अस्थिरता के समय मे काम करता रहता है। काग्रेस के हाथ मे जब सत्ता आई तो उसने सरकार और राजनैतिक तत्र को समाज व राष्ट्र के विकास का मुख्य साधन बनाया। केन्द्रीय सरकार की सत्ता राष्ट्र के अस्तित्व का आधार बनी। इसलिए न सिर्फ केन्द्रीय सरकार को दृढ बनाया गया, बल्कि उसके अधिकार और शक्ति को बहुत बढाया गया। राष्ट्रीय सरकार के प्रति निष्ठा, राजनीति का मुख्य सिद्धात और कसौटी बन गई और सरकार तथा सरकारी दल राष्ट्र और राष्ट्रीयता के प्रतीक बन गये। सरकार के नेता चोटी के राष्ट्रीय नेता थे, इससे स्थापित व्यवस्था को जनता की निष्ठा और समर्थन मिला। बाद मे जब विरोधी पक्ष का उदय हुआ तब विरोध का अर्थ सरकार का विरोध हो गया। इस प्रकार चुनाव का उद्देश्य सरकार का विरोध या समर्थन हो गया।

(१३) इसका यह अर्थ नही कि प्रचलित राज्यव्यवस्था का बुनियादी विरोध नही किया गया या इसकी बुनियाद को चुनौती नही दी गई। प्रत्युत भारत के अनेक प्रमुख व्यक्तियो ने भी इस व्यवस्था की उपयोगिता पर शका प्रकट की है। फिर भी इससे इस व्यवस्था के चलने मे कोई गहरा व्याघात नही आया। लेकिन अभी इस व्यवस्था की जड बहुत गहरी नही गई है, और आर्थिक क्षेत्र मे इसका कार्य सतोषजनक नही रहा है। इन भारी समस्याओ का सामना करना पडा है और जैसे जैसे राष्ट्रीय प्रश्न स्पष्ट होते गए है, इस व्यवस्था की आलोचना भी बढती गई है। खास कर शहरी बुद्धिजीवी वर्ग इसकी बहुत टीकाटिप्पणी करता है और इसके प्रति अनास्था प्रकट करता है। शहरी बौद्धिक वर्ग की यह आलोचना मौखिक विरोध तक ही सीमित है।

(१४) व्यक्ति का महत्त्व राजनीति मे अभी भी बहुत है। व्यक्तिविशेष को लेकर गुट बनते है। एक और बात यह है कि एक ही सगठन के विभिन्न अग अलग अलग काम करते है। एक ही दल की राष्ट्रीय और राज्य शाखाए विपरीत दिशाओ में चलती है और ऐसे गुटो और तत्त्वो से हाथ मिलाती है, जो विचारधारा और नीति में उनसे भिन्न है। इस प्रकार व अवसरवादिता का परिचय देती है। प्रदेशो या राज्यो की स्थिति और समस्याओ में भिन्नता होने के कारण एक ही दल को भिन्न भिन्न राज्यो में भिन्न भिन्न ढग से काम करना पडता है। वही दल एक जगह सरकार बनाता है और दूसरी जगह विरोधी दल के रूप में काम करता है। इससे दल

का एक निश्चित स्वरूप और नीति नही निखर पाती। केवल काग्रेस ही अपने लबे इतिहास और देशव्यापी सगठन के कारण अपनी एक तस्वीर या स्वरूप बना पाई है। कुछ और दल जो ऐसा कर सके हैं, महज प्रातीय दल है, जैसे मद्रास मे द्रविड मुन्नेत्र कजगम्, पजाब म अकाली दल और असम तथा उडीसा मे आदिम जातियो के दल। कम्युनिस्ट दल भी जो बडा अनुशासित माना जाता है, बजाय एक अखिल भारतीय दल के, बगाल और केरल के प्रातीय दल के रूप मे ही काम कर सकता है। राजनतिक सरगर्मी बढने के साथ साथ राष्ट्रीय दला के प्रातीकरण का प्रवृत्ति भी बढी है, घटी नही, और स्थानीय दलो तथा व्यक्तिया का महत्त्व भी बढा है।

(१५) इसस राजनीति म व्यक्तिया का महत्त्व बहुत बढा है यद्यपि गाधी और नेहरू जसे महान और चमत्कारी व्यक्तियो की परपरा खतम हो रही है, फिर भी समय समय पर कुछ व्यक्तिया नें राजनीति को प्रबल रूप से प्रभावित किया है, और अक्सर प्रभावशाली व्यक्तित्व के हटने पर दल की हालत बिना पतवार की नाव जसी हो जाती है, जैसी डॉ० राममोहन लोहिया के देहात के बाद स सो पा की हुई। यद्यपि कम्युनिस्ट दल का अनुशासन कठोर रहा है, फिर भी उसमे, पी सी जोशी, रणदिवे और डागे के सत्ताच्युत होने से फूट पडी है। स्वतत्र पार्टी तो शुरू से ही सगठित नही रही और शायद राजाजी के न रहने पर वह इस रूप म जीवित भी न रह सके। जनसघ राष्ट्रीय रूप ग्रहण करने की कोशिश कर रहा है, मगर इस फेर म, उसका बल राज्यो म कम हो रहा है। काग्रेस मे भी उसके बडे नेताओ के चले जाने के बाद टूट फूट शुरू हो गयी। १९६९ म उसमे सर्वोच्च स्तर पर खुले आम गहरी फूट पड गई। फिर भी अन्य दलो की अपेक्षा अपनी स्थिति को सभालने मे काग्रेस ने ज्यादा क्षमता दिखाई है। साथ मे सत्ता होने के कारण भी, काग्रेस को आतरिक फूट और झगडा के धक्के सभालने म मदद मिली है और सभवत इसी कारण केरल और बगाल म मार्क्सवादी कम्युनिस्ट दल भी अपने सगठन की एकता को कायम रख सका है।[१५]

(१६) गर काग्रेसी दलो में भी काफी फूट रही है, मगर १९६७ के बाद उन्ह भी सत्ता ग्रहण का मौका मिला है और इसस उनकी शक्ति बढी है। यद्यपि उनमे स अधिकाश बहुत दिना तक सत्तारूढ नही रह पाए, फिर भी उनका पुन सत्ता प्राप्ति की आशा उतनी क्षीण नही है, जितनी सन १९६७ के पहले थी। काग्रेस अब उतनी अजेय और अटल नही रही जितनी पहले समझी जाती थी। इससे दूसर दलो म भी प्रचलित व्यवस्था के प्रति लगाव पैदा हुआ है और उनका रुख भी

१५ मार्क्स कम्युनिस्ट पार्टी के सगठन के कायम रहने का एक कारण नबूदरीपाद और ज्योति बसु जैसे नेताओं का प्रभावशाली व्यक्तित्व भी है। इसी प्रकार अन्नादुरै के व्यक्तित्व के कारण मद्रास में द्र मु क भी दृढ है। राजनैतिक दलों के सगठन और नेता की भूमिका पर इस पुस्तक के अध्याय ८ में विस्तार से विचार किया गया है।

पहले जैसा उग्र और अव्यावहारिक नही रहा। एक तरफ काग्रेस की शक्ति घटने से, भारतीय राजनीति मे अब उन प्रश्नो और समस्याओ पर बहस होने लगी है, जिनको अब तक टालने की कोशिश की जाती थी। इससे एक बात राजनैतिक दलो के सामने और स्पष्ट हो गई कि अब केवल सत्ता ग्रहण करने से काम न चलेगा, कुछ करके दिखाना भी होगा। इसका यह अर्थ है कि अब यह परीक्षा हो जाएगी कि वतमान राज्यप्रणाली चल सकती है या नही।

प्रणाली का विकास

अब हम देखेंगे कि स्वतत्रता के बाद से वतमान प्रणाली मे क्या परिवतन या विकास हुआ है राजनतिक सत्ता के लिए दलो म किस प्रकार गठजोड हुए है और इससे किस हद तक नई परपराए स्थापित हुई हैं।

शुरू का अध्याय

गाधीजी की मत्यु के बाद सत्ता नेहरू और पटेल दो आदमियो के साझे आई। यह गठजोड अजीब था। इन दोनो के विचार, स्वभाव, राजनैतिक सबध, सब बिलकुल अलग अलग थे। नेहरू की बौद्धिकता, जनता पर गहरा प्रभाव और प्रगतिशीलता के मुकाबले पटेल की ठोस व्यावहारिकता और सगठन-कुशलता थी। यद्यपि दोनो एक दूसरे की जरूरत और महत्त्व अनुभव करते थे और आपस मे टक्कर बचाने की कोशिश करते थे, फिर भी दोनो का अतर इतना स्पष्ट था और काग्रेस के सामने नीति के ऐसे आवश्यक प्रश्न उपस्थित थे जिन पर निणय लेने मे देर नही की जा सकती थी, कि इस द्वद्व का निपटारा होना ही था। सन १९५० मे काग्रेस के अध्यक्ष के चुनाव के प्रश्न पर नेहरू और पटेल का द्वद्व खुल कर सामने आया, जब पटेल के उम्मेदवार पुराने खेवे के काग्रेसजन पुरुषोत्तमदास टडन ने प्रगतिशील समझे जाने वाले कृपालानी को हरा दिया। इसके थोडे ही दिनो बाद पटेल की मृत्यु हो गई और केंद्रीय सरकार में नेहरू का एकछत्र अधिकार हो गया। काग्रेस सगठन अर्थात टडनजी से नेहरूजी की टक्कर होने में देर न लगी। कृपालानी और उनके काग्रेस डेमोक्रेटिक फ्रट को काग्रेस से हटना पडा। काग्रेस की रीतिनीति से नेहरू असतुष्ट थे। उनका आरोप था कि सगठन पक्ष केंद्र और राज्य सरकारो के काम में अनुचित हस्तक्षेप कर रहा है। न सिर्फ काग्रेस सरकार के बीच में यह विरोध नेहरू को असह्य था, वे यह भी चाहते थे कि १९५२ के चुनाव में सही किस्म के आदमी चुने जाए और विधान मडल तथा सरकार मे जाए।

अत नेहरू ने सगठन को हाथ में लेने का निश्चय किया। उन्होने टडन से यह कहा कि या तो मुझे काग्रेस कायकारिणी का पुनगठन करने दो, वरना मेरा इस्तीफा लो। इस अल्टिमेटम के फलस्वरूप स्वय टडन जी ने काग्रेस के अध्यक्ष पद

से इस्तीफा दे दिया। इसके बाद नेहरू कांग्रेस अध्यक्ष बन गए और अगले चार वप तक वह सरकार और सगठन दोनो के प्रधान बने रहे।[१६] इस बीच उनका एकछत्र प्रभाव हो गया। पहले आम चुनाव म उनके नेतत्व मे कांग्रेस को पूण विजय मिली। घरेलू और विदेशी नीति के सारे महत्वपूण निश्चय उन्ही के थे। इस प्रकार उन्होने तै कर दिया कि देश किस रास्ते पर चलेगा। इसके बाद उन्होने दूसरा को काग्रेस का अध्यक्ष बनने दिया, परतु लगाम अभी भी उनके हाथ मे थी।[१७]

काग्रेस सगठन और कांग्रेस सरकार के बीच इस द्वद्व को समझना जरूरी है। अधिकारा नव स्वतन्त्र देशा म अधिकार प्राप्त करने के बाद राष्ट्रीय नेताओ म इस प्रकार का द्वद्व उठता है। जहा इस द्वद्व का जल्दी निपटारा कर लिया जाता है, वहा विकास का क्रम जल्दी शुरू हो जाता है। भारत मे नेहरू के नेतृत्व मे यह काम १९५० के बाद ही शुरू हो गया। अगले दस वर्षा तक नेहरू का प्रताप-सूय मध्याह्न पर रहा। उनके जीवन के दो उद्देश्य थे —लोकतन्त्र और आर्थिक विकास, और उन्होने सारी शक्ति से देश को इन लक्ष्यो की ओर ले जाने का यत्न किया। पिछले अध्याय मे पचायत राज आदि जिन सस्थाओ का जिक्र किया गया है, उनका उद्देश्य यही था और वे इसी अवधि मे विकसित की गई।

चुनाव द्वारा जनता मे प्रवेश

इन सस्थाओ की स्थापना का उद्देश्य जनता म प्रवेश करना था। महत्त्व केवल कांग्रेस महासमिति के प्रतिनिधियो का न था, जो हर साल नेहरू और उनके आद मियो का समथन कर दिया करते थे, वरन देश के जनसाधारण का था। कांग्रेस सगठन पर नेहरू के कब्जा करने के थोडे ही दिना बाद देश का पहला आम चुनाव फरवरी सन १९५२ म हुआ जिसम प्रत्येक बालिग स्त्रीपुरुष को वोट देने का अधिकार था। ज्यादातर राजनीतिक चेतना शहरा तक ही सीमित थी और वही कांग्रेस को विरोध का सामना करना पडा। कोई भी निश्चयपूवक यह नही कह सकता था कि गावो की अशिक्षित जनता का क्या रुख होगा और वह चुनाव की इस नई विधि म कितनी दिलचस्पी लेगी। इतने बडे चुनाव का प्रबध करना और साम्प्रदायिक तथा कम्युनिस्ट तत्त्वा को, जो उस समय काफी सक्रिय थे, उपद्रव करने से रोकना, कोई छोटा काम न था। कांग्रेस भी हाल के आतरिक सघप स

---

१६ दूसरे देशा म भी इसी प्रकार शक्ति के सभी स्रोतों को एक ही हाथ म लेने के प्रय न हुए, जैसे घाना म एनक्रूमा और इन्डोनेशिया म सुकार्णो द्वारा। फक इतना ही था कि नेहरू इन दोनों की तरह तानाशाह नहीं बने।

१७ यद्यपि १९५४ में नेहरू ने कॉंग्रेस अध्यक्ष का पद छोड दिया, लेकिन जो भी अध्यक्ष चुने गए वे सब उन्हीं की मर्जी से चलते थे। दूसरी ओर राज्यों म उन्होंने सगठन और कांग्रेस मंत्रि-मडलों में प्रतिद्वद्विता को बढावा दिया।

हिल चुकी थी और यह नहीं जा सकता था कि वह एकताबद्ध होकर चुनाव के मैदान में उतर सकेगी या नहीं। १९२ पार्टियां और १७०० उम्मीदवार मैदान में थे और करीब १७३० लाख मतदाता १९६००० मतदान केन्द्रों में बंटे हुए थे। इनके दल के बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता था।

चुनाव के नतीजों ने उन लोगों को गलत सिद्ध कर दिया जो कांग्रेस की सफलता में संदेह करते थे।[18] कांग्रेस को केन्द्र और राज्यों में भारी बहुमत प्राप्त हुआ।[19] लोकसभा में उसे ४८९ सीटों में से ३६४ अर्थात ७४.४ प्रतिशत सीटें मिलीं। राज्यों की विधान सभाओं की ३२८३ सीटों में से उसे २२४६ अर्थात ६८.४ प्रतिशत सीटें मिलीं। अगले १५ वर्षों तक ३ आम चुनाव और अनेक छोटे या मध्यावधि चुनावों में भी कमोबेश कांग्रेस को इसी प्रकार सफलता मिली। १९६७ के बाद भी, जब अनेक राज्यों में दूसरे दलों की सरकार बनी, कांग्रेस ही देश का प्रधान और सबसे शक्तिशाली दल है, जिसका प्रभाव देश भर में है (देखिए सारणी पांच १, २ और ३)

लेकिन यह कहना गलत होगा कि भारत में सत्ता पर कांग्रेस का एकाधिकार रहा है। सन १९६७ के पहले भी यह बात सही नहीं थी। इसका एक कारण यह है कि कांग्रेस का विरोध करने वाली पार्टियां अनेक थीं और उनमें से कुछ ने कांग्रेस को अपदस्थ भी किया। सारणीयों से यह भी पता चलेगा कि गैरकांग्रेसी पार्टियों को मिले सब वोटों को जोड़ दिया जाए तो उनकी संख्या कांग्रेस को मिले वोटों से हमेशा अधिक रही। सीटों में भी हर राज्य में कांग्रेस का पूर्ण बहुमत नहीं रहा। १९५२-५३ और १९६३-६४ में दो बार थोड़े थोड़े समय को छोड़ कर कांग्रेस ने अकेले सारे देश पर राज्य नहीं किया। १९५२ में उसे चार राज्यों में पूर्ण बहुमत नहीं मिल सका। ये थे – मद्रास, पे प सू, उड़ीसा और तिरुवाकुर-कोचीन। राजस्थान में उसे किसी तरह बहुमत मिल गया। मद्रास में उसकी स्थिति इसलिए बन गई कि आंध्र प्रदेश उससे अलग हो गया। आंध्र में कम्युनिस्टों ने १९५४ के नवंबर में कांग्रेस सरकार को गिरा दिया और वहां राष्ट्रपति का शासन लागू करना पड़ा। पे प सू (१९५४), तिरुवाकुर-कोचीन (१९५४) और आंध्र (१९५५) में फिर से चुनाव कराने पड़े क्योंकि वहां कांग्रेस सरकार अपना बहुमत कायम न रख सकी। पे प सू में कांग्रेस को स्पष्ट बहुमत मिल गया और आंध्र में भी उसने कम्युनिस्टों की शक्ति तोड़ दी, किंतु तिरुवाकुर-कोचीन में वह ऐसा न कर सकी

१८ द टाइम्स आफ इंडिया, फरवरी ९ १९५२।

१९ मद्रास, पे प सु और तिरुवाकुर कोचीन में कांग्रेस को पूर्ण बहुमत नहीं प्राप्त हो सका। लेकिन दूसरे दलों की हालत और भी खराब थी। इसलिए अंत में इन राज्यों में भी कांग्रेस की सरकार बन गई। केरल को छोड़ कर शेष सभी राज्यों में तथा केन्द्र में १९६७ तक कांग्रेस सत्तारूढ़ रही। उड़ीसा में १९५७ से १९६१ तक कांग्रेस ने गणतंत्र परिषद से मिल कर सरकार बनाई और केरल में १९६० से १९६४ तक उसका प्रजा सो पा तथा मुस्लिम लीग से गठजोड़ रहा।

बाद वह अनेक पार्टियो म महज एक पार्टी रह गइ। यह ठीक है कि १९६७ में काग्रेस की प्रतिद्वद्वी पार्टिया तगडी हो गईं पर इसके पहले भी काग्रेस को कडे मुकाबले का सामान करना पड रहा था और १९६७ के बाद भी यह भारतीय राज्यव्यवस्था मे सबसे वडी ताकत है। दूसरे अब काग्रेस को अपना सही 'केन्द्र' या 'मध्य' का स्थान मिल गया। यह दो अर्थों म। एक इस अथ मे कि इसी केन्द्र से अन्य पार्टिया निकली है और दूसरे, इस अथ मे कि यह दक्षिण और वामपथ के बीच *या मध्य म है। भारत का यह अकेला मध्यवर्ती दल है।*

तीसरे, काग्रेस को महज सत्ताधारी या प्रधान दल के रूप म नही देखना चाहिए जैसा कि मारिस दुवर्जे आदि ने किया है। उसे समाजीकरण या समाज के परिवतन की एजेंसी और दूसरे दला के लिए उदाहरण प्रस्तुत करने वाले के रूप में देखना चाहिए। इस दष्टि से काग्रेस के आतरिक सघष भी उतने ही महत्त्वपूण हैं, जितना बाहर से उसक विरोधी दलो का विकास। १९६७–६९ में भारत में एक खास तरह का घ्रुवीकरण हुआ। काग्रेस बनाम गैर–काग्रेसी दल, सरकार बनाम सरकार विरोधी दल। इस ध्रुवीकरण स विरोध की शक्ति बढी। दूसरी ओर अब भी सारी जिम्मेदारी काग्रेस नेताओ पर धरी जाती है और उसे सरकार समझा जाता है, यद्यपि अनेक राज्या मे वह सरकार नही है। इसका एक नतीजा यह हुआ है कि सरकार से कुछ ठोस काम करने की अपक्षा की जाती है और केन्द्र से अधिक माग की जाती है।

१९६७ के पहले के विरोधी दल

काग्रेस की आन्तरिक फूट से विरोधी दला का विकास हुआ। हम देख चुके हैं कि *काग्रेस एक दल नही अपितु एक राष्ट्रीय मोरचा थी। एक ओर इसके हाथ म* सत्ता आ गई जिससे इसके हाथ मे केन्द्रीय, प्रातीय और स्थानीय स्तर पर बहुत साधन आ गए। दूसरी ओर इसक सगठन का विस्तार हुआ और उसके अदर बहुत से विचवई नेता तथा साधारण लोग भी आए। पद और अधिकार की आकाक्षा से काग्रेस के अदर गुटबाजी और सौदेबाजी की प्रवत्ति बढी। परिणामस्वरूप हर स्तर पर विविध प्रकार के सगठन कायम हो गए। इनमे दल के अदर के गुट, जातबिरादरी के सगठन प्रातीय, क्षेत्रीय और आदिमजातीय सगठन तथा विभिन्न वर्गों और पेशो के सघ, सभी थे। ये सभी काग्रेस तन्त्र के भीतर अधिकार चाहते थे। इनकी अपनी शिकायत और मागें थी। ये गुट और फिरके समाज के मुख्य हिंता और वर्गों का प्रतिनिधित्व करते थे, तथा काग्रेस के अदर के गुटो और काग्रेस के बाहर विरोधी दला के जरिये ये सगठित हुए।

काग्रेस के अदर की गुटबदी राज्य और जिला स्तर पर भी कायम रही। राज्य और जिला काग्रेस मे सरकारी और सगठन गुट बन गए। सगठन गुट सरकार के

विरोधी दल के रूप म काम करता था और कई बार सरकारी गुट का अपदस्थ भी कर देता था। १९५६ मे मद्रास राज्य काग्रेस के अध्यक्ष कामराज ने चक्रवर्ती राजगोपालाचारी जैसे प्रमुख नेता का मुख्यमत्री पद से हटा दिया और अपनी सरकार बनाई। इसी प्रकार यू पी म चन्द्रभान गुप्त, उडीसा म बीजू पटनायक, मैसूर मे निजलिंगप्पा तथा गुजरात म मत्रिमडल विरोधी गुट ने पहले सगठन पर कब्जा किया, फिर विधानसभा के बहुमत को अपनी ओर करके इन्होने सरकारी गुट का अपदस्थ कर दिया। हर राज्य मे (केरल को छोड कर) काग्रेस सरकार क होते हुए भी नेतृत्व म, जिसम मुख्यमत्री और अन्य मत्री पद भी शामिल ह, काफी हेरफेर होता रहा (सारणी पाच ४)। मतभेद तो नीति को लकर होत थे, कभी यह पुरानी और नई पीढी का द्वद्व हो जाता था और कभी विचारा का, मगर यह सब राजनैतिक जोडतोड और गुटबदी का रूप ले लेता था। काग्रेस हाईकमान बीच-बचाव करके कभी कभी अपने मन के व्यक्ति का नेता चुनवा देती थी, मगर अधिकतर यह उसीका समथन करता था, जिसका बल ज्यादा होता था, और महज नेता परिवतन की क्रिया का खूबसूरती स सपन्न करा देता था[२२]

नेतृत्वपरिवतन

काग्रेस के सगठन पक्ष के सरकारी पक्ष पर दबाव का एक उदाहरण १९६१ म मिला जब काग्रेस अध्यक्ष सजीव रेडडी ने यह प्रस्ताव किया कि जो लोग लगातार १० वर्षा से मत्री रहे हैं, वे पदत्याग कर सगठन म काम करें। इसके बाद कामराज योजना के अतगत काग्रेस के कुछ उच्चपदस्थ नेताआ को अपने पद से हटना पडा। इस योजना से नेहरू को उच्चपदस्थ लोगो को खिसकाने का बहुत अच्छा मौका मिला, साथ ही इसके द्वारा यह दिखाने की कोशिश भी की गयी कि सगठन और सरकार पक्ष का दर्जा बराबर का हे।

मगर इस योजना का एक नतीजा यह भी हुआ कि जब नेहरू बीमार पडे उस समय से १९६९ तक, जब कि इदिरा गाधी ने एक बार फिर सगठन के सरगना पर प्रधानमत्री के पद की उच्चता स्थापित की, काग्रेस के सर्वोच्च नेताओ मे पद और शक्ति के लिये बडी गदी लडाई चलती रही। इस बीच इस योजना ने सग

२२ उत्तरप्रदेश में सपूर्णानद और चद्रभान गुप्त के द्वद्व में नेहरू ने शुरू से दिलचस्पी दिखाई और कुछ समय तक सपूर्णानद का समथन करते रहे परतु अत में उन्हें वास्तविकता स्वीकार करना पड़ी और चद्रभान गुप्त को मुख्यमत्री बनाने को राजी होना पडा। इसी तरह गुजरात के मुख्यमत्री डा जीवराज मेहता से गहरी सहानुभूति होने पर भी हाईकमान को गुजरात काग्रेस सगठन दल द्वारा उनकी पदच्युति को मानना पडा। देखिए, मार्कस फ्रांडा 'द आर्गना इजेशनल डेवलपमेंट आफ इडियान काग्रेस पार्टी', पैसिफिक अफेयर्स, ३५ फाल, १९६२। ए कोचा नेक, 'द काँग्रेस पार्टी आफ इडिया द डाइनेमिक्स आफ वन पार्टी डेमोक्रेसी' (प्रिंसटन, १९६८)।

ठन और सरकार को बराबरी के दर्जे पर ला दिया और नेहरू के उत्तराधिकारी के चुनाव म सगठन के नेताओ की निर्णायक भूमिका रही (इस विषय पर अध्याय ८ में विस्तार किया जाएगा)। इस प्रकार एक ही दल के सत्तारूढ होते हुए भी उसमें नेताओ के परिवतन का क्रम चालू रहा।

अन्य दल

कांग्रेस के अदर के शक्तिसघष पर अन्य दलो का भी प्रभाव पडता था। जब कांग्रेस के बाहर के वामपक्ष की शक्ति बढती थी तो कांग्रेस के अदर भी वामपक्ष की ताकत बढ जाती थी। शुरू में जब समाजवादी दलो का प्रचार बढा तब कांग्रेस मे भी समाजवाद का जोर बढा। बाद म जब स्वतत्र पार्टी ने जमीदार वग का समथन प्राप्त करने की कोशिश की और सहकारी खेती जैसी वामपथी कांग्रेस नीतियो का विरोध किया तो कांग्रेस के अदर भी दक्षिण पक्ष को बल मिला। इस प्रकार मध्यवर्ती दल कांग्रेस के अदर के सतुलन पर बाहर के दलो का दबाव पडता रहा।[२३] दूसरे, कांग्रेस के असतुष्ट लोग दूसरे दलो मे शामिल होकर, उनके जरिये सत्तारूढ गुट से सघष करते थे और अक्सर अपने विरोधियो के पतन के बाद कांग्रेस म लौट भी जाते थे।[२४] तीसरे, कभी कभी किसी विशेष या तात्कालिक प्रश्न को ले कर नए दल खडे हो जाते थे, जसे महाराष्ट्र और गुजरात के अलग राज्य बनाने के प्रश्न को लेकर हुए। ये दल अस्थायी होते थे और प्रश्न के त हो जाने के बाद इनको कांग्रेस मे स्थान मिल जाता था।[२५] इसके अलावा ऐसे लोग जिनको कांग्रेस के अदर कोई आशा नही रह गई थी, लगातार उससे अलग हो कर विरोधी दलो मे मिलते गए। ऐसे लोगो में जे बी कृपालानी, राजगोपालाचारी और कृष्ण मेनन उल्लेखनीय है। प्रमुख व्यक्तियो के अलावा गुजरात मे क्षत्रिय और राजस्थान में जाट और हरियाणा मे अहीर जसे वग भी कांग्रेस से अलग हुए।

१९६२ और १९६६ के बीच कांग्रेस से व्यक्तियो और समूहो के अलग होने की प्रवृत्ति ज्यादा रही। यह समय बडी कठिनाई का था। इसी अवधि मे चीन और पाकिस्तान से युद्ध हुए, जिससे देश का बहुत धन-जन नष्ट हुआ, नेहरू और लाल-बहादुर शास्त्री का देहात हुआ और उनके उत्तराधिकार के मामले पर कांग्रेस के सर्वोच्च स्तर पर बडी खीचतान और जोडतोड हुई। दो बार सूखा पडने के कारण

---

२३ कोठारी, 'द कांग्रेस सिस्टम इन इंडिया'।

२४ देखिए- बशीरुद्दीन अहमद, 'कांग्रेस डिफीट इन अमरोहा - ए केस स्टडी इन वन पार्टी डामिनेंस, पार्टी सिस्टम एंड एलेक्शन स्टडीज'।

२५ ऐसे दल राजनीति में नया खून ले आते है। जिस प्रश्न को ले कर ये खड़े होते है उनके ते होने के बाद ये खतम हो जाते है, लेकिन कुछ नए आदमी राजनीति में बने रहते है। अक्सर कांग्रेस इनको अपने अदर खींच लेती है जैसा चव्हाण के नेतृत्व में महाराष्ट्र कांग्रेस ने किया।

जनसाधारण को घोर कष्ट, अभाव और महगाई का सामना करना पडा, भारत को सहायता देने वाले देशो के दबाव के कारण रुपये का अवमूल्यन करना पडा और काग्रेस नेताओ का जिल्लत उठानी पडी। इस स्थिति मे काग्रेस नेताओ की स्थिति कमजोर हुई और उसके लिए काग्रेस सगठन मे एकता और अनुशासन बनाए रखना कठिन हो गया, फलस्वरूप काग्रेस त्यागने वालो की सख्या बढी।

१९६७

काग्रेस दल की इस फूट के सदभ म फरवरी १९६७ का आम चुनाव हुआ। चुनाव के बाद भी काग्रेस की फूट जारी रही। जबकि चुनाव म ८ राज्यो मे काग्रेस की हार हुई, चुनाव के बाद दलबदल की क्रिया शुरू हुई, जिसके कारण तीन राज्यो मे काग्रेस सरकार का पतन हुआ।[२६] इस दलबदल म दो बातो का मुख्य हाथ रहा। चुनाव के पहले टिकट का बटवारा और चुनाव के बाद मत्रिमडल का गठन। ये कोई नए कारण न थे। नई बात सिर्फ यह थी कि १९६७ मे और बाद म जितनी आसानी से लोग काग्रेस छोड देते थे, उतनी पहले कभी नही देखी गई थी। काग्रेस म उनको बाध कर रखने की शक्ति बहुत कम हो गई थी। अब तक चुनाव का टिकट या मत्रिमडल मे स्थान न मिलने पर भी असतुष्ट गुट काग्रेस के अदर ही बने रहते थे, अब वे काग्रेस से अलग होने लगे।[२७] अभी भी पूरी तरह स्पष्ट नही हुआ कि ये लोग अस्थायी तौर पर काग्रेस मे अलग हुए हे या स्थायी तौर पर। दोनो ही प्रवृत्तिया दीख पडती ह।[२८]

---

२६ चुनाव म काग्रेस की हार मद्रास (यहा अकेले एक दल द्र मु क की जीत हुइ), बगाल, बिहार, पजाब और उडीसा में हुइ। (इनमे विरोधी दलों के सा झ मोरचा की जीत हुइ। इन मोरचों में कम्युनिस्ट माक्सवादियों से लेकर जनसघ तक थे)। चुनाव के बाद हरियाणा, उत्तरप्रदेश और मध्यप्रदेश में दलबदल के कारण काग्रेस सरकार का पतन हुआ। हरियाणा और उत्तरप्रदेश में सयुक्त दलों की सरकारें भी न चल सकीं और मध्यावधि चुनाव हुए। हरियाणा में काग्रेस सरकार कायम है, किंतु उत्तरप्रदेश म पुन काग्रेस में फूट हुई और पहले नई काग्रेस और भारतीय क्रातिदल और बाद में पुरानी काग्रेस, भा क्रा दल, जनसघ, ससोपा की सयुक्त सरकार बनी।

२७ काग्रेस दल म चुनाव टिकट बटने के समय जो खींचतान होता है, वह कभी कभी चुनाव से भी ज्यादा महत्त्व की होता है। इसमें चुनाव से भी ज्यादा जनसाधारण में प्रसार का मौका मिलता है। देखिए रा राय, 'सेलेक्शन आफ कांग्रेस कैंडिडेट्स - इकनामिक एंड पोलिटीकल वीकली, दिसम्बर, ३१, १९६६, जन ७ और १४, फर ११ और १८, १९६७। १९६७ में उम्मेदवारों के चुनाव के ऊपर राय और मारिस जोन्स का अध्ययन अभी अप्रकाशित है।

२८ गैर काग्रेसी सयुक्त सरकारों के गिरने के बाद अनेक भूतपूर्व काग्रेसी काग्रेस में या काग्रेस से सबधित दलों में लौट आए हैं। पश्चिम बगाल, बिहार और मध्यप्रदेश में ऐसा ही हुआ। मध्यप्रदेश में तो काग्रेस छोडने वालों का पूरा गुट काग्रेस में लौट आया और काग्रेस की सरकार

[अगले पृष्ठ पर]

फूट की प्रवत्ति काग्रेस म ही नहीं अय दना म भी ह। कुछ राज्या म काग्रेस के असतुष्ट गुट ने प्रतिद्वदी काग्रेस बना लिया है। २९ इसी प्रकार कम्युनिस्ट पार्टी भी कही दो और कही तीन तीन है। समाजवादी पार्टी भी टूट कर ससोपा और प्रसोपा म बट गई है और ससोपा म भी कई गुट हो गए है जो एक दूसरे स लडते रहते ह। जनसघ म भी उग्र और नरम दो धड हो गए है और स्वतत्र पार्टी म तो लगातार आतरिक झगडे मच है और अनक लोग दल भी छाड गए है। पिछडे वर्गा हरिजना और आदिवासिया म भी अनेक धडे हैं। इसके अलावा १९-६७ के बाद गैर-काग्रेसी दना म गठजाड होत रहे हैं। अनेक बार ये गठजोड बिलकुल विरोधी और विपरीत दला म भी हुए है। य गठजाड भानमती के कुनबे जैसे हैं। फलस्वरूप ये गैर-काग्रेसी सयुक्त सरकारें ज्यादा दिन न चल सकी और एक के बाद एक गिरती चली गइ। ३०

स्वतन्त्रता क बाद शक्ति ग्रहण करने क लिए काग्रस सभी तरह के लोगा को अपनी ओर खीचने की कोशिश करती थी। सन १९६७ स १९६८ क बीच गैर-काग्रेसी दला की भी यही नीति थी। हिंदू समाज की भाति काग्रेस भी भिन्न और विराधी विचार और रीतिरिवाज वाले समूहा को एक साथ लाने की कोशिश करती थी और विचारा की एकरूपना क बजाय विचार-वभिन्य को सहन करती थी। काग्रेस शुरू स समूचे राष्ट का प्रतिनिधित्व करने की कोशिश करती आई है और भारतीय राष्ट्र क अधिकारा तत्त्व उसम पाए भी जात थे। विराधी दला ने देखा कि सयुक्त मोचा बना कर व काग्रेस का हरा सकते हैं, क्याकि काग्रस को कभी भी देश के ४८ प्र श स अधिक वाट नही मिने। इस नीति के मुख्य प्रतिपादक

[पिछले पृष्ठ स]
बनाने में उसने सहायता दी। काग्रस छोडने वाल जो लोग मुख्यमत्रा बने उनमें से अनेक का केन्द्र सरकार और काग्रेस नेताओं से बड़ा अच्छा सबध रहा। दूसरी ओर काग्रेस हाईकमान विद्रोहियों को वापस लेने को बहुत इच्छुक न था, क्योंकि इससे नया गठजाड उलझने का डर था। जहा झगड़ा ज्यादा था, वहाँ विद्रोहियों को वापस लाने के प्रयत्न विफल हुए।
२९ १९६४ म केरल काग्रेस की स्थापना हुई और १९६६ में बगाल म बागला काग्रेस बना। १९६७ के चुनाव से पूर्व उत्तर के कइ राज्यों में जन काग्रस बना। बिहार और उत्तरप्रदेश में असतुष्ट काग्रेसियों ने भारतीय क्राति दल बनाया और बिहार में असतुष्ट काग्रेस जनों के एक दल ने विनोदानद झा के नेतृत्व में जनतात्रिक काग्रस बनाइ।
३० दिसबर १९६७ से फरवरी १९६८ के बाच हरियाणा, पश्चिम बगाल पजाब, उत्तरप्रदेश और बिहार इन पाच राज्यों में सयुक्त सरकारें गिरा। बिहार में दो बार ऐसा हुआ। सयुक्त सरकार के टूटने पर बिहार और बगाल म काग्रस के समथन से सयुक्त मोरचे क अल्पमतयक दल। ने सरकार बनाइ किंतु वह चल न सकी। पश्चिम बगाल में तो काग्रस खुद मिली जुली सरकार म शामिल हुइ। मगर टिक न सका। म यप्रदेश में मार्च १९६६ में सयुक्त दल की सरकार से काग्रस विद्राहियों का गुट निकल कर फिर काग्रेस म आ गया और सयुक्त सरकार गिर गई।

थे डा राममनोहर लोहिया। लोहिया जन्मजात विद्रोही थे और उनका व्यक्तित्व चमत्कारी था। उन्होंने शीघ्र ही समझ लिया कि थोथे विद्रोह से कुछ होना जाना नहीं, इसलिए उन्होंने का सत्ता पर एकाधिकार खतम करने के लिए विरोधी दलों को एक साथ लाने की कोशिश की। कांग्रेस के विरोधी किसी भी तत्त्व से वह हाथ मिलाने को तयार रहते थे। कांग्रेस को उखाडने के तात्कालिक लक्ष्य म उन्हें सफलता मिली, किंतु इसका कोई स्थायी नतीजा नहीं निकला। यह बात उन्होंने १९६७ में अपनी मृत्यु के पहले खुद स्वीकार की थी।

दलों में फूट और पुनर्गठन

१९६७ और १९६९ के बीच राजनीतिक दलों ने अपने अनुभव से नए सबक सीखे और जो आव उसको ले लेने की नीति म परिवतन किया। इस अवधि में दलबदल और अवसरवादिता का जो जोर रहा, उससे लोग विरक्त हुए और नए गठबंधन करते समय और नए लोगों को दल म लेते समय कुछ अधिक सावधानी बरतने लगे। १९६७ क बाद से कांग्रेस की नीति यह रही है कि पार्टी से विद्रोहियों को जाने दो और वह एक स्पष्ट नीति और विचारधारा ग्रहण करने तथा दल म अनुशासन रखने की बात करने लगी है।[31] इस नीति स कांग्रेस को १९६८ के हरियाणा के मध्यावधि चुनाव म अच्छी सफलता मिली। और १९६९ म उत्तर प्रदेश के मध्यावधि चुनाव म भी लाभ हुआ।

दूसरी ओर यह भी स्पष्ट हो गया कि गैर-कांग्रेसी दलों के मोर्चों म १९६७ के बाद केरल म मार्क्सवादी कम्युनिस्ट मोर्चा, मद्रास म द्र मु क का मोर्चा और उडीसा मे स्वतन्त्र जन कांग्रेस मोर्चा ही टिकाऊ रहा क्योंकि ये दल अपने क्षेत्र मे ज्यादा सगठित और एकबद्ध थे और इनको काफी स्थानीय समर्थन भी मिला।[32]

३१ कांग्रेस ने अपना आतरिक स्थिति को दृढ करने के लिए क्या प्रयत्न किए इसके लिए देख मारिस जोन्स 'द इडियन कांग्रेस पार्टी—ए डिलेमा इन डामिनेंस' माडर्न एशियन स्टडीज १ न २, १९६७।

३२ केरल में नबूदरीपाद और बगाल म ज्योति बसु के नेतृत्व में मार्क्स कम्युनिस्ट पार्टी अपने प्रदेश में बड़ी ताकत रखती है और अपनी अखिल भारतीय पार्टी या अन्य राज्यों की मार्क्सवादी कम्यु पार्टियों से भिन्न तरीके से काम करता है। यद्यपि इन राज्यों में वे मिलीजुली सरकार म ह लेकिन प्रधानता उन्हीं की है। उडीसा की स्वतन्त्र पार्टी पुरानी गणतन्त्र परिषद का ही दूसरा रूप है। असतुष्ट कांग्रेसजनों के दल जन कांग्रेस से मिल कर उसने टिकाऊ सरकार बना ली है। वास्तव में यह पुराने कांग्रेस-गणतन्त्र परिषद के गठजोड का ही दूसरा रूप है जिसने १९५७ से १९६१ तक उडीसा में राज्य किया और जिसे विजयानद पटनायक के नेतृत्व में कांग्रेस के नए गुट ने अपदस्थ किया। पुराना गुट कांग्रेस से निकल कर जन कांग्रेस बन गया और गणतन्त्र परिषद राज्य की स्वतन्त्र पार्टी बन गई। सबसे ज्यादा मजबूत मद्रास का द्र मु क (डी एम के) है। यह एक प्रांतीय आदोलन का राजनैतिक रूप है। इसे दूसरे दलों के समर्थन की जरूरत नहीं। अनुमान है कि पजाब में अकाली दल भी ऐसी ही स्थिति प्राप्त कर ले।

इनके मुकाबले खिचडी दलो और भूतपूर्व कांग्रेसियो की सयुक्त सरकारें टिकाऊ नही सिद्ध हुई। १९६९ में चार राज्यो में मध्यावधि चुनाव हुए (जिसे छोटा आम चुनाव भी कहा गया) इसमे क्षेत्रीय पार्टियो के मजबूत मोर्चे बगाल और पजाब में विजयी हुए और खिचडी दलो का मोर्चा बिहार और उत्तरप्रदेश में हार गया (सारणी पाच – ४)

पश्चिम बगाल में कांग्रेस-विरोधी सयुक्त मोर्चे (युनाइटेड फ्रट) को उल्लेखनीय सफलता मिली। चुनाव के पहले ही इस मोर्चे के सदस्य दलो ने आपस मे बातचीत करके चुनाव समझौता कर लिया था। इससे वोटरो को एक स्पष्ट विकल्प मिल गया। पश्चिम बगाल में तथा अनेक अन्य राज्यो में भी, कांग्रेस को कभी वोटो का पूर्ण बहुमत नही मिल सका था। उसके विरोधी वोट कई दलो मे बट जाय करते थे। इस बार विरोधी दलो ने तगडा मोरचा बना कर कांग्रेस की कमजोरी का लाभ उठाया। ध्यान रहे कि १९६९ के मध्यावधि चुनाव में कांग्रेस को प्राप्त वोटो की सख्या मे कमी नही हुई फिर भी उसको सीटें बहुत कम मिलीं। इस प्रकार पश्चिम बगाल का सयुक्त मोरचा अन्य राज्यो के लिए भी नमूना बन गया, यद्यपि इसमें सदेह है कि और जगह ऐसा मोरचा बन सकता है या नहीं।[33] पजाब में अकाली दल ने अपने आपसी धडो को मिला कर अपना तगडा मोर्चा बनाया। इसमे उसके पुराने प्रतिद्वद्वी जनसघ ने भी उसका साथ दिया। केरल में १९६७ में कम्युनिस्टो ने भी इसी प्रकार अपने आपसी धडो को एक करके अपना मोर्चा बनाया था।

इस समय १९६७ की स्थिति बदल चुकी है। एक तो अधिकाश राज्यो में खिचडी या परस्पर विरोधी दलो के मोर्चे टूट चुके है। मद्रास में एक ही दल की सरकार है। उडीसा में स्वतन्त्र और जन कांग्रेस का गठजोड भी गडबडा रहा है। पजाब में अकाली जनसघ जोड टूट चुका है और अकाली दल में भी फूट पड गई है। सब से अधिक अस्थिरता मध्यप्रदेश, बिहार और उत्तरप्रदेश जैसे कांग्रेस प्रभुता वाले राज्यो में ही दीख पडती है। सभव है कि यहा कांग्रेस और भारतीय जैसे क्षेत्रीय और जनसघ जैसे राष्ट्रीय दलो की राज्य शाखाओ में ध्रुवीकरण हो जाए और फिर से चुनाव होने पर स्थिति अधिक साफ हो जैसा पश्चिम बगाल, केरल

---

३३ १९६९ में बगाल में दो विशेषताए लक्षित हुई। एक तो सयुक्त मोर्चे के विभिन्न दलों ने अपने अपने अलग प्रभाव क्षेत्र बना लिए थे जिससे दलों के बीच सीटों के बटवारे में आसानी हुई। दूसरे, बगाल में सयुक्त मोर्चे का विचार बहुत दिनों से चला आ रहा था और जनता में १९६० और १९६९ के बीच इसका जोर बढा। इस कारण विभिन्न दलों को भी जनता की इच्छा का आदर करना पडा। केरल में भी यही प्रवृत्ति १९६५ और १९६७ के बीच काम कर रही थी। दूसरी ओर जहा विभिन्न दलों के प्रभाव क्षेत्र बड़े नहीं है और सयुक्त मोर्चे का विचार जनता में जोर नहीं पकड़ पाया है वहा सयुक्त मोर्चे को उतनी सफलता नहीं मिल सकती। बगाल और केरल में भी सयुक्त मोर्चा अत में टूट गया।

हरियाणा और पजाब म १९६९ के चुनावो में हुआ। [34] भारतीय जनता ने ज्यादा राजनतिक समझदारी दिखाई है और १९६९ के मध्य चुनाव म काग्रेस तथा उत्तर-प्रदेश और विहार म जनसघ और ससोपा जस गैर काग्रेस दला का स्थिर सरकार न वना सकने का दड दिया है।

चुनाव परिणामा का विश्लेषण करने से पता चला ह कि गर[35] काग्रेसी दला के उम्मेदवार बजाय एक दूसर क काग्रेस के वाटा को ज्यादा काटत है। यद्यपि जहा अधिक उम्मेदवार खडे होते ह वहा काग्रेस को फायदा हाता है और उसका उम्मेदवार जीत जाता है लेकिन उसक वोटा की सख्या गिर जाती ह। दूसरी आर जहा काग्रेस का दूसरे दल या सयुक्त उमेदवार स सीधा मुकाबला हाता है, वहा उसके वोट तो वढ जात ह मगर जरूरी नही कि उसका उम्मेदवार जीत जाए। इस प्रकार केरल म १९६६ में और वगाल मे १९६९ में जहा काग्रेस को वहुत कम सीट मिली, वहा उसके वोट कम नही हुए और केरल में तो वढ भी गए। उल्लेखनीय है कि काग्रेस ने अपने वोट ३८ से ४० प्रतिशत तक कायम रखे हैं। केरल और पश्चिम वगाल में कम्युनिस्टा को और मद्रास में द्रमुक छोडकर शेष गर काग्रेसी दला का वाट इतना स्थिर नही रहा है। इसी वात पर निभर हागा कि अगले चुनावो म राज्यो मे किस दल या दला के जुट की जीत होती है और टिकाऊ सरकार बनती है या नही।

भविष्य का रुख

लेकिन यह भी स्पष्ट है कि काग्रेस अपने स्थिर ४० प्र श वोट के वल पर हमेशा सत्ता कायम नही रख सकती। केद्र में भी इसके वल पर उसकी सत्ता सुरक्षित नहीं है। जिस प्रकार विरोधी दला ने उसकी इस दुवलता का लाभ उठा कर राज्यो मे उसे हराया है उसी प्रकार केद्र मे भी वे इसे हराने का यत्न करेंगे, और विधानसभाओ के साथ साथ ससद के चुनाव में भी साझे उम्मेदवार खडे करेंगे। इसमें उन्ह इस वात से सहायता मिलेगी कि विधानसभा और ससद के चुनाव साथ साथ होते ह। आधे राज्यो मे हारने पर भी केद्र मे काग्रेस की जीत हुई इसका कारण यह था कि उसकी विरोधी अधिकाश पार्टिया उसका मुकावला केवल

३४ देखिए मेरा 'इडियान पोलिटिकल टाकिशन, इका० ऐंड पोलि० वीकली विशेष अक, अगस्त १९६७। इसम मने राजनैतिक अस्थिरता को दूर करने के लिए म यावधि चुनाव का समथन किया है।

३ यह विश्लेषण ऐन हावर मिशिगन में हुए टाटा कनफ्रेंशन सेमिनार (अप्रैल, १९६९) में हुआ था। इसके लिए आकडे सेंटर फार स्टडी आफ डेवलपिंग सोसाइटाज, दिल्ली ने प्रस्तुत किए थे। मारिस जोन्स और बा दासगुप्त ने भी यही निष्कष निकाला था। इडियान पोलिटिकल इटिराम रिपोर्ट आन एन इकोलाजिकल एलेक्टरल इनवेस्टिगेशन' एशियन सर्वे ९ न ६, जून १९६९।

होगा, जितना देश मे परिवर्तन लाने की उपेक्षा करना। यह काम आसान नही है और यदि इसम समझदारी से काम न लिया गया और देश के इतिहास के सबक को भुला दिया गया, ता या तो देश म अस्थिरता पैदा हो जाएगी और प्रगति रुक जाएगी या ऐसा वैचारिक सघर्ष होगा, जिसमे अराजकता मच जाएगी।

इसलिए राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रो म देश तभी अच्छी तरह काम कर सकता है, जब देश की राजनतिक विभिन्नता के ऊपर केन्द्र मे एक सुदृढ शक्ति हो। फिलहाल अगले दशक तक काग्रेस के अलावा और कोई ऐसी केन्द्रीय शक्ति नही नजर आती। काग्रेस के सामने दोहरी चुनौती है। एक तो ऐसी नीति ग्रहण करना, जिससे उसे शहर और देहात के अब तक पिछडे हुए, और अब राजनैतिक रूप से सचेतन तथा उन्नति के इच्छुक वर्गों का समर्थन मिल सके। दूसरा काम काग्रेस सगठन को ऐसा रूप देना है जिससे उसकी शाखाए निर्वाचन क्षेत्रो मे जनता के बीच में पहुच जाए और चुनाव जीतने के लिए काग्रेस को सिर्फ बडे या प्रभावशाली लोगो के भरोसे न रहना पडे।[३८] पहला काम केन्द्रीय सरकार के नेताओ का है और दूसरा काम सगठन के नेताओ का। तात्पर्य यह है कि काग्रेस को नीति और सगठन दोनो मोरचो पर काम करना है और इसके लिए केद्र में एकता और एक राय जरूरी है।

यदि अगले एक दो साल के भीतर सरकार और सगठन दोनो क्षेत्रो में ठोस काम न हुआ तो काग्रेस के लिए आसार अच्छे नही। पहले तो जैसा ऊपर कहा, यदि गैर काग्रेसी दलो ने लोकसभा के चुनाव में भी मोर्चा बनाया तो काग्रेस की हालत खस्ता हो जाएगी। दूसरी सभावना यह है कि दक्षिण और वाम पक्ष के दलो की स्थिति राज्यो की विधानसभा मे दृढ हो जाएगी। वाम पक्ष मे पश्चिम बगाल और केरल में कम्युनिस्टो के मोरचे और मद्रास मे द्रमुक तथा दक्षिण पक्ष में। उत्तर मे जनसघ, उडीसा में स्वतत्र और पजाब मे अकाली। सन १९६७ में मजबूत केद्र का राज्यो में विपरीत विचारो के दलो की खिचडी से मुकाबला करना था। इस से ज्यादा खतरनाक स्थिति होगी जब केन्द्र कमजोर व अस्थिर हो और राज्यो में दक्षिण या वाम पक्षी मजबूत मोरचे या गठजोड हो। तीसरे, यदि ऐसा मुकाबला हो और राजनीति नीतिसबधी प्रश्नो पर केन्द्रित होने लगे तो सभावना यह भी है कि काग्रेस के भीतर भी वाम और दक्षिण पक्ष का ध्रुवीकरण हो जाए और फूट हो जाए। १९६९ म वैको के राष्ट्रीयकरण के ऊपर और डा० जाकिर हुसैन के देहात के बाद राष्ट्रपति के चुनाव को ले कर काग्रेस के अदर जो मतभेद पैदा हुआ, उस से अत म काग्रेस के दो टुकडे हो गए। इस मतभेद म इदिरा गाधी

३८ मद्रास में द्रमुक के चुनाव आदोलन में इसका परिचय मिला। द्रमुक का यह नारा था कि काग्रेस के पास वोट दिलाने वाले हैं, और हमारे पास वोटर हैं। इस विषय पर देखिए रामाश्रय राय और चन्द्रदास, 'कर्मेक्स आफ इलेक्टोरल चेंज' (सेंटर फार स्टडी देव सो)।

असेंबली की सीटों पर बढ़ रही थीं, संसद की सीटों पर नहीं। वोटों के विश्लेषण से पता चला कि करीब ३३ प्र. श. मतदाताओं ने संसद में एक दल को वोट दिया और राज्य विधानसभा में दूसरे दल को। लेकिन द्रमुक ने मद्रास में लोक सभा की वे सब सीटें जीत लीं, जिनके लिए उसने उम्मीदवार खड़े किए थे और स्वतंत्र पार्टी को भी लोक सभा के चुनावों में सफलता मिली। इससे पता चलता है कि संसद के चुनावों में भी कांग्रेस उतनी ही कमजोर है जितनी विधानसभाओं के चुनाव में।

राष्ट्रीय क्षेत्र में कांग्रेस के पक्ष में कई बातें हैं। राज्य के स्तर पर दलों की जो स्थिति है वह राष्ट्रीय स्तर पर नहीं है। एक तो भिन्न भिन्न राज्यों में भिन्न भिन्न दल हैं। दूसरे, राज्यों में अनेक छोटे छोटे दल और निर्दल उम्मीदवार हैं, जो न तो राष्ट्रीय स्तर पर काम करने के इच्छुक हैं न उनमें संसद का चुनाव लड़ने की क्षमता है। दूसरे कई राज्यों में क्षेत्रीय दलों ने अखिल भारतीय दलों को नुकसान पहुंचाया है। उदाहरण के लिए उत्तर प्रदेश में चरणसिंह के भारतीय क्रांति दल ने जनसंघ को दूसरे नंबर से हटा दिया। संसोपा ने भी बिहार और उत्तर प्रदेश में अपने बहुत-से स्थान खो दिए। एक ओर कम्युनिस्ट दलों ने बंगाल और केरल में अपनी स्थिति सुदृढ़ कर ली तो दूसरी ओर उत्तर प्रदेश, पंजाब और अन्य राज्यों में उनकी ताकत घट भी गई। दलों के इस क्षेत्रीयकरण के कारण अभी कुछ दिनों तक कांग्रेस की प्रधानता बनी रहेगी। तीसरे, गैरकांग्रेसी दलों में आपस में ही गहरी प्रतिद्वंद्विता है, इससे भी कांग्रेस को फायदा होता है। चौथे, अनेक क्षेत्रीय दल केंद्र में कांग्रेस की प्रधानता स्वीकार करने को तैयार हैं, बशर्ते कांग्रेस भी उनके क्षेत्रों में उनकी प्रधानता स्वीकार करे और राज्यों में उनके साथ सहयोग करे। यह स्वाभाविक है, क्योंकि भारत की संघ प्रणाली में केंद्र के हाथ में बहुत शक्ति और साधन हैं।

फिर भी यह स्पष्टतर होता जा रहा है कि महज ४० प्रतिशत वोटों के बल पर कांग्रेस की स्थिति सुरक्षित नहीं रह सकेगी। इसमें केवल संख्या का ही प्रश्न नहीं है, नीति और विचारधारा का भी है। कांग्रेस धीरे धीरे क्रांति या परिवर्तन की पार्टी से यथास्थितिवादी पार्टी बन गई है। धीमे धीमे इसमें शहर और देहात के अधिकारप्राप्त वर्ग का जोर बढ़ता जा रहा रहा और वह प्रगतिशीलता कम होती जा रही है जो आजादी के पहले इसमें थी। जब तक इसमें कुछ पुरानी जान वापस नहीं आती, इसकी पुरानी स्थिति बनी रहनी कठिन है। कांग्रेस के पक्ष में यह बात है कि इसकी परंपरा विभिन्न वर्गों को एक साथ ले आने की और विभिन्न मतों में समन्वय की रही है और अभी भी इसका स्थान लेनेवाली दूसरी पार्टी नजर नहीं आती। मगर किसी नई क्रांतिकारी नीति या विचारधारा को अपनाने के साथ साथ कांग्रेस को देश के विभिन्न क्षेत्रीय दलों को अपने साथ ले आने का भी उपाय करना पड़ेगा। देश की एकता की उपेक्षा करना उतना ही खतरनाक

होगा, जितना देश म परिवर्तन लाने की उपेक्षा करना । यह काम आसान नहीं है और यदि इसमें समझदारी से काम न लिया गया और देश के इतिहास के सबक को भुला दिया गया, तो या तो देश मे अस्थिरता पैदा हो जाएगी और प्रगति रुक जाएगी या ऐसा वैचारिक सघर्ष होगा, जिससे अराजकता मच जाएगी ।

इसलिए राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रों म देश तभी अच्छी तरह काम कर सकता ह, जब देश की राजनैतिक विभिन्नता के ऊपर केन्द्र म एक सुदृढ शक्ति हो । फिलहाल अगले दशक तक काग्रेस के अलावा और कोई ऐसी केन्द्रीय शक्ति नही नजर आती । काग्रेस के सामने दोहरी चुनौती ह । एक तो ऐसी नीति ग्रहण करना, जिससे उसे शहर और देहात के अब तक पिछडे हुए, और अब राजनैतिक रूप से सचेतन तथा उन्नति के इच्छुक वर्गों का समर्थन मिल सके । दूसरा काम काग्रेस सगठन को ऐसा रूप देना ह, जिससे उसकी शाखाए निर्वाचन क्षेत्रों में जनता के बीच में पहुच जाए और चुनाव जीतने के लिए काग्रेस को सिर्फ बडे या प्रभावशाली लोगो के भरोसे न रहना पडे ।[३६] पहला काम केन्द्रीय सरकार के नेताओं का ह और दूसरा काम सगठन के नेताओं का । तात्पर्य यह है कि काग्रेस को नीति और सगठन दोनो मोरचो पर काम करना ह और इसके लिए केंद्र मे एकता और एक राय जरूरी है ।

यदि अगले एक दो साल के भीतर सरकार और सगठन दोनो क्षेत्रों में ठोस काम न हुआ तो कांग्रेस के लिए आसार अच्छे नही । पहले तो जैसा ऊपर कहा, यदि गैर काग्रेसी दलो ने लोकसभा के चुनाव में भी मोर्चा बनाया तो काग्रेस की हालत खस्ता हो जाएगी । दूसरी सभावना यह ह कि दक्षिण और वाम पक्ष के दलो की स्थिति राज्यो की विधानसभा मे दृढ हो जाएगी । वाम पक्ष म पश्चिम बगाल और केरल में कम्युनिस्टो के मोरचे और मद्रास म द्रमुक तथा दक्षिण पक्ष में । उत्तर में जनसघ, उडीसा मे स्वतत्र और पजाब मे अकाली । सन १९६७ में मजबूत केन्द्र का राज्यो में विपरीत विचारो के दलो की खिचडी से मुकाबला करना था । इस से ज्यादा खतरनाक स्थिति होगी जब केन्द्र कमजोर व अस्थिर हो और राज्यो में दक्षिण या वाम पक्षी मजबूत मोरचे या गठजोड हो । तीसरे, यदि ऐसा मुकाबला हो और राजनीति नीतिसबधी प्रश्नो पर केन्द्रित होने लगे तो सभावना यह भी ह कि काग्रेस के भीतर भी वाम और दक्षिण पक्ष का ध्रुवीकरण हो जाए और फूट हो जाए । १९६९ मे बैंको के राष्ट्रीयकरण के ऊपर और डा० जाकिर हुसैन की देहान्त के बाद राष्ट्रपति के चुनाव को ले कर काग्रेस के अन्दर जो मतभेद पैदा हुआ उस से अत म काग्रेस के दो टुकडे हो गए । इस मतभेद म इदिरा गाधी

---

३६ मद्रास में द्रमुक के चुनाव आदोलन में इसका परिचय मिला । द्रमुक का यह नारा था कि काग्रेस के पास वोट दिलाने वाले हैं और हमारे पास वोट हैं । इस विषय पर देखिए रामाश्रय राय और चन्द्राम, 'कन्फ्लूट आफ एलेक्टोरल चेंज' (सेंटर फार स्टडी डेव सो) ।

के नेतृत्व म ' यग तुर ' हैं, जो चाहते हैं कि सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र म काग्रेस आगे बढे, और दूसरा पक्ष उन लोगो का है, जो काग्रेस सगठन की शक्ति को कायम रखना चाहते है। ये लोग इस बात की उपेक्षा कर रहे हैं कि अब तक उपेक्षित और अधिकारवचित वर्गों म राजनैतिक जाग्रति हो रही है। चुनाव के रुख को देखने स पता चलता है कि इस उपेक्षित वर्ग का – जिस म नव शिक्षित और छोटे किसानो तथा खेत मजदूरो का बाहुल्य है – समर्थन काग्रेस के बजाय दूसरे दलो को मिल रहा है।[३७] काग्रेस के सामने यह प्रश्न है कि वह कम अपना मध्य से कुछ वाम पक्ष की ओर रुख कायम रखें।

यदि काग्रेस उन वर्गों म नहीं प्रवेश कर पायी, जो अब तक उससे अलग रहे हैं, तो क्या होगा ? ऐसा लगता है कि भविष्य म राज्यो ही नहीं केन्द्र म भी मिलीजुली सरकार बनेगी। हो सकता है कि कुछ राज्यो म एक ही दल की, या एक दल के प्रभुत्व में सयुक्त सरकारें रह और केन्द्र में मिलीजुली सरकार बने। इसम भी सदेह नहीं कि केन्द्र की मिलीजुली सरकार में अभी कुछ दिनो तक प्रधान भागीदार काग्रेस ही रहेगी क्योंकि अन्य दल अभी इतना सार्वदेशिक रूप नहीं ग्रहण कर पाए हैं कि ससद म व अधिक सदस्य भेज सकें। यह भी सभव है कि राज्यो म वे अधिक सदस्य भेज सकें। यह भी सभव है कि राज्यो म जो साझी सरकार बनें उनम प्रधान भागीदार काग्रेस से भिन्न कोई दल हो, जैसे बगाल और केरल म मार्क्स० कम्युनिस्ट, मध्यप्रदेश और उत्तरप्रदेश मे जनसघ और पजाब उडीसा, मद्रास म वहा के प्रांतीय दल। या देश म सबसे बडा दल काग्रेस ही रहने की सभावना है, भले ही वह सभी स्तरों पर सरकार न बना सके। यदि वह पुन अपने सगठन मे एकता स्थापित कर सकी और अपनी गति प्राप्त कर सकी तो उस की भूमिका और भी महत्वपूर्ण होगी।

सविद सरकारों का दौर

जरूरी नहीं कि सविद या सयुक्त सरकारें एक दल की सरकारो से कम कारगर और सोद्देश्य हो। केरल की साझी सरकार आध्र की एकदली सरकार से, उडीसा की आसाम से या पजाब की हरियाणा स कम कारगर नहीं रही। बहुत कुछ सरकार म शामिल गुटो या तत्वो पर निर्भर होता है। आखिर काग्रेस म भी अनेक गुटो का ही मेल हुआ था, और ये गुट व उग बराबर काग्रेस से अपना सौदा

३७ चार चुनावो में जनसंख्या के वर्गों और वोटों के विश्लेषण म तथा सेंटर फॉर स्टडी आफ डेवलपिंग सोसाइटीज द्वारा १९६६ और १९६७ में वोटरों की पड़ताल से पता चलता है कि जहा काग्रेस के समर्थकों का अनुपात स्थिर रहा है और १९६७ में कुछ गिरा है, वहां अन्य दलों के समर्थकों की सख्या बढी है और इनमें अधिकांश उपेक्षित वर्गों के लोग ह। सन १९६७ की पड़ताल के कुछ आकडे इस अध्याय में दिए हैं। किंतु विस्तृत आकडे बाद में प्रकाशित होंगे।

घटाया करने थे। प्रतिद्वंद्विता के अभाव और लगातार सत्तारूढ़ होने से सरकार में लोगों की मांगों के प्रति उदासीनता की प्रवृत्ति आ जाती है। और जब दूसरे दलों से मुकाबला रहता है और चुनाव में हारने का डर रहता है तो सरकार ज्यादा सावधान होती है और लोगों की बात पर अधिक ध्यान देती है। भारत में जहां सरकार और सरकारी साधनों का इतना महत्त्व है और जनता की बुनियादी जरूरतों को पूरा करने के लिए बहुत कुछ करना है, विभिन्न संयुक्त सरकारें निष्क्रिय हो कर नहीं बैठ सकतीं।

इसलिए हो सकता है कि एक बार जब संयुक्त सरकार की पद्धति स्थापित हो जाए, और विभिन्न दलों को उसमें काम करने का अनुभव हो जाए तो सरकारें विदेशी नमूनों की नकल करने के बजाय देश की जनता की जरूरतों को समझने और उन्हें पूरा करने पर अधिक ध्यान देने लगें, और ठोस काम करने लगें। यह स्वीकार करना होगा कि जब सरकार में नेहरू की तूती बोलती थी, उस समय से अब सरकार अधिक सचेत हो गई है और जरूरत के अनुसार नीति बदलने और ठोस काम करने पर ज्यादा ध्यान देने लगी है। शुरू में सांझी या मिलीजुली सरकारें भले ही ठीक से काम न कर पाएं, पर धीरे धीरे जैसे मिल कर काम करने की परंपरा स्थापित होने लगेगी, ये सरकारें जनता के ज्यादा संपर्क में रहेंगी और ज्यादा काम करने को बाध्य होंगी। इस किताब में इस मत का प्रतिपादन किया गया है कि बालिग मताधिकार की प्रणाली और फलस्वरूप राजनैतिक अधिकारों में जनता के ज्यादा भाग लेने और सत्ता के विकेंद्रीकरण से सरकार की नीतियां अधिक यथार्थवादी और जनता की इच्छा व जरूरतों के अनुकूल बनेंगी। १९६७ और १९६९ के चुनाव इसी दिशा में कदम हैं।

सरकार ही केंद्रबिंदु

ऊपर बताया गया है कि भारत में राजनैतिक दलों की बढ़ती हुई विभिन्नता में एकता का बिंदु सरकार है। सरकार को ले कर ही सारी राजनीति घूमती है। विरोध का अर्थ सरकार का विरोध है, चाहे वह दल के भीतर हो या बाहर, चाहे सरकारी दल कांग्रेस हो या अन्य पार्टी। विरोध का यह रुख काफी पहले से रहा है। सन १९५४ से १९६७ तक कांग्रेस अंदर विरोधी गुटों का लक्ष्य सरकारी या सत्तारूढ़ गुट था। केरल में १९५९ में कम्युनिस्ट-विरोधी आंदोलन कम्युनिस्ट सरकार के विरुद्ध था। १९६७ के बाद सरकार-विरोधी आंदोलन कांग्रेस के ही नहीं, गैर कांग्रेस सरकारों के विरुद्ध भी रहा है। जैसे १९६८ में केरल के म्युनिसिपल चुनाव में विरोध का लक्ष्य कम्युनिस्ट दल की संयुक्त सरकार थी, और उत्तर प्रदेश तथा हरियाणा में मध्यावधि चुनाव में जनसंघ तथा

के नेतत्व म 'यग तुक' है, जो चाहते हैं कि सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र म काग्रेस आगे बढे, और दूसरा पक्ष उन लोगो का है, जो काग्रेस सगठन की शक्ति को कायम रखना चाहते है। ये लोग इस बात की उपेक्षा कर रह हैं कि अब तक उपेक्षित और अधिकारवचित वर्गो मे राजनैतिक जाग्रति हो रही है। चुनाव के रख को देखने से पता चलता है कि इस उपक्षित वर्ग का – जिस मे नव शिक्षित और छोटे किसानो तथा खेत मजदूरो का बाहुल्य है – समथन काग्रेस के बजाय दूसरे दलो को मिल रहा है।[३७] काग्रेस के सामने यह प्रश्न है कि वह कैसे अपना मध्य से कुछ वाम पक्ष की ओर रुख कायम रखें।

यदि काग्रेस उन वर्गो मे नही प्रवेश कर पायी, जो अब तक उससे अलग रहे है, तो क्या होगा? ऐसा लगता है कि भविष्य में राज्यो ही नही केन्द्र म भी मिलीजुली सरकार बनेगी। हो सकता है कि कुछ राज्यो मे एक ही दल की, या एक दल के प्रभुत्व मे सयुक्त सरकारें रहे और केन्द्र म मिलीजुली सरकार बने। इसमे भी सदेह नही कि केन्द्र की मिलीजुली सरकार म अभी कुछ दिना तक प्रधान भागीदार काग्रेस ही रहेगी, क्योकि अय दल अभी इतना सावदशिक रूप नही ग्रहण कर पाए है कि ससद म वे अधिक सदस्य भेज सकें। यह भी सभव है कि राज्या मे वे अधिक सदस्य भेज सकें। यह भी सभव है कि राज्या मे जो साझी सरकारे बनें उनमे प्रधान भागादार काग्रेस से भिन्न कोई दल हा, जसे बगाल और केरल में माक्स० कम्युनिस्ट, मध्यप्रदेश और उत्तरप्रदेश म जनसघ और पजाब उडीसा, मद्रास मे वहा के प्रातीय दल। यो देश म सबसे बडा दल काग्रस ही रहने की सभावना है, भले ही वह सभी स्तरा पर सरकार न बना सके। यदि वह पुन अपने सगठन मे एकता स्थापित कर सकी और अपनी गति प्राप्त कर सकी ता उस की भूमिका और भी महत्त्वपूण होगी।

सविद सरकारो का दौर

जरूरी नहीं कि सविद या सयुक्त सरकारें एक दल की सरकारो से कम कार गर और सोद्देश्य हो। केरल की साझी सरकार आध्र की एकदली सरकार से, उडीसा की आसाम से या पजाब की हरियाणा से कम कारगर नही रही। बहुत कुछ सरकार में शामिल गुटा या तत्त्वो पर निभर होता है। आखिर काग्रस म भी अनेक गुटा का ही मेल हुआ था और ये गुट व वग बराबर काग्रेस से अपना सौदा

३७ चार चुनावा में जनसंख्या के वर्गों और वोटों के विश्लेषण से तथा सेंटर फार स्टडी आफ डेवलपिंग सोसाइटीज द्वारा १९६६ और १९६७ में वोटरों की पडताल से पता चलता है कि जहा काग्रेस के समथकों का अनुपात स्थिर रहा है और १९६७ में कुछ गिरा है, वहां अन्य दलों के समर्थकों की सख्या बढी है और इनमें अधिकाश उपेक्षित वर्गो के लोग ह। सन १९६७ की पडताल के कुछ आकडे इस अध्याय में दिए ह। किंतु विस्तृत आकडे बाद में प्रकाशित होगे।

घटाया करते थे। प्रतिद्वंद्विता के अभाव और लगातार सत्तारूढ़ होने से सरकार में लोगों की मांगों के प्रति उदासीनता की प्रवृत्ति आ जाती है। और जब दूसरे दलों से मुकाबला रहता है और चुनाव में हारने का डर रहता है तो सरकार ज्यादा सावधान होती है और लोगों की बात पर अधिक ध्यान देती है। भारत में जहां सरकार और सरकारी साधनों का इतना महत्व है और जनता की बुनियादी जरूरतों को पूरा करने के लिए बहुत कुछ करना है, विभिन्न संयुक्त सरकारें निष्क्रिय हो कर नहीं बैठ सकतीं।

इसलिए हो सकता है कि एक बार जब संयुक्त सरकार की पद्धति स्थापित हो जाए, और विभिन्न दलों को उसमें काम करने का अनुभव हो जाए, तो सरकारें विदेशी नमूनों की नकल करने के बजाय देश की जनता की जरूरतों को समझने और उन्हें पूरा करने पर अधिक ध्यान देने लगें, और ठोस काम करने लगें। यह स्वीकार करना होगा कि जब सरकार में नेहरू की तूती बोलती थी, उस समय से अब सरकार अधिक सचेत हो गई है और जरूरत के अनुसार नीति बदलने और ठोस काम करने पर ज्यादा ध्यान देने लगी है। शुरू में साझी या मिलीजुली सरकारें भले ही ठीक से काम न कर पाएं, पर धीरे धीरे जैसे मिल कर काम करने की परम्परा स्थापित होने लगेगी, ये सरकारें जनता के ज्यादा संपर्क में रहेंगी और ज्यादा काम करने को बाध्य होंगी। इस किताब में इस मत का प्रतिपादन किया गया है कि बालिग मताधिकार की प्रणाली और फलस्वरूप राजनैतिक अधिकारों में जनता के ज्यादा भाग लेने और सत्ता के विकेंद्रीकरण से सरकार की नीतियां अधिक यथार्थवादी और जनता की इच्छा व जरूरतों के अनुकूल बनेंगी। १९६७ और १९६९ के चुनाव इसी दिशा में कदम हैं।

सरकार ही केंद्रबिंदु

ऊपर बताया गया है कि भारत में राजनैतिक दलों की बढ़ती हुई विभिन्नता में एकता की बिंदु सरकार है। सरकार को ले कर ही सारी राजनीति घूमती है। विरोध का अर्थ सरकार का विरोध है, चाहे वह दल के भीतर हो या बाहर, चाहे सरकारी दल कांग्रेस हो या अन्य पार्टी। विरोध का यह रूप [illegible] में रहा है। सन १९५४ से १९६७ तक कांग्रेस अंदर विरोधी [illegible] का [illegible] सरकारी या सत्तारूढ़ गुट था। केरल में १९५९ में [illegible] आंदोलन कम्युनिस्ट सरकार के विरुद्ध था। १९६७ के बाद [illegible] आंदोलन कांग्रेस के ही नहीं, गैर कांग्रेस सरकारों के विरुद्ध [illegible] है। [illegible] १९६८ में केरल के म्युनिसिपल चुनाव में विरोध का [illegible] दल की [illegible] सरकार थी, और उत्तर प्रदेश तथा हरियाणा में [illegible] में जनसंघ तथा

बिहार में ससोपा और उसके साझी दल थे। [३८] १९६७ के बाद कांग्रेस और अन्य दलों के प्रति प्रबुद्ध वर्ग का जो रुख बनता या बदलता रहा और चुनावों में इनको जो सफलता या विफलता मिली, उनमें इस बात का बहुत हाथ था कि इन दलों की सरकार के प्रति जनता का क्या रुख रहा। यद्यपि अभी पक्की भविष्यवाणी नहीं की जा सकती, फिर भी आसार यही है कि अगले चुनावों में वोटरों का रुख सरकार के काम से निर्धारित होगा। सरकार ने कैसा काम किया है विभिन्न दलों ने मिलीजुली सरकार में कैसा व्यवहार किया है, किन दलों पर भरोसा किया जा सकता है कि वे टिकाऊ साझी सरकार बना पाएंगे और किस दल की जनता में कहां तक पहुंच है, इन बातों पर भविष्य में चुनाव का परिणाम बहुत निर्भर होगा।

इस बीच कांग्रेस केन्द्र में सत्तारूढ़ है और देश की सबसे बड़ी तथा ताकतवर राष्ट्रीय पार्टी है और राज्यों की राजनीति को प्रभावित करने के उसके हाथ में बहुत से जरिये हैं। जब राज्य में कोई साझी सरकार टूट जाती है तो केन्द्रीय कांग्रेस के नेता राष्ट्रपति-शासन राज्यपाल और संसद के जरिये राज्य में हस्तक्षेप करते हैं। इसने अनेक राज्यों की गैरकांग्रेस सरकार के साथ बहुत अच्छे संबंध रखे हैं, कभी कभी राज्यों की कांग्रेस सरकार से भी अधिक अच्छे।

संघव्यवस्था में शिरकत

दलों के प्रांतीयकरण का एक प्रभाव यह हुआ कि देश के शासन में अब कांग्रेस के अलावा अन्य दलों को भी भाग लेने का मौका मिला और इस प्रकार संघ-प्रणाली के वे भी अंग बन गए। प्रायः प्रत्येक प्रमुख दल की सरकार कहीं न कहीं है। हमने देखा है कि जब कांग्रेस भी सब जगह सत्तारूढ़ थी, तब भी उसकी आंतरिक गुटबंदी के जरिये बाहरी अन्य दल उसकी नीतियों को प्रभावित कर पाते थे और इस हद तक राज्य तथा केन्द्र की सत्ता की राजनीति से वे बिलकुल कटे नहीं थे। फिर भी परोक्ष रूप से प्रभाव डालना एक बात है और सत्ता में भाग लेना, चाहे साझीदार के रूप में ही, और बात है। पहली स्थिति में मजबूरी का भाव रहता है जबकि दूसरी स्थिति में अधिकार का। सत्ताग्रहण से सरकार की समस्याओं

३८ कुछ राज्यों में कांग्रेस ने पुनः शक्ति प्राप्त की। इसका कारण मतदाताओं का वर्तमान सरकार से असंतोष और सरकारी दलों में फूट रही। कम्युनिस्टों के गढ़ केरल में १९६८ के म्युनिसिपल चुनावों में कांग्रेस को बड़ी सफलता मिली। उत्तरप्रदेश और गुजरात तथा राजस्थान में जयपुर की महारानी के क्षेत्र में उपचुनाव में प्रतिष्ठा की लड़ाई में कांग्रेस को सफलता मिली। १९६९ के मध्यावधि चुनाव में उत्तर प्रदेश कांग्रेस की स्थिति में सुधार हुआ और उसकी सरकार बन गई, उसके मुख्य प्रतिद्वंद्वी जनसंघ को काफी नुकसान हुआ। बिहार में कांग्रेस की सीटें और कम हो गई किंतु उसके विरोधी दल बुरी तरह से बंटे हुए थे, इसलिए उसने सरकार बना ली लेकिन प. बंगाल और पंजाब में इसकी बुरी तरह हार हुई यद्यपि इसकी वोट संख्या में कमी नहीं आई।

और कठिनाइयों की जानकारी होती है। इससे जिम्मेदारी और यथार्थवादिता बढ़ती है और लगातार अल्पमत में रहने के कारण जो विरोध की प्रवृत्ति आ जाती है, वह दूर हो जाती है।

दूसरे, विभिन्न दलों द्वारा सरकार बनाने से समझौते और एक दूसरे के मत का आदर करने की प्रवृत्ति पैदा होती है। १९६७ के बाद एक उल्लेखनीय बात यह हुई है कि केन्द्र तथा राज्य की गैरकांग्रेसी सरकारों में समझौते की भावना बढ़ी है और वे शासन की सामान्य समस्याओं को मिल कर सुलझाने की कोशिश करने लगी हैं। १९६७ में राज्यों में कांग्रेस और गैर-कांग्रेस सरकारों की स्थापना के बाद ही प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी और गृहमंत्री श्री चव्हाण आदि ने गैर कांग्रेसी मुख्य मंत्रियों से ऐसे संबंध स्थापित किए जिससे शासन के मामले में दोनों में सहयोग हो सके। वास्तव में गैर कांग्रेसी मुख्य मंत्रियों से बरतना केन्द्रीय कांग्रेस सरकार के लिए ज्यादा आसान सिद्ध हुआ, बजाय कांग्रेसी मुख्य मंत्रियों के जो कांग्रेस दल और केन्द्रीय सरकार के मामलों में भी दखल देने की कोशिश करते थे क्योंकि वे अपने को महज मुख्यमंत्री नहीं कांग्रेस के अखिल भारतीय नेता भी मानते थे। श्रीमती इंदिरा गांधी और श्री चव्हाण को मद्रास के श्री अन्नदुराई, उड़ीसा के आर. एन सिंहदेव, उत्तरप्रदेश के चरणसिंह और पंजाब के गुरनामसिंह जैसे गैर-कांग्रेसी मुख्य मंत्रियों का विश्वास प्राप्त करने में सफलता मिली। यहां तक कि अक्सर ये मुख्यमंत्री अपनी कठिनाइयों में और अपने साझीदारों से मतभेद पैदा होने पर इनसे सलाह लेते थे। इससे उनके दल वाले और उनके कांग्रेस प्रतिद्वंद्वी दोनों को संकोच होता था। जो लोग यह समझते थे कि राज्यों में भिन्न दलों की सरकारों के बनने से दल या पार्टी प्रणाली टूट जाएगी, उन्होंने एक तो कांग्रेस और प्रतिपक्षी दलों के नेताओं के पुराने संबंधों को भुला दिया और इस बात की भी उपेक्षा कर दी कि भारत की दल-प्रणाली में इतनी परिवर्तनशीलता है कि वह नए नेताओं और नए दलों को भी अपने अंदर स्थान दे सके।

यही नहीं कि विपक्षी दलों के नेता और कांग्रेस के नेता पहले राष्ट्रीय आंदोलन और कांग्रेस में साथ काम कर चुके थे, बल्कि विपक्षी दल की सरकारों की नीति और कार्यक्रम भी-स्वतंत्र और कम्युनिस्ट जैसे भिन्न दलों के भी – कांग्रेस सरकार से ज्यादा भिन्न नहीं थे। इन सरकारों ने भी अपनी पूर्ववर्ती कांग्रेस सरकार की तरह बोल की नीति अपनाई। यही नहीं इनमें कुछ ने – मद्रास में द्रमुक और केरल में कम्युनिस्ट – यह दावा किया कि वे उन्हीं नीतियों पर चल रहे हैं जो कांग्रेस की हैं, मगर जिनको कांग्रेस पूरा नहीं कर सकी।[२९] इन संयुक्त सरकारों

[२९] कांग्रेस के श्री सी सुब्रह्मण्यम की इस आलोचना का कि द्रमुक सरकार की कोई अपनी नीति नहीं है और वह कांग्रेस की ही नीतियों पर चल रही है श्री अन्नादुरै ने यह जवाब दिया

[अगले पृष्ठ पर]

का आधार एक न्यूनतम कायक्रम था, जो उस न्यूनतम कार्यक्रम से भिन्न न था, जिस पर काग्रेस के दक्षिण और वाम पक्ष सहमत हुए थे। इन गैर–काग्रेसी दलो की राजनीति और दूसरे दलो से जोडतोड का तरीका भी वही था जो काग्रेस वालो का था। नतीजा यह हुआ कि जब साझी सरकारो के टूटने पर काग्रेस वापस आई तो उसे स्थिति और सरकारी कामकाज का तरीका वैसा ही मिला, जैसा उस समय था, जब वह अपदस्थ हुई थी।

लेकिन काग्रेस और भिन्न दलो की यह सहमति नेहरू या लालबहादूर शास्त्री के समय से बहुत भिन्न है। नेहरू के समय काग्रेस के अदर ही विरोधी विचारधाराओ का समन्वय हुआ था। लालबहादुर शास्त्री कोई बडा फैसला करते समय विरोधी दलो से सलाह करते थे। अब इदिरा गाधी के समय न केवल विभिन्न दलो की राज्य सरकारो, राज्य काग्रेस के नेताओ और काफी सक्रिय ससद से ही मशविरा किया जाता है, बल्कि ऊचे और अनुभवी सरकारी अधिकारियो की राय भी बहुत वजन रखती है।[४०] अब राजनैतिक तत्र के ये विभिन्न अग राजकाज में ज्यादा प्रत्यक्ष भाग लेते है और एक दूसरे को प्रभावित करते हैं।

सहमत नीतिया

सवस्वीकाय कायक्रम और नीतियो की खोज अभी भी जारी ह। हमने देखा है कि यद्यपि काग्रेस का झुकाव कुछ वाम पक्ष की ओर रहा है[४१] फिर भी समय समय पर दक्षिण और वाम दोना पक्षो का प्रभाव घटता बढता रहा है। इधर एक

[पिछले पृष्ठ से]
कि काग्रेस को चाहिए कि वह द्रमुक को धन्यवाद दे कि वह उसकी नीति को कार्यान्वित कर रहा है। (हिंदू वीकली रिव्यू जुलाइ २२ १०६८) केरल के मार्क्स मुख्यमत्री नबूदरीपाद का भी यही दावा था। ध्यान रहे कि १०६७ के चुनाव की नमूने की पडताल में जब लोगों से पूछा गया कि विभिन्न दलों की नीतियों और कायक्रमों में क्या अतर है तब ६५ प्र श ने इसका उत्तर दिया और इनमें से ४१ प्र श ने कहा कि कोई अतर नहीं है।

४० देखें, अध्याय ८।

४१ जोत और शहरी सपत्ति की अधिकतम सीमा निर्धारण सहकारी खेती और गुट निरपेक्षता की नीति पर जनसाधारण और विशिष्ट लोगों की राय लेने से इस बात की पुष्टि होती है। द्वितीय लोकसभा के ६० से ८० प्रतिशत सदस्य और स्वतन्त्र पार्टी को छोड कर शेष दलों के समर्थक इन नीतियों के पक्ष में थे। ससद सदस्यों के मत के बारे में देखिए – सुरिंदर सूरी, 'चेंजिग फेस आफ लोकसभा' लिंक (नईदिल्ली, अगस्त, १५, १०६१) और अलबर्ट एम कट्रिल, 'द इन्डियन परसेप्शन आफ द सिनो इन्डियन बोर्डर क्लैश – ऐन इनक्वायरी इनटु पोलिटिकल साइकोलाजी (प्रिंसटन १९६३)। जनमत के बारे में देखें – 'इडि हिस्ट्री आफ पब्लिक ओपीनियन मथली पब्लिक ओपीनियन सर्वे (नई दिल्ली, जन १०६४)। इस सस्थान द्वारा जनमत की पडताल के विवरण के लिए देखें – सैमुअल जे एल्डर्सवेल्ट, 'डेवलपिंग पैटन आफ पार्टी प्रेफरेंस' – मथली पब्लिक ओपीनियन सर्वे (जन १९६४)।

तो राष्ट्रीय स्तर पर जिन दलो का जोर बढा है वे दोनो कम्युनिस्ट पार्टिया है, दूसरे बहुत से राष्ट्रीय प्रश्नो पर क्षेत्रीय दलो ने कोई निश्चित रुख नही ग्रहण किया है। इससे काग्रेस की नई पीढी के वामपक्षी झुकाव को बल मिला है। यदि यह प्रवृत्ति जारी रही तो सभव है कि देश मे कुछ प्रश्नो पर एक निश्चित नीति को सहमति मिल जाए।

इस सिलसिले मे दो बाते ध्यान योग्य हैं। एक तो दक्षिण पथी दल कोई स्पष्ट दक्षिणपथी विचारधारा या नीति पर जोर नही दे रहे है। जनसघ ऐसा दल भी धर्मनिरपेक्ष और राष्ट्रीय स्वरूप ग्रहण करना चाहता है और उसने अनेक प्रश्नो पर, जैसे गोरक्षा और भाषा पर अपना पहले का कटटर रुख नरम कर दिया है। साथ ही स्वतन्त्र दल का जोर भी राजस्थान, बिहार, गुजरात आदि म गिर रहा हे, और उडीसा मे स्वतत्र दल की सरकार अनेक प्रश्नो पर केन्द्रीय नीतिया के समीप है। दूसरे, भारत जैसे देश मे जहा विकास के लिए सरकार को इतना काम करना है वामपक्षी नीतिया के बिना काम नही चल सकता।

इस वामपथी झुकाव मे बडा हाथ राज्यो और प्रदेशा के दलो और जनता के स्थानीय मुखियो तथा निदल या स्वतत्र विधायको और ससद सदस्या का रहा है। जसे जसे राजनतिक व्यवस्था का जनता मे प्रवेश और विस्तार होता है अब तक उपेक्षित वग राजनीति मे आते है। मद्रास मे द्रमुक, पजाब मे अकाली, उत्तरप्रदेश मे भा० क्रा० द०, उडीसा म पुरानी गणतत्र परिषद और केरल तथा प बगाल मे कम्युनिस्टा के क्षेत्रीय दल, सभी काफी मजबूत और टिकाऊ सरकार बनाने मे समय हैं, और भारत के दल–तत्र मे उनके अधिक भाग लेने की सभावना है। यद्यपि अभी कुछ दिनो तक केन्द्र मे काग्रेस की सरकार बनी रहने की पूरी सभावना है, किन्तु राज्यो मे भिन्न दलो की सरकार होने के कारण भारत की सघीय व्यवस्था में अकेले काग्रेस का ही नही सभी दलो का भाग हो गया है और इस प्रकार उसे सभी दलो की स्वीकृति मिल गई है।

राजनतिक व्यवस्था के स्वरूप की ठीक परख

इस प्रकार जो बहुदली व्यवस्था विकसित हो रही है उसमें केन्द्र को या काग्रेस को राज्या में भिन्न दला की सरकार के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, अभी इसकी परिपाटी या नियम नही बन पाए है। सघीय व्यवस्था अथवा केन्द्र–राज्य सबध को ठीक ढग से बनाए रखना आसान नही सिद्ध हुआ। केन्द्र का राज्यो से व्यवहार भी हमेशा उचित और न्यायपूण नही रहा। अवसर इसने राज्य के झगडे मे अपने दल या गुट का पक्ष लिया है। सन १९५९ में केरल में कम्युनिस्ट सरकार की बर्खास्तगी और केन्द्र का शासन लागू करने मे और १९५७ में बगाल में राजनतिक सकट के समय गर कम्युनिस्ट दला का समथन करने में केन्द्राय सरकार

का आधार एक न्यूनतम कार्यक्रम था, जो उस न्यूनतम कार्यक्र
जिस पर कांग्रेस के दक्षिण और वाम पक्ष सहमत हुए थे। इन
की राजनीति और दूसरे दलो से जोडतोड का तरीका भी
वालो का था। नतीजा यह हुआ कि जब साझी सरकारा के टू
आई तो उसे स्थिति और सरकारी कामकाज का तरीका
उस समय था, जब वह अपदस्थ हुई थी।

लेकिन काग्रेस और भिन्न दलो की यह सहमति नेहरू या
समय से बहुत भिन्न है। नेहरू के समय काग्रेस के अदर ही
का समन्वय हुआ था। लालबहादुर शास्त्री कोई बडा फैस
दला से सलाह करते थे। अब इदिरा गाधी के समय न
राज्य सरकारो, राज्य काग्रेस के नेताओ और काफी स
किया जाता है, बल्कि ऊचे और अनुभवी सरकारी अधि
वजन रखती है।[४०] अब राजनैतिक तत्र के ये विभि
प्रत्यक्ष भाग लेते है और एक दूसरे को प्रभावित करते

भारत की राजनीति काग्रेस के इदगिद घूमती रही है। काग्रेस की प्रधानता का कारण उसके हाथ मे सरकार की शक्ति होना तथा उसका प्रभावशाली नेतत्व रहा है। इसके साथ ही उसके सगठन की जनता मे भी पहुच रही है। इस प्रकार सरकार की शक्ति और जनता मे पहुच दोनो उसकी प्रधानता की जड मे है। राजनीति मे भाग लेने के इच्छुक मुख्यत काग्रेस मे ही प्रवेश करते थे। अन्य दलो का प्रभाव तो अभी ही पडना शुरू हुआ है। १९६७ के चुनाव के दौरान किये गये एक राष्ट्रीय अध्ययन से यह पता चला कि ७० प्रतिशत लोग किसी न किसी राजनीतिक दल को पसद करते थे (और ३४ प्र० श० निदल या स्वतत्र उम्मेदवारो के पक्ष मे थे।) और इनमे से ४३ १ प्र० श० काग्रेस के पक्ष मे थे, बाकी अन्य दलो के। (देखिए सारणी ५–६।)

यदि यह भी मान लिया जाए कि सत्तारूढ दल के पक्ष मे कुछ लोगो ने या ही नाम लिखा दिए होगे और काग्रेस-समथक प्रतिशत मे कुछ कमी कर दी जाए और भिन्न दलो के समथको की सख्या कुछ बढा भी दी जाए, तब भी इस पडताल से काग्रेस ही सबसे परिचित और समर्थित पार्टी सिद्ध होती है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इस प्रकार की पडताल से वास्तविक मतदान काफी भिन्न होता है, क्योकि मतदान पर बहुत-सी बातो का प्रभाव पडता है। दूसरी ओर यह भी ध्यान रहे कि २६ ७ उत्तरदाताओ ने या तो किसी पार्टी के पक्ष मे राय नही दी, या इस प्रश्नका उत्तर नही दिया जबकि चुनाव मे वोट न देने वालो की सख्या ३८ प्र० श० थी। वोट न देने वाले भी बहुत-से लोग किसी पार्टी की ओर होते है। मजे की बात यह है कि केवल ११ ८ प्र० श० लोगो ने बताया कि उन्होने वोट नही दिया। लोग यह कहने से हिचकते है कि हमने वोट नही दिया।[४५] यह भी उल्लेखनीय है कि पडताल करने वाले ने स्वय किसी दल का नाम नही लिया था, उत्तरदाताओ ने ही बताया कि वे अमुक दल के पक्ष मे है। इससे यह पता चला कि लोगो को विभिन्न दलो के बारे म काफी जानकारी थी और सब से ज्यादा उत्तरदाता काग्रेस के पक्ष मे थे।

मगर काग्रेस के समथन के साथ साथ उससे असतोष भी अधिक है। शासक दल की हैसियत से काग्रेस के काम की काफी आलोचना की गई और इस कारण लोगो ने इसके विरोध मे वोट दिए। उपर्युक्त पडताल म काग्रेस के विरुद्ध जो शिकायतें

---

४५ यह पडताल सैन्टर फार स्टडी आफ डेव सोसा की ओर से की गई थी। इसमें देश भर के ४७ ससद के और ९४ विधानसभा के निर्वाचन क्षेत्र चुने गए और उनमें २२८७ व्यक्तियों से प्रश्न किए गए (ऊपर जो विवरण दिया गया वह सब पुरुषों के उत्तर हैं स्त्रियों के उत्तरों का विश्लेषण अभी नहीं हुआ।) इस पड़ताल का विश्लेषण हो रहा है। इसके निष्कर्षों का प्रकाशन शीघ्र होनेवाला है।

के नेताओ पर पक्षपात का आरोप किया गया है। काग्रेस के नेता अभी इस बात को स्पष्ट रूप से नही समझ पाए हैं कि उन्होने देश में ससदीय या प्रतिनिधि शासन की जो व्यवस्था स्थापित की है वह तभी सब की स्वीकृति पा सकेगी और जड जमा सकेगी जब सभी दलो को सरकार में भाग लेने का मौका मिले। इसी से गैरकाग्रेसी दलो का भरोसा होगा कि वतमान सवैधानिक व्यवस्था में उनके साथ भी न्याय होगा और उन्हे भी सत्ता ग्रहण करने का पूरा मौका मिलेगा।

दूसरी ओर सन १९६७ के बाद से काग्रेस की सर्वोच्च या केन्द्रीय नेता मडली में जो फूट दिखाई पडी है, उससे केरल और पश्चिम बगाल के कम्युनिस्टो की हिम्मत बढी है और व केन्द्र से मुकाबला करने और वतमान व्यवस्था को अदर से खोखला करने में लगे हैं। वतमान सवैधानिक व्यवस्था म प्रवेश पाने और उसे जनता की आकाक्षाओ के अधिक अनुकूल तथा क्रातिकारी बनाने की बात करने में कोई बुराई नही। मगर यह कहना कि इस व्यवस्था को उलट करके या ध्वस्त करके ही जनता का भला किया जा सकता है, खतरनाक बात है और इस खतरे का बचाव, इसे अधिक प्रतिनिधि और सवसम्मत बनाने से अथात इसमें सभी दलो को मौका देने से किया जाना चाहिए।

लक्ष्य करने की बात यह है कि भारत में एक दल की प्रधानता का स्थान अनेक दलो की स्पर्धा या प्रधानता के लिए स्पधा ले रही है।[४२] इसका एक रूप सघ के क्षेत्र मे देखने को मिलता है जहा केन्द्र में काग्रेस की प्रधानता है और राज्यो में भिन्न दलो के जुटो की। दूसरा रूप है राज्य बनाम राज्य। अर्थात एक ओर महाराष्ट्र, आध्र आदि मे काग्रेस की सत्ता है और दूसरे राज्यो में कम्युनिस्ट या द्रमुक (मद्रास) या अकाली (पजाब) प्रधान है।[४३] तीसरा रूप निर्वाचन क्षेत्रो में देखने को मिलता है। अब ऐसे निर्वाचन क्षेत्रो की सख्या कम होती जा रही है जहा एक पार्टी बाकी सब दलो से मजबत पडती है। फिर भी अभी औसत निर्वाचन क्षेत्र में एक दल की प्रधानता बनी है, अर्थात जहा सफल उम्मेदवार को करीब ४५ प्र श वोट मिलते ह और दूसरे नबर को उससे १२ से १६ प्र श कम।[४४]

---

४२ सन १९६७ में राजनीति में जो सहसा परिवतन दिखाई पडा वह एक तरह से १९६२ में ही आरभ हो गया था, यह बात वोटों के विश्लेषण से पता चलता है। सन १९६२ के चुनाव के महत्त्व के बारे में देखिए—मेरे इडियाज पोलिटिकल टेक आफ' और 'द टेक आफ इलेक्शन,' द इकनामिक वीकली वार्षिक अक फरवरी १९६२ और विशेषाक जुलाई १९६२।

४३ बगाल आदि में बड़ा कम्युनिस्ट दलों की बात हुई है, उन्हें अनेक छोटे दलों से समझौते करने पडे हैं। इससे छोटे दलों को भी जीवित रहने का मौका मिला है। काग्रेस की सफलता में भी यही बात है। काग्रेस का बल भी उसके अदर अनेक वर्गों या गुटों को स्थान देने में है। वहा भी प्रधान गुट के चारों ओर अनेक छोटे छोटे गुट बने रहते हैं।

४४ पाटर मैक डोनो का निबध दलों के बारे में (युनिवर्सिटी आफ मिशिगन डिसर्टेशन १९६०)।

समथन और विरोध

भारत की राजनीति काग्रेस के इर्दगिर्द घूमती रही है। काग्रेस की प्रधानता का कारण उसके हाथ मे सरकार की शक्ति होना तथा उसका प्रभावशाली नेतृत्व रहा है। इसके साथ ही उसके सगठन की जनता मे भी पहुच रही है। इस प्रकार सरकार की शक्ति और जनता मे पहुच दोनो उसकी प्रधानता की जड मे है। राजनीति मे भाग लेने के इच्छुक मुख्यत काग्रेस मे ही प्रवेश करते थे। अन्य दलो का प्रभाव तो अभी ही पडना शुरू हुआ है। १९६७ के चुनाव के दौरान किये गये एक राष्ट्रीय अध्ययन से यह पता चला कि ७० प्रतिशत लोग किसी न किसी राजनीतिक दल को पसद करते थे (और ३ ४ प्र० श० निदल या स्वतत्र उम्मेदवारो के पक्ष मे थे।) और इनमे से ४३ १ प्र० श० काग्रेस के पक्ष मे थे, बाकी अन्य दलो के। (देखिए सारणी ५-६।)

यदि यह भी मान लिया जाए कि सत्तारूढ दल के पक्ष मे कुछ लोगो ने यो ही नाम लिखा दिए होगे और काग्रेस-समर्थक प्रतिशत मे कुछ कमी कर दी जाए और भिन्न दलो के समर्थको की सख्या कुछ बढा भी दी जाए तब भी इस पडताल से काग्रेस ही सबसे परिचित और समर्थित पार्टी सिद्ध होती है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इस प्रकार की पडताल से वास्तविक मतदान काफी भिन्न होता है, क्योकि मतदान पर बहुत-सी बातो का प्रभाव पडता है। दूसरी ओर यह भी ध्यान रहे कि २६ ७ उत्तरदाताओ ने या तो किसी पार्टी के पक्ष मे राय नही दी, या इस प्रश्न का उत्तर नही दिया जबकि चुनाव मे वोट न देने वालो की सख्या ३८ प्र० श० थी। वोट न देने वाले भी बहुत-से लोग किसी पार्टी की ओर होते है। मजे की बात यह है कि केवल ११ ८ प्र० श० लोगो ने बताया कि उन्होने वोट नही दिया। लोग यह कहने से हिचकते है कि हमने वोट नही दिया।[४५] यह भी उल्लेखनीय है कि पडताल करने वाले ने स्वय किसी दल का नाम नही लिया था, उत्तरदाताओ ने ही बताया कि वे अमुक दल के पक्ष मे है। इससे यह पता चला कि लोगो को विभिन्न दलो के बारे मे काफी जानकारी थी और सब से ज्यादा उत्तरदाता काग्रेस के पक्ष मे थे।

मगर काग्रेस के समथन के साथ साथ उससे असतोष भी अधिक है। शासक दल की हैसियत से काग्रेस के काम की काफी आलोचना की गई और इस कारण लोगो ने इसके विरोध मे वोट दिए। उपयुक्त पडताल मे काग्रेस के विरुद्ध जो शिकायते

---

४५ यह पडताल सेंटर फार स्टडी आफ डेव सोसा की ओर से की गई थी। इसमें देश भर के ४७ ससद के और ९४ विधानसभा के निर्वाचन क्षेत्र चुने गए और उनमें २२८७ व्यक्तियों से प्रश्न किए गए (ऊपर जो विवरण दिया गया वह सब पुरुषों के उत्तर है स्त्रियों के उत्तरों का विश्लेषण अभी नहीं हुआ।) इस पडताल का विश्लेषण हो रहा है। इसके निष्कर्षों का प्रकाशन शीघ्र होनेवाला है।

है उनका उल्लेख करके पूछा गया कि आप उनसे सहमत हैं या नहीं ? उल्लेखनीय है कि ७० से ६० प्र० श० उत्तरदाताओं ने इस पर अपनी राय दी और अधिकांश ने कांग्रेस के काम को असंतोषजनक बताया। (सारणी पांच–७)।

मगर फिर याद रहे कि इस विषय में पडताल के नतीजों पर पूरा भरोसा नहीं किया जा सकता और कांग्रेस से इतना असंतोष होने पर भी १९६७ के चुनाव में उसको प्राप्त वोटों में कोई खास कमी नहीं हुई। फिर भी यह बात महत्त्व की है कि उत्तरदाताओं ने कांग्रेस के काम के बारे में निश्चित राय दी और उसके विरुद्ध शिकायतों के सही या गलत होने के बारे में काफी समझबूझ कर उत्तर दिये। शासक दल के रूप में कांग्रेस के काफी समर्थन के साथ साथ उसके काम से इतना असंतोष भी होने से पता चलता है कि जनता की दृष्टि में सरकार और दल का कितना घना संबंध है।

यह भी उल्लेखनीय है कि शिक्षा की इतनी कमी होते हुए और चुनाव तथा पार्टी राजनीति का अधिक दिनों का अनुभव न होते हुए भी, ६० प्र० श० से अधिक जनता को पार्टियों और उनकी रीति नीति के बारे में जानकारी है। फिर भी याद रखना चाहिए कि पार्टी, सरकार और राष्ट्र के प्रतीक अभी जनता के मन में बहुत गहराई से नहीं प्रतिष्ठित हो सके हैं। अभी राजनीति में जनता की अधिक दिलचस्पी नहीं हुई है और राष्ट्र, सरकार या दल को जनता स्थानीय नेताओं या अधिकारियों के ही माध्यम से जानती है।[४६] अधिकांश जनता अपने रोज के धंधे से ही मतलब रखती है और उसका लगाव अपने परिवार और बिरादरी से है, दल या सरकार से नहीं। इस अध्याय में और इससे पहले के अध्याय में राजनीति, सरकार और दल तथा जनता में उसके प्रवेश के बारे में जो कहा गया है, उसे राजनैतिक विकास के इस सीमित संदर्भ में ही समझना चाहिए।[४७] परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि इस सीमा के भीतर दल और सरकार दोनों परिवर्तन और विकास के शक्तिशाली साधन के रूप में सामने आ रहे हैं, और उनके जरिये जनता राजनैतिक व्यवस्था तथा सरकारी कार्यों में दिलचस्पी ले रही है तथा चुनाव में सरकार के काम से अपना असंतोष भी जाहिर करने लगी है।

दलों का सामाजिक गठन

इन दलों के नेता और पदाधिकारी लोगों की सामाजिक स्थिति क्या है और

---

४६ उपर्युक्त पडताल में केवल १७ ८ प्र श उत्तरदाता अपने राज्य के मुख्यमंत्री का सही नाम बता सके। लेकिन २४ १ प्र श ने मुख्यमंत्री के दल का नाम ठीक बताया। इससे पता चलता है कि जनता स्थानीय नेताओं को ज्यादा जानती है। राज्य या केंद्र के नेताओं की तस्वीर बहुत धुंधली है।

४७ अध्याय ८ में राजनैतिक व्यवस्था के जड जमाने के विषय में विचार किया गया है।

समाज के किस वर्ग या वर्गों से उनको समर्थन मिलता है ? पहले हम दल के नेताओं और जनता के प्रतिनिधियों की सामाजिक स्थिति का अध्ययन करेंगे फिर उनके समर्थकों की ।

संसद सदस्य

अभी हाल में संसद सदस्यों की सामाजिक स्थिति का एक अध्ययन किया गया है जिससे पता चलता है कि उनमें वकीलों की संख्या घट रही है और उनका स्थान कृषक और जमीदार वर्ग के लोग ले रहे हैं[४८]। पहली लोकसभा में वकीलों की संख्या ३५ प्र० श० दूसरी लोकसभा में ३० प्र० श० तीसरी में २४ ५ थी और चौथी में १७ ५ प्र० श० है। इसके मुकाबले कृषकों की संख्या २२ ४ प्र० श०, २८ १ प्र० श०, २७ ४ प्र० श० और ३१ १ प्र० श० रही। कृषक वर्ग में बड़े जमीदारों व सरदारों से लेकर छोटे जमीदार व किसान सभी हैं, लेकिन वे उस शहरी पेशेवर वर्ग के मुकाबले, जिसने राष्ट्रीय आंदोलन का भी नेतृत्व किया था और स्वतंत्रता के बाद सरकार का भी, देहाती जनता का प्रतिनिधित्व करते हैं।

कांग्रेस के अंदर बहुत से वर्गों और पेशों के लोग हैं, जबकि अन्य दलों का आधार इतना व्यापक नहीं है, और इसीलिए उसमें भिन्नता भी कम है जैसे (सारणी पांच–८)। स्वतंत्र दल और दोनों कम्युनिस्ट दलों में। स्वतंत्र दल में एक ओर बड़े जमीदार और भूतपूर्व राजा हैं, तो दूसरी ओर व्यापारी और रिटायर्ड ऊंचे सरकारी अधिकारी। स्वतंत्र दल में बड़े जमीदार और भूमिपतियों का जमघट है जबकि मध्यम दर्जे के किसान कांग्रेस, जनसंघ, द्रमुक और दोनों समाजवादी पार्टियों में अधिक हैं। इसी तरह यद्यपि जनसंघ और द्रमुक दोनों में व्यवसाय और उद्योग के लोग हैं, जो अधिकतर दूकानदार हैं, किंतु स्वतंत्र पार्टी में बड़े व्यवसायी और उद्योगपति हैं।[४९] दूसरी ओर कम्युनिस्ट पार्टियों में अधिकांश ट्रेड यूनियन और पेशेवर राजनीतिक तथा पत्रकार आदि हैं।

जनसंघ और द्रमुक की शुरुआत शहरी और निम्न मध्यम वर्ग के लोगों से हुई, किंतु धीरे धीरे ये भूमिधारी या कृषक तथा अन्य वर्गों में भी फैले। सूक्ष्मता से देखने से पता चलता है कि अधिकांश राज्यों में जहां इसका प्रभाव है जनसंघ मुख्यतः शहरी पार्टी है, किंतु उत्तरप्रदेश में इसने गांवों में भी प्रवेश किया है और कांग्रेस को धक्का दिया है। जनसंघ के आधे समर्थक उत्तरप्रदेश के हैं और वहां उसका आधार काफी व्यापक हुआ है। इसी तरह द्रमुक की शुरुआत मद्रास के नगरों से हुई, पर इसके बाद में देहाती इलाकों में भी कांग्रेस को अपदस्थ कर दिया

४८ रत्ना दत्त, 'द पार्टी रिप्रेजेंटेटिव इन फोर्थ लोकसभा,' इक ऐंड पोलि वीकली ४, संख्या १ व २, जन १९६६।

४९ वही

और राज्य भर में फैल गई। जनसघ और द्रमुक की विचारधाराए विपरीत हैं, परतु दोनो की शक्ति का स्रोत भाषा और प्रदेश की भावना है और दोना के समर्थक मध्यम और निम्न मध्यवग के लोग हैं।[५०]

ससोपा और प्रसोपा दोनो ही पुरानी समाजवादी पार्टी से निकले हैं किंतु दोना की विचारधारा और सामाजिक आधार भिन्न है। प्र सो पा ने मूल समाजवादी पार्टी की लोकतान्त्रिक समाजवाद और कट्टर धर्मनिरपेक्षता की परिपाटी को बनाये रखा। इसके अधिकतर कायकर्ता ट्रेड यूनियन वाले, वकील (अभी भी इसमें सबसे बडा वग यही है) और पत्रकार है और यह महाराष्ट्र, मैसूर, उत्तरप्रदेश तथा आसाम के कुछ देहाती क्षेत्रा म काम करता है। दूसरी ओर डा राममनोहर लोहिया के नेतत्व में ससोपा ने अधिक क्रांतिकारी कायक्रम अपनाया और जनता म प्रवेश किया। देहाती इलाका में इसने पिछडी जातियो का पक्ष लिया और शहरा म इसने भाषा जैसे प्रश्ना को उठा कर राष्ट्रीय स्वाभिमान को नई दिशा दी। नतीजा यह है कि जबकि प्र सो पा में अनेक वर्गों के लाग हैं और उसका सामाजिक आधार अधिक विस्तत है, स सो पा मे समाजवादी कायकर्ताओ और छोटे व मध्यम श्रेणी के किसाना का बाहुल्य है। बहुत-सी बातो में इसका और जनसघ का रुख मिलता है और दोना का प्रभाव भी एक ही इलाका में है।

भारत की ससद म बहुत से निदल सदस्य भी है। इनके बारे में भ्रात धारणा है कि ये सब रईस और धनवान वग के हे। वस्तुत यह बात नही है। इनमें स जो भूमि वाले है वे रईस या राजा वग के है, परतु ७० प्र० श० लोग अन्य विविध वर्गो से आए है।

पूव अनुभव

ससद के सदस्या के बारे में देखने की एक महत्त्वपूण बात यह है कि ससद में आने के पहले राजनीति में उनका क्या अनुभव रहा है। सारणी पाच ६ में चौथी लोकसभा के सदस्यो के बारे में ऐसी सूचना दी गई है।

इससे पता चलता है कि केवल २६ ३ प्र० श० सदस्य ऐसे है, जिनको पहले किसी भी स्तर पर विधानसभा का कोई अनुभव नही रहा। नए या अनुभवहीन सदस्यो की सख्या काग्रेस में कम और अन्य पार्टिया में ज्यादा है। काग्रेस में केवल १५ ६ नए सदस्य थे जबकि प्रसोपा में ३० ८ प्र० श० और द्रमुक में ३३ ३ प्र० श० ससोपा मे ४२ १ प्र० श०, माक्स कम्यु दल में ४५ प्र० श०, कम्युनिस्ट पार्टी में ४७ ४ प्र० श०, जनसघ मे ४८ ४ और स्वतत्र पार्टी में ६४ ३ प्र० श०।

दूसरी ओर दोनो कम्युनिस्ट दलो और दोनो सोशलिस्ट दलो के सदस्या का सबध ट्रेड यूनियनो से ज्यादा रहा। काग्रेस के केवल २२ २ प्र० श० सदस्य मजदूर

५० वही

सघो से संबंधित थे। परंतु सहकारी आंदोलन में कांग्रेस के प्रतिनिधियों का अधिक योग रहा है, यद्यपि सिवा महाराष्ट्र जैसे कुछ इलाकों को छोड़ कर शेष भारत में यह आंदोलन कमजोर है। यद्यपि स्वतंत्र दल के कुछ संसद सदस्य सहकारी समितियों से संबंधित रहे हैं और जनसंघ के कुछ सदस्य गांव और जिले की राजनीति में भाग लेते रहे है, फिर भी सब मिला कर इन दोनों दक्षिण पंथी दलों के सदस्यों का राजनतिक अनुभव कम रहा है। इसके मुकाबले कांग्रेस तथा कम्युनिस्ट और सोशलिस्ट सदस्यों का राजनतिक अनुभव अधिक रहा है। खासकर कम्युनिस्ट और समाजवादी सदस्यों का राज्य स्तर पर राजनीति का काफी अनुभव है। मार्क्स० कम्यु० दल के ४० प्र० श० सदस्यों को राज्य स्तर का राजनैतिक अनुभव था। साधारण तौर पर समझा जा सकता है कि वामपंथी दलों में नए आदमियों की संख्या अधिक होनी चाहिए थी, परंतु चूंकि ये दल काफी दिनों से सक्रिय रहे हैं और इनमें राजनैतिक अध्ययन और मैदान में काम करने पर ज्यादा जोर दिया जाता है, इसलिए इनके सदस्यों का काफी राजनैतिक अनुभव रहा है।

दलों के अनुयायी

यह सर्वविदित है कि नए राष्ट्रों में राजनतिक नेता और विधायक साधारण जनता से कई श्रेणी ऊंचे वर्गों से आते है। नेताओं और प्रतिनिधियों की सामाजिक स्थिति के साथ ही यह देखना भी जरूरी है कि उनके दलों में समाज के किन वर्गों का प्रतिनिधित्व हुआ है और निर्वाचन क्षेत्रों में उनको कितना और किस प्रकार का समर्थन प्राप्त है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सबसे पहली बात यह है कि कांग्रेस का स्वरूप अखिल भारतीय है और करीब ४० प्र० श० मतदाता हमेशा इसके साथ रहे हैं। अन्य दलों की शक्ति प्रदेश या क्षेत्र विशेष में है। इसलिए विभिन्न दलों के समर्थकों के आकड़ों पर विचार करते समय कांग्रेस से भिन्न दलों के क्षेत्रीय स्वरूप को ध्यान में रखना चाहिए।

सारणी पांच–१०–११ में यह बताया गया है कि विभिन्न दलों को किन पेशों से कितना समर्थन मिला है। कांग्रेस के सार्वदेशिक रूप को देखते हुए, इसमें आश्चर्य नहीं कि उसे सभी पेशों का समर्थन मिला है। व्यवसायवार भी कांग्रेस को ४० प्र० श० के करीब वोट मिले हैं। परंतु सफेद पोश धंधों में, और खासकर बेरोजगार वर्ग में कांग्रेस कमजोर दीख पड़ी है। परंतु खेतिहर तथा कुशल और अकुशल मजदूर वर्गों में यह सब से ज्यादा मजबूत है।

सारणी पांच–११ से पता चलता है कि सफेदपोश तथा अन्य शहरी वर्गों में जनसंघ का काफी जोर है और गांव वालों में भी, खासकर भूस्वामी किसानों में भी इसका बल बढ़ा है। मगर शहरी और ग्रामीण दोनों प्रकार के श्रमिकों में यह बहुत कमजोर है। कम्युनिस्ट और सोशलिस्ट दलों का श्रमिकों में ज्यादा जोर है

और शहरी श्रमजीवी वर्गों में दक्षिण के मुकाबले वामपंथी कम्युनिस्टों का प्रभाव ज्यादा है। दक्षिण कम्युनिस्टों का मुख्य प्रभाव किसानों और खेत मजदूरों में है। द्र० मु० क० का भी यही हाल है।

ससोपा गरीबों और पिछड़े हुए लोगों की पार्टी जान पड़ती है। इसके ४४ प्र० श० से अधिक समर्थक खेत–मजदूर, अकुशल शहरी मजदूर और बेरोजगार लोग हैं। यह इस दल की क्रांतिकारी विचारधारा के अनुकूल है और इसने इस रूप से साझी सरकार में इसने साथी दलों को काफी परेशानी हुई है।

इन सारणियों से यह भी पता चलता है कि स्वतन्त्र पार्टी का सामाजिक आधार बहुत संकीर्ण है। इसको सब से अधिक समर्थन भूस्वामी वर्ग से मिला है और थोड़ा खेत मजदूरों से। इन खेत मजदूरों ने अपने मालिकों के प्रभाव में आ कर स्वतन्त्र दल को वोट दिये होंगे, ऐसा माना जा सकता है। प्रायः सभी दलों को देहात से वोट मिले हैं पर स्वतन्त्र और जनसंघ के समर्थक मुख्यतः अमीर किसान हैं जबकि वामपंथी दलों के समर्थक छोटे या गरीब किसान और भूमिहीन वर्ग। जनसंघ अपने प्रभाव का विस्तार साधारण लोगों में कर रहा है, जबकि स्वतन्त्र का प्रभाव अभी भी वर्ग विशेष में सीमित है। इसका एक नतीजा यह हुआ है कि इसके राष्ट्रीय नेताओं – मसानी या रंगा – तथा इसके विधायकों में संबंध अच्छे नहीं हैं।

निर्दल सदस्यों को भी अनेक वर्गों से समर्थन प्राप्त हुआ है पर स्वतन्त्रपेशा लोगों से कम छोटे दलों को भी शहरों से ही अधिकतर समर्थन मिला है, क्योंकि गांवों से वोट लेने के लिए काफी अच्छे संगठन की जरूरत होती है। अधिकांश छोटे दल किसी तात्कालिक या अस्थायी प्रश्न को लेकर खड़े होते हैं और उनका प्रभाव टिकाऊ नहीं होता फिर भी सब मिलकर वे दूसरे दलों से काफी वोट खींच ले जाते हैं।

दलों की विचारधारा

ऊपर के विश्लेषण से विभिन्न दलों के रुख और विचारधारा का मोटे तौर पर पता चलता है। यह सही है कि एक कृषिप्रधान देश में दक्षिण, वाम और मध्य शब्दों का उतना महत्व नहीं जितना उद्योगप्रधान देश में। इसका प्रमाण यह है कि कम्युनिस्ट पार्टी ऐसे वाम दल को अधिक समर्थन भूस्वामी किसानों से मिला और सं० सो० पा० जैसे क्रांतिकारी दल का भाषा के प्रश्न पर जो रुख है, वह दक्षिण पंथी दलों से मिलता है। द्र० मु० क० की शुरुआत प्रांतीयवादी और उत्तर विरोधी दल के रूप में हुई थी किन्तु इसने अनेक मामलों में समाजवादी नीति को अपनाया है। इसके अलावा जैसा हम पहले कह चुके हैं इन दलों के स्थानीय और राज्य सरकारों में भाग लेने के कारण सरकारी कार्यक्रम और नीतियों के मामले पर

सत्ताधारी कांग्रेस दल से इनका मतैक्य भी हुआ है। फिर भी अपने समर्थकों और नेताओं की सामाजिक स्थिति की भिन्नता के अनुसार इन दलों में स्पष्ट भेद दिखाई देता है।

ऊपर के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि अपनी विचारधारा और समर्थकों की सामाजिक स्थिति, दोनों के अनुसार स्वतंत्र पार्टी दक्षिणपंथी पार्टी है। यह आर्थिक नीति में निजी या गैरसरकारी उद्योग का समर्थन करती है, पश्चिमी लोकतंत्री शक्तियों से घनिष्ठ संबंध रखना चाहती है और उदार या लिबरल राजनीति के पक्ष में है। इसका समर्थन बहुत ही छोटे वर्ग, भूस्वामी और उद्योगपतियों में है। जनसंघ हिंदुओं और शहर के छोटे दूकानदारों और व्यापारियों का दल माना जाता है और इस रूप में दक्षिणपंथी है, किंतु यह अखिल भारतीय दल बनना चाहता है और इसलिए यह दक्षिण के राज्यों में और उत्तर में मुसलमानों में भी प्रवेश करने की कोशिश कर रहा है तथा उत्तरप्रदेश के गांवों में इसे काफी समर्थन भी प्राप्त हुआ है। ऐसा लगता है कि आगे चलकर जनसंघ कांग्रेस के मुकाबले अधिक दक्षिण नहीं होगा और इसका कार्यक्रम भी उससे अधिक भिन्न न होगा तथा अनेक राज्यों में यह कांग्रेस का स्थान लेने में सक्षम हो सकेगा। इसी प्रकार द्रमुक, अकाली दल और अन्य ऐसे प्रादेशिक दलों को भी दक्षिण वाम की परिभाषा में फिट करना कठिन होगा। फिर भी यह महत्त्व की बात है कि गैर कांग्रेसी दलों में सबसे अधिक सफलता दोनों कम्युनिस्ट दलों को ही प्राप्त हुई है। उन्होंने श्रमिक वर्ग, बढ़ते हुए निम्न मध्यम वर्ग और शहरी बेरोजगारों में तथा गांवों में छोटे और भूमिहीन किसानों में अपना स्थायी प्रभाव स्थापित किया है। इनकी मुख्य समस्या यह है कि इनका मुख्य प्रभाव कुछ ही राज्यों में है – जैसे, बंगाल केरल और आंध्र प्रदेश में। बिहार के औद्योगिक क्षेत्रों में भी इनका कुछ प्रभाव है। हो सकता है कि उद्योगों के विस्तार के साथ साथ उनकी शक्ति और कुछ राज्यों में भी बढ़े, बशर्ते वे अपनी आपसी फूट दूर कर सकें, अपने कार्यक्रम को अधिक स्वीकार्य बना सकें और वे दूसरे वाम पंथी दलों के समर्थकों को अपनी ओर खींच सकें। इस क्रम में हो सकता है कि वे कांग्रेस के ज्यादा निकट आवें और उसके वामपंथी कार्यक्रम को स्वीकार कर लें और इस प्रकार देश में वाम पक्ष का बल बढ़ाएं।[५१]

हितों या वर्गों का संगठन

जब हम विभिन्न आर्थिक वर्गों और हितों के संगठन और उनकी राजनीति पर विचार करते हैं तो हम स्थिति पश्चिमी देशों से भिन्न पाते हैं।

---

५१ कम्युनिस्टों के खिलाफ 'दूसरे देशों के प्रति निष्ठा' का आरोप बड़ा मूल्यतापूर्ण है। इस आरोप का आधार बड़ा कमजोर है। लेकिन सैद्धांतिक प्रश्नों पर अन्य वाद-विवाद करके कम्युनिस्टों ने स्वयं इस आरोप का मौका दिया है।

(१) जैसा कि पहले कहा जा चुका है राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक विकास का मुख्य माध्यम यहां सरकार रही है, इसलिए सबसे महत्त्वपूर्ण या प्रमुख हितों का प्रतिनिधित्व राजनीतिक दलों, सरकारी नौकरियों और सरकारी पार्टी के विभिन्न गुटों के द्वारा हुआ है। वस्तुत इस देश में इतने अधिक और विविध प्रकार के हित और वर्ग हैं कि उनकी अभिव्यक्ति विभिन्न दलों और उनके क्षेत्रीय व स्थानीय गुटों के द्वारा ही हो सकी है। इन दलों का आधार चाहे व्यापक हो या सीमित, फिर भी विभिन्न वर्गों का राजनैतिक प्रतिनिधित्व इन्हीं दलों के द्वारा होता है अलग संगठनों के द्वारा नहीं।

(२) इसका एक नतीजा यह है कि इन वर्गों का संगठन स्वतंत्र और अलग अलग नहीं बल्कि राजनैतिक दलों के गठजोड़ों की तरह मिलाजुला होता है। यद्यपि हितों या व्यवसायों के प्रादेशिक और सार्वदेशिक संघ और संस्थाएँ भी हैं, किंतु राजनीतिक स्तर पर वे मिलेजुले संगठनों या दलों में शामिल होते हैं। वाणिज्य संघों मजदूर संघों या अध्यापक संघों आदि की राष्ट्रीय संस्थाएँ भी हैं, किंतु राष्ट्रीय राजनीति में वे कारगर नहीं, उनके सदस्य भी विभिन्न राजनैतिक दलों में ही शामिल होते हैं।

(३) वर्गों या हितों की इस मिलावट में पुराने पारिवारिक और रिश्तेदारी या बिरादरी के संबंधों का भी हाथ रहा है। जब कि अधिकांश नए देशों में व्यापार और उद्योग पर परदेशियों का कब्जा रहा है, भारत में इनका विकास परंपरागत व्यापारी परिवारों और समूहों के द्वारा ही हुआ है। इन परिवारों ने अपनी पुश्तैनी व्यापारी प्रतिभा को आधुनिक व्यापार-उद्योग में लगाया है। मैनेजिंग एजेंसी की प्रणाली के द्वारा आधुनिक व्यापार व उद्योग पर इन्हीं पुराने व्यापारी परि वर्गों का कब्जा रहा है, इस कारण यहां पश्चिमी देशों जैसे पूंजीपति या उद्योगी वर्ग का विकास नहीं हो पाया।[५२]

ट्रेड यूनियनों का अध्ययन करने पर इनमें भी पुरानी पारिवारिक और जाति-बिरादरी की भावना काम करती दिखाई देती है। यद्यपि आधुनिक ढंग के सर्वहारा और पूंजीपति वर्ग के संघर्ष का विचार यहां भी उदय हुआ है, फिर भी पश्चिमी देशों के ढांचे पर अलग वर्ग या शक्ति के रूप में इनका संगठन अभी नहीं हुआ है। इसी तरह राजनैतिक दलों ने भी अभी वर्ग विशेष का स्वरूप नहीं ग्रहण किया है। पश्चिम के विपरीत यहां बालिग मताधिकार और राजनैतिक अधिकार शुरू में ही दे दिए गए, इससे हर वर्ग और हित को राजनैतिक व्यवस्था में स्थान

५२ देखिए-हेलेन बी लेम्ब 'द इंडियन बिजिनेस कम्युनिटी ऐंड द एवोल्यूशन आफ ऐन इंडस्ट्रियल क्लास' पैसिफिक अफेयर्स २७, सं २, जून १९५५ और वर्नार्ड ई ब्राउन 'आर्गनाइज्ड बिजिनेस इन इंडियन पालिटिक्स' द इंडियन जर्नल आफ पोलि साइंस २३-२ अप्रैल-जून, १९६२।

मिल गया और भारतीय राजनीति का स्वरूप एकवर्गी न होकर अनेकवर्गी हो गया।

(४) मुख्य बात यह है कि भारत मे वर्ग या हित का सगठन आर्थिक या सामाजिक आधार पर न होकर पुरानी जाति-पाति के आधार पर हुआ है।

(५) स्मरण रहे कि यहाँ सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन की प्रेरक सरकार है, इसलिए यहा आर्थिक और सामाजिक हितो की अभिव्यक्ति राजनैतिक दलो और सरकारी तत्र के जरिए हुई, अलग सस्था या सघटनो के द्वारा नही। दूसरे, वर्ग विशेष या हित विशेष के सगठनो को राजनैतिक महत्त्व नही दिया जाता और राजनीति में उनका भाग लेना भी पसद नही किया जाता। व्यापार या उद्योग और किसान सघ, यहाँ तक कि मजदूर सघो से भी राजनैतिक मोलभाव या समझौता करने को उचित नही समझा जाता। यदि इन वर्ग विशेष के सगठनो को राजनीति में भाग लेना हो तो वे राजनैतिक दलो के जरिये ले, स्वतत्र रूप से नही। तीसरे, परिवर्तन और आधुनिकीकरण का माध्यम सरकार है, इसलिए विभिन्न हित या वर्ग राजनैतिक दलो या गुटो के जरिए ही सरकार को प्रभावित कर सकते है। इसका यह अर्थ नही कि सरकार या राजनैतिक दल से विभिन्न वर्गों का सबध स्थापित करने वाली मध्यस्थ सस्थाओ का यहा कोई स्थान नही। उलटे ऐसी सस्थाओ की बहुत बडी सख्या है। मगर ये सब राजनैतिक ढग से काम करती है। पश्चिम की भाति वर्ग या सगठन के ढग से नही (इसीलिए जहाँ पश्चिम में राजनैतिक मागो के लिए आर्थिक कार्रवाई या हडताल की जाती है वहा भारत में आर्थिक शिकायतें व मागें राजनैतिक हडताल या प्रदर्शनो के जरिए प्रकट की जाती हैं।)[५३]

(६) इससे नुकसान भी होता है। क्योकि आर्थिक मागो को तभी माना जाता है जब वे राजनैतिक ढग से उठायी जाए, इस कारण ये आदोलन उग्र और हिंसात्मक रूप ले लेते है। जिन हितो को कोई राजनैतिक दल उठाने को तैयार नही होता, वे प्रत्यक्ष कार्रवाई और उपद्रव करने लगते है। यह खुला प्रश्न है कि सरकार के लिए अधिक सुभीता इसमें है कि कभी कभी उपद्रव हो जाए, या इसमे कि वर्ग सगठनो का बल बढे और वे सरकार से सौदा करें और उसे अपनी माग मानने को बाध्य करें और इस प्रकार उस पर स्थाई बोझ बढाएँ।[५४] लगता है कि भारत में पहले ही रास्ते को कम अनिष्ट कर समझा जाता है।

विरोध का स्थान

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, भारत की राजनीति में विरोध के आदोलनो का एक खास स्थान है। यह विरोधी ससद या विधान सभा आदि के जरिये नही

५३ राल्फ जेम्स, 'पालिटिक्स ऐंड ट्रेड यूनियन्स इन इन्डिया' फार ईस्टर्न सर्वे २७, न ३, मार्च १९५८।

४ देखिए मायरन वीनर – 'द पालिटिक्स आफ स्केयार्सिटी, पब्लिक प्रेशर ऐंड पोलिटिकल रेस्पान्स इन इंडिया' (शिकागो, १९६२)।

सीधे आदोलन अर्थात् हडताल, प्रदशन, भूख हडताल, बद, घेराव, धरनो आदि का रूप ले लेता ह। इनमें से अनेक स्वतन्त्रता आदोलन के युग की विरासत ह। ये आदालन कभी राज्य सरकार के विरोध में होते हैं तो कभी केद्र सरकार के और कभी किसी विशेष अधिकारी या प्रबधक वग के विरुद्ध। इनका आधार कोई खास शिकायत हाती है, जैसे राशन पूरा न मिलना, कम मजदूरी या सरकारी दफतर, कारखाना या कालेजो में काम की खराब स्थिति आदि। अक्सर वे अपने आप शुरू हो जात ह फिर इनको छात्र सघ, ट्रेड युनियन, राजनतिक दल और कभी कभी स्थानीय और राज्य सरकारा का भी समथन मिल जाता है। इसका एक नाटकीय उदाहरण प्रधानमत्री की कोठी पर केरल के कम्युनिस्ट मन्त्रियो का धरना था। अधिकाश ये आदोलन काग्रेस सरकार के विरुद्ध होते हैं, यद्यपि काग्रेस ने भी भिन्न दलो की सरकारो के खिलाफ इस प्रकार के आदोलन चलाए हैं और प्रमुख काग्रेसिया ने इनको उचित बताया है। ५५

ऐसे प्रदशना या आदोलना को यहा अनुचित नही समझा जाता। यद्यपि जब ऐसे आदोलन उग्र या हिंसात्मक रूप लेने लगते हैं तब बगाल और केरल की वामपथी कम्युनिस्ट सरकारें भी इन के विरुद्ध कारवाई करने में नही हिचकिचाती मगर अपेक्षा यह की जाती है कि इनके खिलाफ ज्यादा कडाई न बरती जाए और जहा ऐसा होता ह, वहा पुलिस व अधिकारिया की कडी निंदा की जाती है और अक्सर इन की अदालती या मजिस्ट्रेटी जाच कराई जाती है। यह साधारणत स्वीकार किया जाता है कि स्वतत्र देश मे इस प्रकार के प्रदशना व आदोलन का स्थान है और इनको दवाने या सभालने में सयम से काम लिया जाना चाहिए।५६ इन आदोलना का कडाई से दमन किया जाए ऐसा कहने वाले लोग कम है।

---

५५ सी सुब्रह्मण्यम, अध्यक्ष तमिलनाडु काग्रेस कमेटी ने द्रमुक सरकार के विरुद्ध १० ००० आदमियों के प्रदर्शन का नेतृत्व किया था। उन्होंने इस आधार पर इसे उचित बताया था कि इसमे जनता को अपना शिकायतों को दूर कराने के लिए आदोलन करने का शिक्षा मिलती है। उनका कहना था कि अमेरिका जैसे उन्नत देश में रेडियो टी वी जसे प्रचार के जबदस्त साधन है, किंतु भारत में जलूस आर प्रदशन हा सामूहिक अभिव्यक्ति के उपाय हैं। हिंदू वीकली रिव्यू, अगस्त १२, ६८।

५६ भारत में पुलिस को नागरिक जिम्मेदारी की शिक्षा देनी जरूरी है। दूसरे राजनैतिक आदोलनों और गुप्त तत्वों के कारण उस पर भारा दायित्व भी आ गया है। पुलिस में भी इससे क्षोभ हुआ है और उन्होंने भी आदोलन और हडताल का सहारा लिया है। सन १९६९ के अगस्त में पश्चिम बगाल सरकार की कुछ कारवाई से क्षुब्ध होकर पुलिस वालों ने विधान सभा पर हमला कर दिया था। सब मिला कर पुलिस ने दगा फिसाद के अवसरों पर काफी धरिज से काम लिया है, परतु उनकी भी कुछ शिकायतें हैं जिन पर ध्यान न दिये जाने पर उन्होंने विरोध प्रदर्शन किया है। भारताय पुलिस व्यवस्था का बहुत अच्छा अध्ययन डेविड एच बेली ने अपनी पुस्तक 'द पुलिस ऐंड पोलि डेवलपमेंट इन इडिया (प्रिंसटन १९६९) में किया ह।

ये आंदोलन बहुत खतरनाक रूप नहीं ले पाते इसके कई कारण हैं। एक तो देश इतना बड़ा है कि सारे देश में उग्र आंदोलन संगठित करना कठिन है। दूसरे सरकार के हाथ में इतनी शक्ति है कि वह इन को काबू से बाहर न होने दे (सरकार इनको रोकना न चाहे, जैसे बंगाल में १९६७ और बाद में १९६९ में हुआ, तो बात और है)। तीसरे, देश के लोग आम तौर पर हिंसा को पसंद नहीं करते। इस कारण जो दल या नेता हर बात पर आंदोलन छेड़ दिया करते हैं, उनसे लोग विरक्त हो जाते हैं। फिर भी घेराव, बंद या धरने भारतीय राजनीति से बहिष्कृत नहीं किए जा सकते।

कांग्रेस के असंतुष्ट वर्ग और भिन्न राजनैतिक दलों के भी सत्ता में आने से और खास शिकायतों या मसलों को लेकर आंदोलन होने से कांग्रेस पर भी बड़ा दबाव पड़ा और इसका एक नतीजा यह हुआ कि राजनीति में वास्तविक प्रश्नों पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। नेहरूजी के जमाने में हवाई बातें ज्यादा होती थीं और आयोजन को जादू की छड़ी समझा जाता था, मगर एक ओर कांग्रेस के अंदर और बाहर विरोध बढ़ा और दूसरी ओर आर्थिक और विशेषकर कृषि के क्षेत्र में सरकार का काम असंतोषजनक रहा। इस के साथ ही देश की राजनीति में गांव के लोगों का जोर बढ़ा और उन में से नए नेता सामने आए। इन सब बातों के कारण सरकार से कुछ ठोस काम कर दिखाने की मांग बढ़ी, और सत्तारूढ़ नेताओं को भी डर हुआ कि असंतोषजनक काम न करने का नतीजा चुनाव के समय भुगतना पड़ेगा। इसलिए अब सरकार के काम पर ज्यादा कड़ी नजर रखी जाने लगी है।[५७]

बौद्धिक वर्ग में शंका

जिस प्रकार संयुक्त सरकारें टूटती रही हैं और दल बदल की प्रवृत्ति बढ़ी है तथा सरकार की कथनी और करनी में जितना अंतर है और जनता के असंतोष को दबाने के लिए सरकार को जिस प्रकार दमनकारी कारवाई करनी पड़ी है इसको देखकर देश के कुछ बौद्धिक वर्गों को यह शंका होने लगी है कि बालिग मताधिकार पर आधारित लोकतंत्र की यह प्रणाली देश की आर्थिक समस्या सुलझाने और एकता कायम रखने में समर्थ हो सकेगी या नहीं। अभी ऐसे लोग कम हैं, जो लोकतंत्र को हटाकर सैनिक शासन स्थापित होने का स्वागत करें। मगर कुछ लोग इस के पक्ष में हैं कि वर्तमान मंत्रिमंडली शासन प्रणाली के बजाय अमेरिका या फ्रांस जैसी राष्ट्रपति शासन की प्रणाली देश के लिए ज्यादा उपयोगी होगी। कुछ लोग पश्चिमी ढंग की प्रणाली और पार्टी या दल प्रणाली से बहुत विरक्त हो गए हैं। देश में हमेशा से एक उच्च शिक्षित, स्वतंत्रता प्रेमी वर्ग रहा है जो यह

---

५७ देखिए - अध्याय ९।

कहता है कि सरकार के वजाय प्रतिभाशाली निदल या दलबदी से अलग व्यक्तियो की सरकार होनी चाहिए। दूसरा वर्ग है जो जनता का सीधा शासन चाहता है। वास्तव में इन विचारो के पीछे गदी राजनीतिक दलबदी से विरक्त और शुद्ध, ईमानदार शासन की इच्छा है। इस प्रकार की वात करने वाले बडे आदर्शवादी और सम्मानित व्यक्ति हैं, किन्तु न तो उनके पीछे कोई सगठन है, न उनका कोई राजनैतिक प्रभाव है। ५८

देश में राजनैतिक विरोध और आलोचना करने वालो का बहुत बडा दल है। किंतु वे सगठित नही है। वे वतमान प्रणाली की टीका-टिप्पणी करते है, किंतु कोई विकल्प नही प्रस्तुत करते। वे या तो सरकारी या सरकार-विरोधी दलो मे शामिल होते हैं और अपने विचारो और आलोचनाओ से उन्हे प्रभावित करते हैं और उन्हे अपनी रीति-नीति सुधारने को प्रेरित करते हैं। इस से नुकसान यह होता है कि विरोध और असतोष दलो या प्रतिनिधि सस्थाओ के माध्यम से न प्रकट होकर कभी कभी गडबडी और अस्थिरता पैदा कर देता है। दूसरी ओर लाभ यह है कि राजनीति में नए तत्त्व और नए रक्त के लिए रास्ता खुला रहता है, व्यवस्था म ग्रहणशीलता बनी रहती है और राजनीति बहुत गरम नहीं होने पाती। मूल प्रश्न यह है कि जसे जैसे अब तक उपेक्षित या व्यवस्था के बाहर रहे वर्ग राजनीति मे प्रवेश करते है और सरकार का साबिका ठोस समस्याओ से पडता है वस वसे वतमान प्रणाली नए वर्गो को अपने म खपा सकेगी और उनकी निष्ठा प्राप्त कर सकेगी या राजनैतिक ध्रुवीकरण और वर्ग सघर्ष तीव्र होगा।

---

५८ इनमे सब मे सम्मानित पुराने क्रातिकारी और समाजवादी नेता जयप्रकाश नारायण हैं जो अब 'सर्वोदय' विचारधारा के समर्थक हो गए हैं और ग्रामस्वराज पर आधारित लोकतत्र चाहते हैं। जयप्रकाश बाबू ने नागालैंड कश्मीर और भारत पाक विवादों म मध्यस्थता की भी कोशिश की। उनके विचार उनकी पुस्तक 'ए प्ली फार रिकन्स्ट्रक्शन आफ इडियन पालिटि' में देखे।

सामाजिक ढाचा

हमने देखा कि भारतीय लोकतत्री प्रणाली का प्रादुर्भाव समाज के आधुनिकतावादी प्रभाग में हुआ और यही से विकसित होकर जनसाधारण में विस्तृत हुआ। देखना यह है कि यह प्रणाली किस प्रकार परपरागत समाज में जड पकडती है। इस समाज की जडें उस पुरानी सभ्यता में है, जिसमें विविध और विभिन्न तत्त्वो, वर्गों और जातियों का समावेश हुआ है और इसके आचार-विचार और मूल्यो की अपनी परपरा है। दूसरी ओर ससदीय शासन, तथा सत्तारूढ और विरोधी दलो का द्वद्व आधुनिक युग की चीजें है। इन दोनो का मेल कैसे होगा ? यह ऊपर से थोपी हुई विदेशी और विजातीय व्यवस्था है, या दोनो में समन्वय के आसार दिखाई पड रहे हैं ? सबसे बडा प्रश्न यह है कि इस नई राजनीतिक प्रणाली और परपरागत जाति प्रथा की एक दूसरे पर क्या क्रिया–प्रतिक्रिया हुई है ? इस विषय पर विस्तार से विचार करना जरूरी है।[1]

प्रचलित धारणाए

जाति और राजनीति विषय पर विचार करते समय अक्सर यह प्रश्न पूछा जाता है कि क्या जाति प्रथा खतम हो रही है ? इस प्रश्न के पीछे यह धारणा है कि जाति और राजनीति परस्पर विरोधी सस्थाए है। ज्यादा सही सवाल यह होगा कि जाति-प्रथा पर राजनीति का क्या प्रभाव पड रहा है और जातिपाति वाले समाज मे राजनीति क्या रूप ले रही है। जो लोग राजनीति मे जातिवाद की शिकायत करते हैं वे न तो राजनीति के प्रकृत स्वरूप को ठीक समझ पाए है न जाति के स्वरूप को (कुछ लोग जाति–प्रथा और राजनीति दोनो को खतम करना चाहते है)। राजनीति की प्रक्रिया से प्रचलित सस्थाओ के जरिये जनता का समर्थन या स्वीकृति प्राप्त करने की कोशिश की जाती है। चूकि देश की जनता जातियो

१ इस अध्याय का प्रारम्भिक रूप रजनी कोठारी के लेख 'कास्ट इन इडियन पालिटिक्स' (नई दिल्ली – १९६९) की भूमिका के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

मे सगठित है, इसलिए राजनीति को जाति-सस्था का उपयोग करना ही पडेगा। अत राजनीति मे जातिवाद का अर्थ जाति का राजनीतिकीकरण मात्र है। जाति को अपने दायरे में खीचकर राजनीति उसे अपने काम में लाने का प्रयत्न करती है। दूसरी ओर राजनीति के द्वारा जाति या बिरादरी को देश की व्यवस्था मे भाग लेने का मौका मिलता है। राजनैतिक सगठन और जातीय सगठन दोनो के असली पात्र वे लोग हैं जो सत्ता और अधिकार चाहते हैं। राजनैतिक नेता सत्ता प्राप्त करने के लिए जातीय सगठनो का उपयोग करते हैं। जातियो के रूप में उनको बना बनाया सगठन मिल जाता है जिससे राजनैतिक सगठन में आसानी होती है। जहा और प्रकार के समूह हैं वहा राजनैतिक लोग उनका भी उपयोग करते हैं और इस क्रम मे वे पुराने सगठन या सस्थाओ को नया रूप देते हैं। इसी प्रकार जाति सस्था का भी रूप बदल रहा है।

सामाजिक और राजनीतिक विचारको का एक वर्ग है जो राजनीति को ऐसा अस्त्र या साधन मानता है जिसके जरिये कोई वर्ग या जाति अपनी प्रधानता और शक्ति को कायम रखने का प्रयत्न करता है।[२] वह यह भूल जाता है कि राजनैतिक शक्ति या प्रक्रिया के द्वारा भी आर्थिक और सामाजिक ढाचे को बदला जा सकता है। ये विचारक अपनी एक धारणा बना लेते हैं और राजनैतिक व आर्थिक प्रवृत्तियो के घात-प्रतिघात से होने वाले परिवर्तनो की उपेक्षा कर देते हैं। जहा जाति स्वय एक राजनैतिक तत्त्व का रूप धारण कर लेती है वहा यह प्रश्न बेकार हो जाता है कि जाति राजनीति का उपयोग (अपनी प्रधानता बनाए रखने का) कर रही है या राजनीति जाति का उपयोग कर रही है।

दूसरी ओर कुछ ऐसे विचारक हैं जो जाति-सस्था के बारे में कोई दुराग्रह नही रखते, किंतु वे भी राजनीति के द्वारा जाति-सस्था के कायापलट होने की बात करते हैं। एक अमरिकन विचारक ने इसे जाति का लोकतन्त्री अवतार कहा है।[३] ये सब विचारक जाति और राजनीति को परस्पर विरोधी तत्त्वो के रूप में देखते

२ केवल भारत और पश्चिम के मार्क्सवादी शास्त्री ही नहीं यद्यपि सोवि रूस, चीन और पूर्वी यूरोप के कम्युनिस्ट राजनीति के बारे में यह गलत धारणा नहीं रखते, अमेरिका के कुछ समाजशास्त्री भी यहा सोचते हैं। यथा बैरिंगटन मूर जूनि – सोशल ओरिजिन आफ डिक्टेटर शिप ऐंड डेमाक्रसी' (बोस्टन १९६७)। भारत में राजनीति को वर्ग या जाति की प्रतिछाया मानने वाले विचारकों में मुख्य हैं – ए आर देसाई – सोशल बैकग्राउंड आफ इंडियन नेशनलिज्म।

३ लायड अ इ रुडाल्फ –'द मार्डर्निटी आफ ट्रैडीशन – द डेमोक्रेटिक इनकारनेशन आफ कास्ट इन इंडिया' – द अमे पोलि सायंस रिव्यू-दिस १९६५। जाति और स्वेच्छा सस्थाओं के विरोधी स्वरूपों की ओर इंगित लायड रुडाल्फ और सूसन हेबर रुडाल्फ ने इससे पहले अपने निबंध 'द पोलिटिकल रोल आफ इंडियाज कास्ट असोसिएशन्स – पैसि अफेयर्स जिल्द ३३ स १, मार्च १९६० में किया था। इन लेखकों का विश्लेषण अन्य विचारकों से ज्यादा सही है। हमारा कहना यही है कि उन्होंने अतिशयोक्ति की है।

है। व यह नहीं समझ पाते कि यहा राजनीति और जाति में पूरा ध्रुवीकरण कभी नहीं हुआ और भारत में जो परिवतन हो रहा है, उसका यह अथ नही है कि नई लाकतत्री प्रणाली के रूप में पुरानी जाति-प्रथा और ऊची जातिया की प्रधानता और नीची जातिया की अधीनता का ढाचा ही कायम है अथवा पुरानी जाति-प्रथा का स्थान नई राजनतिक प्रणाली ने ले लिया है। जाति-प्रथा और ऊँच-नीच की धारणा में कुछ परिवतन हुआ है, जैसे अब जाति की ऊचाई या निचाई छुआछूत के ऊपर उतनी निभर नही रही और पुरानी जजमानी प्रथा भी टूट रही है, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि इससे जाति की प्रथा टूट रही ह। कवल सामाजिक विचारा में कुछ परिवर्तन हुआ है।

जाति का राजनीति स क्या सबध है, इस विषय पर विचार करते समय हम इस बात पर ध्यान देंगे कि राजनैतिक काय में इसका कितना और किस प्रकार हाथ है न कि इस बात पर कि राजनैतिक काय में भाग लेने से जाति प्रथा में क्या परिवतन हुए हैं। यद्यपि इस प्रश्न की हम बिलकुल उपेक्षा भी नही कर सकते, क्योंकि राजनैतिक उद्देश्या से जातिया के सघ आदि कायम हुए हैं, और इस प्रकार राजनीति ने उनके ढाचे को प्रभावित किया ह।

जाति का राजनैतिक रूप

हमें जातिप्रथा के तीन रूपा पर ध्यान देना ह। एक ह इसका लौकिक रूप। जातिप्रथा की कुछ बाता पर सबका ध्यान गया ह – जैसे जाति के अदर विवाह, छुआछूत और रीतिरिवाजा के द्वारा जाति की पृथक इकाई को कायम रखने का प्रयत्न। लेकिन इस बात की उपेक्षा कर दी जाती है कि जातिया मे आपस मे प्रतिद्वद्विता भी रहती है और वे लगातार अपनी प्रतिष्ठा और पद बढाने का भी प्रयत्न करती रहती है।

जाति के लौकिक सगठन के दो रूप थे – एक शासकीय रूप यानी जाति की और गाव की पचायत आर चौधराहट। दूसरा रूप राजनैतिक था यानी जाति की आतरिक गुटबदी और अन्य जातिया से गठजोड और प्रतिद्वद्विता। इन सगठना का बलवधन या बलह्रास इस बात पर निभर था कि स्थानीय नेताओं के समाज की केन्द्रस्थ सत्ता से किस प्रकार के सबध थे। धम, व्यवसाय और प्रदेश के आधार पर जातियो की स्थिति बनती या बिगडती थी। अब भी इन बाता का महत्त्व है, यद्यपि सदभ बदल गया है। जाति या सप्रदाय को किसी राजा से सबध रखना पडता था आर स्थानीय मामलो का प्रबध जाति या गाव की पचायत स्वय करती थी। अब राजा के स्थान पर राष्ट्रीय सरकार है और जातीय पचायता के बजाय स्थानीय और प्रातीय विधायक सभाए है। यह परिवतन एकदम से नही बल्कि क्रमश हुआ है।

अनेक स्थानो में पहले ब्राह्मणो ने अगरेजी शिक्षा को अपनाया और नई प्रशासनिक और राजनैतिक व्यवस्था से लाभ उठाया। धीमे धीमे शिक्षा का और वाट का प्रसार और लोगो म भी हुआ। कुछ प्रदेशा मे ब्राह्मणा के बजाय अन्य जातिया, मुख्यत जमींदार और बडे किसान वर्ग प्रबल थे और नई राजनैतिक व्यवस्था का लाभ उन्होंने उठाया और उनके जरिये अन्य लोगों में उसका प्रसार हुआ। इसलिए देश की राजनीति पर किसी एक जाति का प्राधान्य नहीं हो सका।[४] कुछ प्रदेशा में जैसे गुजरात और मारवाड में जैन, वष्णव जैसे सप्रदायों के हाथ में आर्थिक शक्ति थी, इसलिए नई व्यवस्था को पहले इन्होंने ग्रहण किया।

अग्रेजी शासन के पहले भी जातियो के नए सबध या जोड बनते थे और अपेक्षाकृत नीची जातिया अपना व्यवसाय या स्थान बदलती थीं और ऊची जातिया में मिल जाया करती थीं। इसका एक जरिया था अनुलोम विवाह यानी नीची जाति या कुल की कन्या का अपने से ऊची जाति में विवाह। उदाहरण के लिए सौराष्ट्र की पशुपालक जाति गुजरात में आ कर खेती करने वाली कुनबी जाति बन गई और अपनी लडकी अपने से ऊची पाटीदार जाति में देने लगी। इस सबध से उसका पद भी बढा। इसी तरह सौराष्ट्र की माची जाति गुजरात में आकर दर्जी जाति बन गई। एक और उदाहरण है, महाराष्ट्र की देशमुख जाति का, जो मालगुजारी की वसूली और भूमि व्यवस्था से सबधित होने के कारण अन्य मराठा जातिया स कुछ ऊची हो गई। इस प्रकार नई उपजातिया के जन्म और अनुलोम विवाह की प्रथा के कारण जातियो के ढाचे मे परिवतन होते रहे। इससे एक ओर नई जातिया की सख्या बढी तो दूसरी ओर जातियो का तीक्ष्ण अतर कम हुआ। अनुलोम–प्रतिलोम विवाह के आधार पर जातियो की तुलनात्मक ऊचाई–निचाई निर्धारित होती रही और इससे बाद में राजनीतिक और लौकिक क्षेत्र में जातियो के परस्पर सबध बनने और सगठन कायम होने में मदद मिली।

जाति का दूसरा पहलू व्यक्ति को समाज से बाधने का है। जातिप्रथा न केवल जन्म के साथ ही प्रत्येक व्यक्ति का समाज में स्थान नियत कर देती है इससे ऊचे से ऊचे से लेकर नीचे से नीचे व्यक्ति का अपने समाज मे लगाव पैदा हो जाता है और वह आपस में भी एक दूसरे से बधा रहता है। अवश्य ही व्यक्ति का लगाव और निष्ठा अपने छोटे स समूह, बिरादरी या जाति से रहती है। बडी निष्ठाओ की प्रेरणा भी उस जाति के ढाचे से ही होती है। जातिप्रथा पर लोकतत्री राष्ट्र निर्माण के प्रभाव को *समझने के लिए उपयुक्त बात को ध्यान में रखना चाहिए।* लोकतत्र के अदर विभिन्न समूहो में शक्ति के लिए प्रतिद्वद्विता होती है, साथ ही

४ देखिये—कोठारी सपादित – 'कास्ट इन इडियन पालिटिक्स' में कैरोलान इलियट का आध्रप्रदेश के कम्मा और रेड्डा जातियों पर निबध।

५ देखिए—इरावती कर्वे— हिंदू सोसाइटी-एन इटरप्रेटेशन' (पूना, दकन कालेज, १९६१)।

या संस्कृतीकरण की है और दूसरी पाश्चात्यीकरण और लौकिकीकरण की।[7] आर्थिक उन्नति, राजनैतिक एकता और बुद्धिवाद की सार्वजनीन प्रवृत्तियों के प्रभाव से अक्सर अब्राह्मण जातियां ब्राह्मणों की नकल करने की प्रवृत्ति या छोड़ देती हैं और अन्य अब्राह्मण जातियों से मिलकर राजनैतिक व सामाजिक अधिकार प्राप्त करने और अपनी स्थिति सुधारने की चेष्टा करती हैं। इसके अलावा कभी कभी कोई जाति अपनी उच्चता सिद्ध करने के लिए अपना संबंध पौराणिक पुरुषों से जोड़ने का प्रयत्न करती है जैसे गुजरात के पाटीदार, बंगाल के माहिष्य और राजस्थान आदि के जाट। कुछ इलाकों में जहां ब्राह्मणों ने आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का नेतृत्व नहीं किया, अधिकार सीधे कुछ शक्तिशाली कृषक जातियों के हाथ में आए। इसलिए यहां ब्राह्मणीकरण या अब्राह्मणवाद की जरूरत नहीं पड़ी और ये जातियां सीधे आधुनिक राजनीति में भाग लेने लगीं और इस प्रकार इन्होंने समाज में भी उच्च स्थिति प्राप्त की। आंध्र प्रदेश और बिहार इसके उदाहरण हैं। यहां राजनीति जातियों की गुटबंदी या गठजोड़ पर आधारित है।

संस्कृतीकरण की प्रवृत्ति कुछ सामाजिक तनाव और अस्थिरता भी उत्पन्न करती है। जैसे यहूदी और निग्रो गोरे या यूरोपीय लोगों की नकल करते हुए भी मन में उनके प्रति विरोध ईर्ष्या या नफरत का भाव रखते हैं, उसी प्रकार छोटी जातियां भी ब्राह्मणों के प्रति रखती हैं। दूसरे, जब तक उनका उच्च पद का दावा स्वीकार नहीं कर लिया जाता, उनकी स्थिति संदिग्ध रहती है। अक्सर ऊंची जातियों की ओर से उनका विरोध भी होता है। वास्तव में हिंदू समाज में प्रतिष्ठा की आकांक्षा बड़ी क्षोभकारी और दुखदायी सिद्ध होती है।

फिर भी छोटी या नीची जातियों के ऊपर चढ़ने की यह क्रिया जारी रहती है और यह हिंदू समाज की शक्ति की द्योतक है। ऊपर चढ़ने में सफलता सामाजिक, राजनैतिक या आर्थिक क्षेत्र में सफलता पर निर्भर होती है। वास्तव में हिंदू समाज में लौकिक शक्ति के आधार पर जातियों की स्थिति उठती और गिरती रहती है और इस प्रकार उसमें परिवर्तनशीलता बनी रहती है।

इस प्रकार जातिप्रथा की लौकिक, सामाजिक और भावनात्मक परंपरा ने इसे आधुनिक प्रभावों और परिवर्तनों को ग्रहण करने योग्य बनाया।

---

७ एम एन श्रीनिवास ने ये नाम दिए हैं। संस्कृतीकरण में छोटी जातियां सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए ब्राह्मणों के रीतिरिवाजों की नकल करने लगती हैं। देखिए—श्रीनिवास 'सोशल चेंज इन माडर्न इंडिया' (बर्कले १९६६) तथा 'द कोहेसिव रोल आफ संस्कृताइजेशन' (आसयो प्राफ, दिल्ली यूनिवर्सिटी १९६९)। लौकिकीकरण की प्रवृत्ति के अंदर संस्कृतीकरण और पाश्चात्यीकरण दोनों प्रवृत्तियां किस प्रकार दब जाती हैं, इसके लिए देखिए—'कास्ट इन इंडियन पालिटिक्स'। श्रीनिवास की पुस्तक में भी एक अध्याय लौकिकीकरण पर है।

आधुनिकता का प्रभाव

भारतीय समाज पर आधुनिकता का प्रभाव धीरे धीरे पड़ा। नई शिक्षा, सरकारी नौकरियां, बालिग मताधिकार और व्यवसाय के विस्तार का प्रभाव पुरानी जातपात वाली समाजव्यवस्था पर पड़ा। नई शासनव्यवस्था के अन्तर्गत सरकारी नौकरी, व्यापार, डाक्टरी, वकालत आदि व्यवसाय तथा प्रतिष्ठा व अधिकार के जो अवसर प्रस्तुत हुए, उनका लाभ समाज के शिक्षित और प्रमुख वर्गों ने उठाया और उनमें आधुनिकता का प्रसार हुआ। नए शासक वर्ग ने भी स्थानीय भावनाओं का आदर किया और ऊंची जातियों के प्रभाव का स्वीकार किया और उनको राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्था में भाग दिया। इस प्रकार पुराना समाज नई राजनैतिक व्यवस्था के करीब आया।

इस प्रक्रिया को तीन चरणों में बांटा जा सकता है। सबसे पहले शक्ति और प्रभाव की स्पर्धा समाज की प्रतिष्ठित या जमी हुई जातियों तक सीमित रही।[८] शुरू में नई शिक्षा का लाभ थोड़े से ऊंची बुद्धिजीवी जातियों के लोगों ने उठाया। ये जातियां परंपरा से विद्या और सम्पत्ति में अग्रणी रहीं। जहाँ नई शिक्षा और उससे प्राप्त होने वाली पदप्रतिष्ठा केवल एक जाति या उपजाति तक सीमित रही, वहां अन्य ऊंची जातियों में, जो पहले समाज में प्रतिष्ठित और प्रभावपूर्ण स्थान रखती थीं, उसके प्रति ईर्ष्या पैदा हुई। और इन ऊंची जातियों ने अधिकार और पद प्राप्त करने के लिए अपना राजनीतिक संगठन किया। इससे दो ऊंची जातियों में प्रतिद्वंद्विता खड़ी हो जाती है।[९] यह प्रतिद्वंद्विता वहां नहीं उठती जहां प्रतिष्ठित जाति अन्य सब जातियों से बहुत ऊंची होती है या जहां अन्य जातियां भी अलग अलग क्षेत्रों या स्तरों में प्रतिष्ठित रहती हैं, और इस प्रकार मिल कर शक्ति और प्रभाव का उपयोग करती हैं।

दूसरा अध्याय वह है जब पद और लाभ के आकांक्षियों की संख्या बढ़ जाती है और भिन्न जातियों में स्पर्धा के साथ साथ जाति के अंदर भी प्रतिस्पर्धी गुट बन

---

८ प्रतिष्ठित या 'जमाहु' (इन्ट्रेंच्ट) जाति शब्द का प्रयोग एम एन श्रीनिवास ने किया। यह प्रधान (डामिनेन्ट) जाति से भिन्न है। प्रधान जाति न केवल राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से ही शक्तिशाली होती है, बल्कि संख्या में भी गांव या इलाके में ज्यादा होती है। ('द डामिनेंट कास्ट इन रामपुरा' – अमेरिकन एन्थ्रोपालॉजिस्ट १९५९ फरवरी)। प्रतिष्ठित जाति ऊंची और राजनैतिक रूप से प्रभावशाली होने पर भी संख्या में थोड़ी होती है। जिन इलाकों में बहुसंख्यक कृषक जातियां प्रतिष्ठित होती हैं वहां 'प्रतिष्ठित' और 'प्रधान' का अन्तर स्पष्ट नहीं रहता।

९ मद्रास और महाराष्ट्र में ब्राह्मण-अब्राह्मण, राजस्थान में राजपूत-जाट, गुजरात में बनिया ब्राह्मण-पाटीदार, आंध्र में कम्मा-रेड्डी और केरल में एजवा-नायर द्वंद्व इसके उदाहरण हैं। इस क्रिया में अक्सर एक जाति के प्रधानता प्राप्त कर लेने पर दूसरे से उसके द्वंद्व खड़े हो जाते हैं। जैसे गुजरात में पाटीदार – क्षत्रिय द्वंद्व और महाराष्ट्र में मराठा – महार द्वंद्व। अक्सर इन द्वंद्वों के परिणामस्वरूप नए और बेढंगे गठबंधन बन जाते हैं।

जाते हैं।[10] प्रतिद्वद्वी नेताओ के पीछे गुट बन जाते हैं। इन गुटो में विभिन्न जातियो के लोग होत हैं। अपना गुट मजबूत करने के लिए उन जातिया की भी सहायता ली जाती है, जो अब तक दायरे से वाहर थी। जाति व्यवस्था की शक्ति और पद का ढाचा अब ज्यादा जटिल हो जाता है। पारम्परिक आर्थिक साहाय्य जसे अपने परिजना को काम धधा या नौकरी दिलाना या विपत्ति में महायता करना, आश्रय – आश्रित सबध तथा जातियो के सघ और महासघो का सगठन इस नई व्यवस्था के अग होते हैं।

जिन इलाका में जमीन या अय आर्थिक आधार पर कई जातिया में पहले से सबध रहता है या आश्रय–आश्रित सबध मौजूद रहते है, या अनुलोम विवाह का सबध रहता है अथवा एक वण की अनेक उपजातियो का आपस में सबध रहता है, वहा राजनीति को बना बनाया रास्ता मिल जाता है और नए जातीय सगठन बनाने की आवश्यकता उतनी नही रहती। पहले से वतमान जाति–शखलाए ज्यो की त्यो राजनीतिक क्षेत्र में आ जाती ह। दूसरी जातिया से प्रभावशाली लोगा को दल या सगठन में लेने में आसानी होती है। दूसरे शब्दा में राजनैतिक शखला को विस्तार के लिए पहले से बनी शखलाए मिल जाती हैं, या नई शृखलाए आसानी से बन जाती हैं।

नई राजनैतिक सस्थाआ की स्थापना से जातियो की गुटबदी और प्रतिद्वद्विता नए नए रूप लेती है। जिले और प्रात की राजनीति में प्रभावशाली जातिया में प्रतिद्वद्विता प्रकट होती है जैसे, आध्र में कम्मा और रेड्डी, गुजरात म पाटीदार और अनाविल, मैसूर में लिंगायत और वोक्कलिग, तथा मद्रास और बिहार की विभिन जातिया में। हर स्तर पर राजनीतिक गुटबदी और जाति या वण सबधो के कारण नए सगठन जम लेते हैं। इनके कारण नेताआ और प्रमुख व्यक्तिया का प्रभाव बढता है।

मगर शक्ति और प्रभाव की यह होड थोडी सी ऊची जातियो तक ही सीमित रही। छोटी जातिया ऊची या शक्तिशाली जातियो के प्रभाव म बनी रही। किंतु दूसरे चरण में प्रतिस्पर्धी नेताओ ने अपना गुट मजबूत करने के लिए नीची जातियो को भी राजनाति में खीचा। चुनाव में समथन प्राप्त करने के लिए इन नीची जातियो के प्रमुख लोगा को छोटे राजनैतिक पद और लाभ में कुछ हिस्सा दिया गया। जहा इस प्रकार मुखिया को इनाम और पद देकर इन जातियो का समथन प्राप्त करना सभव नही हुआ, वहा विभिन जातियो और उप-जातियो में आपसी तिस्पर्धा पैदा कर के, उनका सगठन बनाने की और उन सगठनो से मध्यस्थ या

10 यह गुटबदा जाति के अदर प्रचलित पुराना खानदानी गुटबदी से भिन्न है। यह नई गुटबदा लौकिक या राजनैतिक आर्थिक शक्ति के लिए होता ह और इसमें अनेक व्यक्तिगत गुट प्रतिस्पर्धी होते हैं।

बिचवइया द्वारा समझौता करने की कोशिश की गई। अर्थात जहा कुछ मुखिया को साथ लेने स काम चल गया, वहा जनता 'या जाति के साधारण लोगा की परवाह नही की गई। जहा यह तरकीब नही चल सकी वहा सगठन क नए तरीके निकाले गए। यह भी सभव है कि कालातर में य नवादित नेता आपस म मिल कर पुरानी जाति के नेताआ का अपदस्थ कर द। यह उनकी आर्थिक शक्ति और कुशल सगठन पर निभर ह। इस क साथ उनम राजनीतिक चेतना और ऊची जातिया द्वारा छोटी जातिया क शोषण क प्रति क्षोभ और अलग अलग जाति के बजाय वग की भावना भी होनी जरूरी ह।

यह भी कहना जरूरी ह कि राजनीति क इस सामाजिक सगठन म कुछ भिन्न प्रकार क नेतत्व और सगठन क्षमता की जरूरत ह और इस क्रम म अक्सर ऐसी स्थिति आएगी जब नए नेता पुराने नताआ को या समाज का एक वग दूसरे वग को अपदस्थ कर द। जैस राजनीति का प्रथम चरण बौद्धिक जागरण और दोहरा में सगठन का था। इस युग मे राजनीति और सावजनिक काय म ऐस लोगा की जरूरत थी, जा अगरज अधिकारिया स व्यवहार कर सक कानूनी बहस मुबाहस म पटु हा तथा विशेष उद्देश्य क लिए आदोलन करने के हेतु सावजनिक वत्ति के लोगा का सगठन कर सक। एस लाग ब्राह्मण और कायस्थ आदि जातियो मे उपलब्ध थे, जिनके पास विद्या और प्रशासन की पुरानी परपरा थी, और जिन्होने नई अगरेजी शिक्षा, कानून और विज्ञान आदि म कुशलता प्राप्त की थी। जब आदोलन का जन साधारण में प्रसार हुआ तब ऐसे नेताआ की जरूरत पडी जो सामूहिक सगठन म कुशल हो। इसलिए पुराने ब्राह्मण और कायस्थ आदि प्रशासनिक जातियो क नताआ के बजाय व्यवसायी और कृषक जातियो के नेताआ और कायकर्ताआ की सख्या बढी। ये नेता सौदा पटाने मे कुशल थे, ज्यादा व्यावहारिक थे और अपने वग या जाति के लागा का नेतत्व कर सकते थे। अपनी जातिया का सगठन करने में अक्सर ये जात्यभिमान और ऊची जातिया की प्रधानता क विरोध की भावना का सहारा लेते थे।

ये लोग राजनीति के नए व्यवसायी थे। ये पुराने ऊची जातियो के राजनीतिक नताओ से जिन का इन्हो ने अपदस्थ किया, विचारा में कम आधुनिक थे और पुरानी जातीय भावना स काम लेत थे। परतु उन म जो व्यावहारिकता, जोखिम उठाने की प्रवत्ति, सगठनपटुता और आधुनिक शिल्प या टेकनीक और सगठन की प्रवत्ति थी। वह उनकी जातिगत विशेषता थी न कि नई सस्कृति या राजनीति से उधार ली गई थी। एक बार जब यह नया सामाजिक वग और नई राजनतिक और सगठनात्मक कुशलता आगे आ गई तब न केवल राजनतिक प्रवृत्तिया ने नया आयाम ग्रहण किया और समाज की अन्य प्रवत्तिया से अलग हो गई, बल्कि अपना एक स्वरूप और जीवन भी ग्रहण कर लिया। परिवतन की यह प्रक्रिया तीसरे

चरण म पूणता पर पहुची, जब राजनीति का आधार बहुत व्यापक हो गया और जाति के अलावा अन्य बहुत-सी बात भी उस में आ गइ।

प्रभावशाली और प्रतिष्ठित जातियो मे फूट और गुटबदी, दूसरी जातियो से मेल और उनके मुखिया को अधिकार मे भाग देने से जातिव्यवस्था में काफी बिखराव आया, फिर भी जाति का आधार बना रहा। यद्यपि इसने राजनैतिक और व्यक्तिगत शक्ति की प्रवत्ति को भी जन्म दिया। तीसरे अध्याय या चरण में एक ओर राजनैतिक मूल्यो की प्रधानता हुई और जातिपाति से लगाव कम हुआ, दूसरी ओर शिक्षा, नये शिल्प प्रतिष्ठा क परिवर्तित पैमाने और शहरीकरण के कारण समाज में परिवतन आया। नई आकाक्षाओ और भौतिक उन्नति की नई धारणाओ का जोर बढ़ा, पुराने परिवार टूटने लगे और लोग कामधंधे के लिए देशावर जा कर बसने लगे। इस के साथ जातिबिरादरी की भावना ढीली पडने लगी। सामाजिक व्यवहार अपनी जाति तक सीमित न रहा। राजनीति में भी व्यापकता आई। नई शिक्षा और नये सामाजिक व्यवहार से उत्पन्न होने वाली नइ प्रवृत्तिया फैलने लगी। देखने में आया कि एक ही जाति के अदर आर्थिक अन्तर या विषमता के कारण अलगाव पैदा हुआ और जाति का बधन ढीला पडा। यह प्रवत्ति केरल के एजवा या हरिजनो में भी लक्षित हुई। आधुनिकता का एक आवश्यक तत्त्व है, विभिन्न क्षेत्रो और कार्यों का स्पष्ट पथक्करण। पहले राजनैतिक, शैक्षिक और बौद्धिक सचार के कार्य सामाजिक वग या जाति के अदर ही होते थे अब इन का अलग अलग क्षेत्र बन गया है।

राजनीति अभी भी प्रभावशाली तत्त्व है परतु अब इस को आधुनिकता के एक साधन के रूप में देखा जाता है। इसे जाति को नष्ट करने या उसका स्थान लेने वाली शक्ति के बजाय नए समाज की स्थापना मे सहायक के रूप में देखा जाता है। अब राजनीतिक सस्थाओ का ढाचा व्यापक होता जा रहा है, जिसमें जाति की भावना को नया रूप मिलता है और उस का पुराना रोटी-बेटी सबध वाला आधार कमजोर हो गया है। दूसरी ओर राजनीतिक प्रवृत्तिया ने नए सगठनो और नई निष्ठाओ को जन्म दिया है, जो पुरानी निष्ठाओ को काटती हैं। जाति अब राजनीतिक समथन या शक्ति का एक मात्र आधार नही रही, यद्यपि राजनीति में इसका अधिकाधिक उपयोग किया जा रहा है। यह एक व्यापक सबध शृखला का अग बन गई है। काय के विभाजन के हिसाब से हर व्यक्ति की समाज में पदमर्यादा निर्धारित करके पहले जमाने में जातिप्रथा ने समाज को बाधे और बनाए रखने का काम किया था। आधुनिक राजनैतिक व्यवस्था में भाग लेने के कारण पहले तो जातिप्रथा पर पृथकता की प्रवत्ति का प्रभाव पडा, बाद में जाति भावना का सामजस्य हुआ और इसने राजनैतिक सगठन में सहायता दी।

आधुनिक राजनीति म भाग लेने म लोगो की दृष्टि म परिवतन हुआ और

उन्हें उन्नति के नए मौके मिले। इसके साथ उनको यह भी समझ में आ गया कि आज के युग में केवल जाति और सम्प्रदाय से काम नहीं चल सकता। जहां जाति बड़ी होती है, वहां भी उसमें एकता नहीं होती। उसमें उपजातियों के भेद होते हैं, और जब संख्या में छोटी होती है, तब तो अपने बल पर वह चुनाव जीत नहीं सकती। फिर यदि कोई सदस्य या उम्मीदवार अपनी ही जाति का पक्ष करता है तो दूसरी जातियां उसके खिलाफ हो जाती हैं। इसलिए चुनाव की राजनीति में अनेक जातियों का गुट बनाना पड़ता है। इसमें विभिन्न जातियों में एका होता है। तीसरे, राजनैतिक दल की शक्ति तभी कायम रहती है, जब समाज के सभी प्रमुख वर्ग अर्थात सभी जातियों के लोग उसका समर्थन दें। अस्तु राजनीति में आने के कारण जाति की भावना ढीली पड़ जाती है और अनेक नई निष्ठाओं का उदय होता है। इस प्रकार जाति लौकिक राजनैतिक व्यवस्था का एक अंग बन जाती रही है।

एकीकरण या समुच्चयन के नए रूप

आजकल राजनीति में जातिवाद और सम्प्रदायवाद का जोर बढ़ने की शिकायत की जाती है। समाजशास्त्री भी इस भ्रांति में पड़ जाते हैं। ऐसा समझा जाता है कि शिक्षाप्रसार, शहरों के विस्तार और औद्योगीकरण के कारण सम्प्रदाय और जाति के जो बंधन ढीले पड़ रहे थे, वे चुनाव की राजनीति के कारण फिर से जोर पकड़ रहे हैं और इससे देश में फूट बढ़ेगी जिससे धर्मनिरपेक्ष लोकतन्त्र का ढांचा खतरे में पड़ जाएगा। इसके समर्थन में उदाहरण दिया जाता है कि किस प्रकार विभिन्न राजनैतिक दल सम्प्रदाय और जाति के नाम पर वोट लेने की कोशिश करते हैं। इसमें शक नहीं कि ऐसा किया जाता है, किंतु इससे जो निष्कर्ष निकाला जाता है, वह उपयुक्त नहीं। *वास्तव में जाति और राजनीति के मिश्रण से दूसरे ही परिणाम निकलते हैं।*[११] बजाय राजनीति पर जाति के हावी होने के जाति का राजनीतिकरण हो जाता है। राजनीति ने जाति को लीक से हटा कर नया संदर्भ दे दिया है, जिसमें उसका पुराना रूप बदल रहा है। जब किसी विशेष जाति को ही राजनैतिक सत्ता का अधिकारी नहीं माना जाता इसलिए प्रतिद्वंद्वी दलों को उम्मेदवार चुनने में यह देखना पड़ता है कि किस जाति का कितना संख्या बल है, किस जाति में कितने गुट हैं, उसका आर्थिक संबंध किन जातियों से है आदि। यह बात किसी भी राजनैतिक पद्धति और किसी भी सामाजिक व्यवस्था के लिए

११ इससे विपरीत दृष्टिकोण के लिए और सामाजिक एकीकरण में जाति की भूमिका के विषय में देखें–सुरजीत सिन्हा, 'कास्ट इन इण्डिया इट्स एसेन्शल पैटर्न आफ सोशियो-कल्चरल इंटेग्रेशन'। एन्टोनी डि रियूक संपादित–'कास्ट एंड रेस कम्पैरेटिव अप्रोचेज' (लंदन-१९६७)।

स्वाभाविक है। जाति का विचार उस अवस्था में जरूरी नहीं था, जब राजपद कुछ विशिष्ट जातियों के लिए सुरक्षित होते थे। अब राजनैतिक अधिकार और पद सब जातियों के लिए खुल गए, इसलिए राजनीति में अन्य बातों के साथ जाति का विचार भी आ गया। हरल्ड गौल्ड के शब्दों में – राजनीति का आधार होने के बजाय, जाति उसको प्रभावित करने वाला एक तत्त्व है।[१२]

वास्तव में यह भी कहा जा सकता है कि जाति के बंधन का स्वीकार करने और राजनीतिक सौदेबाजी और गठबंधन में उसका सहारा लेने के कारण उसका देश की राजनैतिक व्यवस्था में स्थान बना तथा उसे राजनैतिक संगठन का साधन बनाना आसान हो गया। अगर ऐसा न करके उसकी उपेक्षा की जाती और उसके प्रभाव को अस्वीकार किया जाता तो राजनैतिक संगठन में बाधा पड़ती। स्वतन्त्रता के पहले कांग्रेस ने इसी तरह मुसलमानों के अपने समाज के प्रति लगाव को महत्त्व नहीं दिया था, और यह मान लिया था कि राष्ट्रीय भावना जातीय और साम्प्रदायिक भावना से अधिक बलवती है उसकी यह भूल सिद्ध हुई। आधुनिकतावादी नेता जातिपांति पर भले ही नाक सिकोड़ें परन्तु इसके द्वारा राजनैतिक शक्ति उन वर्गों या समूहों के हाथ में पहुँच सकी जो अब तक उससे वंचित थे।

इस अध्याय में हमने सामाजिक राजनैतिक संगठन की बड़ी पचीदा प्रक्रिया का वर्णन किया है। इसके दो रूप हैं। पहले रूप में उच्चवर्ग के नेता सामने आते हैं। भिन्न भिन्न जातियों के होते हुए भी इनके राजनैतिक या लौकिक विचार एक से होते हैं। ये समाज के उच्च या प्रतिष्ठित वर्गों का प्रतिनिधित्व करते हैं। स्वभावतः *ये वर्ग आधुनिकता को पहले ग्रहण करते हैं। इस बीच समाज के* साधारण या कम उन्नत वर्गों को धीमे धीमे नए विचारों और नई बातों को अपनाने का मौका मिलता है।

दूसरे रूप में लौकिक या राजनैतिक उद्देश्यों से जाति अपना संगठन करती है। जैसे जाति विशेष के क्लब छात्रावास आदि संस्थाएं, पूरे प्रांत या भाषा क्षेत्र के जातियों के सम्मेलन या संस्थाएं, तीसरे एक-से सामाजिक स्तर या वर्ण की विभिन्न जातियों के संघ या एक खास प्रयोजन के लिए विभिन्न जातियों का एक संघ। यह विशेष उद्देश्य या प्रयोजन ही इन संघों को विशुद्ध जातीय संघों से पृथक करता है।[१३] यह प्रयोजन आर्थिक या शिक्षा संबंधी भी हो सकता है या यह भी हो

१२ देखें इसकी –'चेंजिंग पोलिटिकल बिहेवियर इन रूरल इंडियन सोसाइटी', इक ऐंड पालि वीकली २, सं ३३-३५ विशेषांक, अगस्त १९६७।

१३ जातीय संगठनों के बारे में काफी साहित्य तैयार हो रहा है। रडाल्फ का 'द पोलिटिकल रोल आफ इण्डियाज कास्ट असोसिएशन' अभी भी इस विषय का सबसे अच्छा निबंध है। जाति-संगठनों के बारे में और देखें 'कास्ट इन इंडियन पालिटिक्स' में रजनी कोठारी और ऋषिकेश

[अगले पृष्ठ पर]

सकता है कि ऊँची जातियों की प्रधानता का विरोध करने के लिए अन्य जातियाँ संघबद्ध हों। जाति के आधार पर स्थापित होने पर भी धीरे धीरे जातीय संगठन अन्य काम भी करने लगते हैं, दूसरी जातियों के लोगों को लेने लगते हैं, दूसरे क्षेत्रों में फैलने लगते हैं और अन्य वर्गों के संगठनों व राजनैतिक दलों से मिलकर काम करने लगते हैं।

समयांतर से ये जातीय संगठन पूर्णतः राजनैतिक रूप धारण कर लेते हैं। इनकी काफी शक्ति होती है। अभी भी ये जाति का नाम बनाए रखते हैं जैसे अब्राह्मण या क्षत्रिय संघ आदि, और इस कारण उनको उन जातियों से काफी समर्थन मिलता है। ये संगठन इन जातियों के पूर्व गौरव की उनकी वर्तमान गिरी दशा से तुलना करते हैं और इस प्रकार उनकी भावना को उभाड़ कर उनका मजबूत संगठन बनाते हैं। इस प्रकार तत्सम्बद्ध जातियों का संगठन करने और उनमें अपने हितों की भावना पैदा करने में ये पहले की जातीय संस्थाओं से कहीं अधिक सफल होते हैं।[14] जहाँ भिन्न उच्चवर्गीय नेतृत्व का उल्लेख किया गया है उसमें इन संगठनों के प्रमुख लोग भी होते हैं या वह इनके सहयोग से काम करता है।

इन नए संगठनों के विकास में लौकिक विचारों का योग दुतरफा रहा है। एक ओर उन्होंने मतानुसार और समाज के पिछड़े वर्ग की दशा सुधारने के आन्दोलन को प्रेरणा दी जिससे वे समाज के प्रगतिशील वर्गों के साथ आ सकें। इस उद्देश्य से शहरों के शिक्षित और राजनैतिक रूप से सचेतन लोगों के प्रभाव से निम्न जातियों के संगठन स्थापित हुए। एक बार जब ये संगठन बन गए तो वे राज-नैतिक मामलों में भी रुचि लेने लगे। इस पर विवाद उठ खड़ा हुआ। कुछ अपने निहित स्वार्थों की रक्षा के लिए और कुछ धर्मनिरपेक्षवाद (सेक्युलरिज्म) की नवीन और अवचेतनी धारा के कारण नेताओं का एक वर्ग इन जातीय संगठनों के राजनीति में भाग लेने के विरुद्ध था।[15] दूसरे नेता जो ज्यादातर देहात से आए थे और

[पिछले पृष्ठ से]
मोरिस का 'कैप्टेन्स एण्ड पोलिटिकल [illegible] इन [illegible]'। [illegible] का कहना है कि ये नए संगठन राजनीति में दिलचस्पी रखते हैं, पर विशुद्ध राजनैतिक संगठन से नहीं बने हैं। देखें रुडाल्फ 'द [illegible] इन [illegible]' ([illegible]) और भी देखें 'कास्ट इन [illegible]' [illegible] १९६३।

१४ जातीय संगठनों और राजनैतिक संगठनों के बीच में क्या फर्क है और किस प्रकार वे स्वयं राजनैतिक रूप लेते हैं इसके लिए देखें- 'कास्ट एण्ड पोलिटिकल सिस्टम'।

१५ उदाहरण के लिए १० [illegible] में मद्रास प्रान्तीय अधिवेशन में (जिसमें [illegible] द्वारा स्वीकार किया गया) कांग्रेस ने यह प्रस्ताव पास किया कि इसका कोई सदस्य किसी जातीय या साम्प्रदायिक संगठन का सदस्य नहीं रह सकता। इस प्रकार कांग्रेस ने राजनीति में जातीय संगठनों के भाग लेने का विरोध किया। जाति-संगठनों पर इस प्रस्ताव का क्या असर पड़ा इसके लिए देखें- 'कैप्टेन्स एण्ड पोलिटिकल सिस्टम'।

सख्या बल तथा जाति बिरादरी की भावना के महत्त्व को समझते थे जातीय सग ठनो को राजनीति में लाना चाहते थे। शिक्षा–प्रसार आदि के उद्देश्य से विभिन्न जातियो के जो अलग अलग सगठन थे, उनको ये राजनैतिक उद्देश्यों के लिए सघ बनाना चाहते थे, जिससे राजनीति में उनका प्रभाव बढ़े और व्यक्तियो के बजाय पूरे समूह को फायदा पहुच सके। [16] कालान्तर में इसी प्रवृत्ति ने जोर पकड़ा, यद्यपि अभी भी देश की सभी मुख्य जातियो का इस प्रकार सगठित नहीं किया जा सका है। मगर जो जातिया इस प्रकार सगठित नही हो सकी, वे राजनतिक सौदेबाजी में सफल नही रही और उनके सदस्यो को अपनी आवाज उठाने के लिए उपद्रव और तोडफोड का सहारा लेना पडा। [17] सब मिला कर जातीय सगठनो ने भारत में राजनीति में वही भाग लिया है जो पश्चिमी देशो में विभिन्न हितो व वर्गों के सगठनो ने।

अन्य जातीय समूह

भारतीय राजनीति के ढाचे मे जातिव्यवस्था के महत्त्वपूर्ण स्थान का हमने ऊपर वर्णन किया। दो और इससे सबधित विषय हैं। एक है अनुसूचित जातियों और आदिम जातियो की स्थिति, जिन पर भारतीय सविधान के निर्माताओं ने विशेष ध्यान दिया है और दूसरा अल्पसख्यक सम्प्रदायो, खासकर मुसलमानो की स्थिति।

यद्यपि हरिजनो और अनसूचित आदिम जातियो की आर्थिक और सामाजिक स्थिति अभी भी बहुत खराब है किंतु राजनीति म उनकी भूमिका, अन्य छोटी जातियो से भिन्न नही ह, जिनका ऊपर जिक्र किया गया। उनको ससद व विधान सभाओ और सरकारी नौकरियो में जो सुरक्षित स्थान दिये गये हैं [18] उससे उनके राजनैनिक सगठन म बहुत प्रेरणा मिली ह। सुरक्षित निर्वाचन क्षेत्रो से भिन्न क्षेत्रो में भी राजनतिक दल व ऊची जाति के नेता या उम्मेदवार इनका समथन लेने के लिए इनसे सौदा व समझौता करत ह। मत्रिमडलो व दलो के नेतवर्ग में इनके आदमी सम्मिलित किये जात हैं। इस प्रकार सामाजिक स्थिति हीन होते हुए भी

---

१६ वही।

१७ आश्चर्य नहीं कि पश्चिम बगाल तथा बडे नगरों में उपद्रव और तोडफोड की राजनीति का ज्यादा जोर रहा है बनिस्बत उन राज्यों के जहा जाति के आधार पर राजनैतिक गुट या गठजोड़ बने हैं।

१८ जसा ५ वें अध्याय में बताया गया है, भारत के सविधान में अनुसूचित जातियों व आदिम जातियों के लिए अनेक विशेष व्यवस्थाए की गई ह। सरकार ने इनमें विस्तार किया है। सबसे महत्त्वपूर्ण व्यवस्था ससद आदि सब निर्वाचित सस्थाओं में स्थान सुरक्षित करने की है। कभी कभी तो सुरक्षित स्थान इनके अनुपात से अधिक होते हैं।

अनुसूचित जातिया व आदिवासियो का राजनतिक महत्त्व बहुत है।[१९] इन अनुसूचित जातियो ने राजनैतिक उद्देश्य से अपने मगठन बनाए हैं और अपने लिए विशेष स्थान प्राप्त किए हैं, जसे आसाम मे आदिम जातियो ने।[२०] इनकी विशेष सवधानिक स्थिति होने के कारण इनके सगठनो को 'जातीय' या 'साप्रदायिक' नही समझा जाता। वल्कि प्राय सभी प्रमुख राजनैतिक सगठनो ने अपने विशेष 'हरिजन' और आदिमजाति विभाग खोल रखे हैं। इस प्रकार राजनतिक मान्यता मिल जाने से सकीण या जातीय भावनाए लौकिक रूप ग्रहण कर लेती है और समाज के अन्य वर्गों के साथ मिल जाती है।

मगर यह वात मजहवी अल्पसख्यका पर लागू नही होती, खासकर मुसलमानो पर (अन्य गैरहिंदू सप्रदाय वहुत छोटे ह और जहा उनकी सख्या अधिक है, जैसे केरल मे कैथालिक या पजाव मे सिख, वहा उनको वही राजनतिक महत्त्व प्राप्त है, जसा ऊपर उल्लिखित जातिया को)। अध्याय दो मे हमने देखा कि किस प्रकार काग्रेस के नेता मुसलमानो के पृथक राजनैतिक सगठन और साप्रदायिक राजनीति के विरुद्ध थे। काग्रेस ने मुस्लिम लीग के दो राष्ट्रा के सिद्धात का विरोध किया और स्वय सभी सप्रदायो का प्रतिनिधित्व करने का दावा किया, परतु उसने सप्रदाया के अलग अलग सगठना के द्वारा इनको एक मच पर लाने का प्रयत्न नही किया और साप्रदायिकता का मुकाबला करने म सफल नही हुई। पाकिस्तान की स्थापना के कारण साप्रदायिक सगठन के विरद्ध भावना और मजबूत हुई। इसलिए जब लोकतन्त्र की राजनीति ने समाज के बडे समहा को सगठित होने की प्रेरणा दी तव मुसलमान दुविधा म पडे। उनमे दो प्रवृत्तिया दीख पडी। एक की प्रतिनिधि जमीयत उलमा है, जो मुस्लिम सगठना को राजनैतिक उद्देश्या के बजाय शिक्षा और सामाजिक और मजहवी कार्यो तक सीमित रखना चाहती है। दूसरी विचारधारा जमाते इस्लामी, और मजलिसे मुशव्वरात की है, जो राजनीति मे भाग लेने के पक्ष मे ह और जा चुनावा मे अपने उम्मीदवार खडे करती है तथा अपनी राजनैतिक मागे पेश करती है।

इस प्रकार का मतभेद उपर उल्लिखित जातीय सगठनो मे भी प्रकट हुआ था, यद्यपि राजनतिक नैराश्य के कारण मुसलमानो मे इस मतभद ने कटुता धारण

१९ रावर्ट ए डाहल ने इसको विषमता के बिखराव या अतर का नाम दिया है। पहले ये जातिया एकत्रित या पुजाकृत विषमताओं मे पीड़ित थीं। देखिए हू गवन्स' (न्यू हेवेन—१९६१)।

२० सर्वदल पहाड़ी नेता सम्मेलन के आदोलन के फलस्वरूप केन्द्रीय सरकार ने आसाम के अतर्गत उनके उपराज्य की स्थापना का निश्चय किया। अब 'मेघालय उपराज्य को पूरे राज्य का दर्जा स्वीकार कर लिया गया। नागाओं का भी अलग राज्य बन गया। बिहार और उडीसा में आदिम जातिया को सभी दलों की सरकार में महत्वपूर्ण हिस्सा दिया गया। मध्यप्रदेश में उन्हें सफलता नहीं मिला है और मत मिला कर आदिवासी अभी भी बहुत गरीब व पिछडे हैं। अध्याय ८ में इस विषय पर और विचार किया गया है।

कर ली है और राजनीति मे भाग लेने के समर्थक हमेशा वैधानिक उपायो की बात नही करते। लेकिन जहा मुसलमानो ने राजनीति मे भाग लिया है, वहा उनकी सकीर्णता व पृथकता कम हुई है और अन्य जातियो की तरह उन्हे भी राजनैतिक जोडतोड म भाग मिला है। उदाहरण के लिए केरल में मुस्लिम लीग राजनीति में बनी रही और उसे राजनैतिक गठबधनो में स्थान प्राप्त हुआ, राजनतिक पदाधिकार में हिस्सा मिला और उसका दृष्टिकोण अन्य राज्यो के मुस्लिम सगठनो के मुकाबले ज्यादा असाम्प्रदायिक और लौकिक है। इधर तीसरे और चौथे चुनाव में देश के अन्य भागो मे भी मुस्लिम राजनैतिक सगठन राजनीति में सक्रिय हो उठे हैं और इस प्रकार धीमे धीमे वे लौकिक क्षेत्र में आ रहे हैं। यद्यपि मुसलमानो के लिए स्थान सुरक्षित नही किए गए है, किंतु काग्रेस तथा अन्य राजनैतिक दलो ने उनको कुछ स्थान देने की परिपाटी बना ली है। इससे मुस्लिम सम्प्रदाय राष्ट्रीय राजनीति की ओर खिच रहा है। जिन निर्वाचन क्षेत्रो में मुसलमानो की काफी सख्या है, वहा मतदान का अध्ययन करने से पता चला है कि मुसलमानो के अदर भी कई फिरके है तथा उन्होने दूसरे सप्रदायो और सगठनो के साथ भी मिल कर काम किया है अर्थात मुस्लिम भावना को बनाए रखते हुए भी उनमे लौकिक या असाम्प्रदायिक प्रवृत्ति दिखाई है।[21] यद्यपि सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में अभी भी शिकायतें और रुकावटे बनी हैं फिर भी राजनैतिक स्तर पर उनका सहयोग और शिरकत बढ़ रही हैं। राजनीतिकीरण के क्रम म तनाव और फिसाद भी होते है परतु यह सघर्ष अधिकारप्राप्त और नए उठने वाले वर्गों में भी होता है। इस प्रकार, जातियो के राजनीति में प्रवेश करने की जिस प्रक्रिया का विश्लेषण ऊपर किया गया, वह कुछ अतर के साथ अल्पसख्यक समुदाय और अनुसूचित जातियो और आदिम जातियो पर भी लागू होती है।

समन्वय एकीकरण की प्रक्रिया

मुख्य प्रश्न जिस पर हमने विचार किया यह है कि किस हद तक विभिन्न जातियो और सम्प्रदायो में राजनीति में भाग लेने के फलस्वरूप सामूहिक या राष्ट्रीय

---

२१ माइरन वीनर और रजनी कोठारी सपादित-'इन्डियन वोटिंग बिहेवियर '(कलकत्ता १९६५) में रजनी कोठारी और तरुण शाह 'कास्ट ऐंड मुस्लिम आर कम्युनिटी वोटिंग द केस आफ बड़ोदा १९६२'। पी एल ब्राम-'फैक्शनल पालिटिक्स इन एन इंडियन स्टेट-द काग्रेस पार्टी इन उत्तर प्रदेश (बर्कले, १९६)। अध्याय ६-७, बशीरुद्दीन अहमद। 'काग्रेस रिवाइवल इन अमरोहा-ए केस स्टडी इन वन पार्टी डामिनेंस '(पार्टी सिस्टम ऐंड इलेक्शन स्टडीज, अकेजनल पेपर्स) सेंटर फार स्टडी आफ डेवलपिंग सोसाइटीज १९६७। इनके अलावा के विश्लेषण के लिए रजनी कोठारी संपादित 'इलेक्टोरल पोलिटिक्स इन इंडिया' में 'एकाग्रेशन पार्टीसिपेशन ऐंड पोलिटिकल इंटिग्रेशन' (सेंटर फार स्टडी देव सोसाइटीज १९६९)।

भावना का उदय हुआ है और उनकी पृथकता कम होकर उनका राजनैतिक एकीकरण हुआ है। अक्सर राष्ट्रीय भावना से और जाति या सम्प्रदाय की भावना के द्वंद्व या टकराव की बात की जाती है। लेकिन हमने देखा कि जहां जाति या कबीले की भावना को दबाने के बजाय उनको राजनैतिक दिशा देने की कोशिश की जाती है, वहां राजनैतिक एकीकरण की संभावना बढ़ती है और जहां जाति या सम्प्रदाय के संगठन की अनुमति नहीं दी जाती वहां ये गलत रास्ते पर जाती हैं। हमने देखा की किस प्रकार जाति के संगठन राजनैतिक रूप धारण कर लेते हैं और समाज व राजनीति में संबंध जोड़ते हैं।

समाज और राजनीति में संबंध जोड़ने की इस प्रक्रिया को लौकिकीकरण का नाम दिया जा सकता है। राजनीति के प्रभाव से भारतीय समाज में जो जबदस्त परिवर्तन हुआ है, वह इसी प्रक्रिया के फलस्वरूप हुआ है। जिस प्रकार 'संस्कृतीकरण' की प्रक्रिया के द्वारा समाज के दबे हुए समूह आगे आए और संस्कृत जातियां पाश्चात्यीकरण के द्वारा आधुनिकता के ढांचे में ढलीं, उसी प्रकार लौकिकीकरण की प्रवृत्ति उक्त दोनों वर्गों को राजनीति में खींच रही है, जिससे पुरानी व्यवस्था खतम हो रही है और नये लौकिक संगठनात्मक आधार पर पुनर्गठित हो रही है। नई व्यवस्था का रूप अभी भी अस्पष्ट और विकासशील है।[२२] परिवर्तन की इस प्रक्रिया में स्थानीय या संकीर्ण और व्यापक निष्ठाओं का नया मिश्रण तैयार होता है, पुरानी जाति-पांति, व्यक्ति और समूह के हित में बाधक सिद्ध होती है और अशिक्षित जनसमूह को बोध होता है कि वह एक राजनैतिक पद्धति का अंग है और उसका उसमें लगाव पैदा होता है।

दूसरी ओर कोई भी राजनैतिक व्यवस्था या पद्धति तभी स्थिर हो सकती है जब जनसमूह उसकी प्रक्रिया और प्रतीकों को दिखावे या काम निकालने के लिए नहीं, वरन वास्तव में अच्छा और उपयोगी समझकर अपनावे। अर्थात् नई विधियां और नए मूल्य परंपरा का रूप धारण कर लें। बिना रूढ़ियां या परंपरा के कोई समाज जीवित नहीं रह सकता और आधुनिकता के लिए वास्तविक चुनौती यह नहीं है कि वह परंपरा को कैसे नष्ट करे, बल्कि यह कि कैसे स्वयं परंपरा बन जाए।[२३] जाति और राजनीति के प्रसंग में इसके दो अर्थ हैं। एक यह कि जाति के जो तत्त्व अनुपयोगी और संकीर्णता बढ़ाने वाले हैं वे खतम हों और वे तत्त्व

२२ पुनर्गठन की प्रक्रिया और जाति या फिरके की भावना के सैद्धांतिक विवेचन के लिए देखें, डी एल सेठ और रजनी कोठारी 'सोशल चेंज पोलिटिकल इंटेग्रेशन ऐंड द वैल्यू प्रोसेस' इण्टरनेशनल राउंड टेबुल आन वैल्यूज इन पोलिटिक्स में निबंध डुब्रोवनिक, युगोस्लाविया (मीमियो, १९६५)।

२३ रजनी कोठारी, 'ट्रेडीशन ऐंड माडर्निटी रिविजिटेड' -गवनमेंट ऐंड अपोजिशन, ३, सं ३ (गर्मी १९६८)।

राजनैतिक संस्कार और सामाजिकरण

पिछले अध्यायों में हमने राजनीतिक विश्लेषण की तुलनात्मक प्रणाली द्वारा भारत के ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक आधुनिकीकरण की व्याख्या करने का प्रयत्न किया। किंतु किसी भी राष्ट्र का राजनीतिक अनुभव उसकी परंपरा एवम् प्रवृत्ति में निहित होता है। उसके स्थायी राजनीतिक संस्कार और उसकी बदलती हुई राजनीतिक अभिलियन के परस्पर संबंध की व्याख्या करने पर ही हमें देश के विकासक्रम में भोगने वाली दुविधा को समझने का सूत्र मिल सकता है और उसकी सफलता या विफलता को ठीक से आंकने में सहायता मिल सकती है तथा और अच्छे ढंग से उसकी भावी संभावनाओं का अनुमान किया जा सकता है।

हमें ये प्रश्न पूछने हैं — क्या देश के आधुनिक विकास से इसका युगों पुरानी कुछ समस्याएं हल हो सकेंगी ? क्या इससे इस पुराने देश की अपनी कमजोरियां दूर करने और आधुनिक संसार में स्थान ग्रहण करने में सहायता मिलेगी या इसकी सांस्कृतिक और मानसिक स्थितियां इसमें बाधक होंगी। हमें एक ओर व्यक्तिगत और सांस्कृतिक परिवर्तनों को देखना है और दूसरी ओर यह देखना है कि आधुनिक राजनैतिक और आर्थिक प्रवृत्तियों से क्या सम्यागत परिवर्तन हो रहे हैं और व्यवहार की क्या परिपाटियां बन रही हैं और क्या आवश्यक समस्याएं सामने आई हैं जिनका सुलझाना जरूरी है।

हम भारत में होने वाले राष्ट्रनिर्माण के सांस्कृतिक और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य पर एक नजर डालेंगे और इसके विशिष्ट राजनैतिक संस्कार के बारे में कुछ सिद्धांत उपस्थित करेंगे तथा इनका संबंध सामाजिक और सांस्कृतिक संस्कारों से जोड़ेंगे। इसके साथ यह भी विचार करेंगे कि किस प्रकार एक नयी राजनैतिक सत्ता के उदय से प्राचीन परंपरा की नयी व्याख्या की जा रही है और प्राचीन व्यवस्था में बुनियादी परिवर्तन हो रहा है।

भारत शायद एकमात्र देश है, जिसने बिना किसी विशिष्ट राजनैतिक व्यवस्था का सहारा लिए अपनी सास्कृतिक परपरा को कायम रखा है। अन्य प्राचीन सभ्यताओ के विपरीत भारत की एकता किसी राजनैतिक सत्ता या व्यवस्था पर आश्रित नही रही, प्रत्युत वह इस बात पर आश्रित रही कि उसके सास्कृतिक प्रतीक, आध्यात्मिक मूल्य और आचारविचार जनसाधारण के जीवन में व्याप्त हो गए। भारत की आत्मा राजनैतिक नही सास्कृतिक रही। अवश्य ही भारत के सास्कृतिक रूप के साथ साथ उसका एक लौकिक या राजनैतिक रूप भी रहा। सास्कृतिक और राजनैतिक आध्यात्मिक और लौकिक अगो की परस्पर प्रतिक्रिया के द्वारा ही वह बदलते युग के साथ अपने को बदलता रहा। फिर भी भारत के इतिहास में सरकार और समाज के बीच सदा एक पार्थक्य रहा और भारतीयता का भाव राजनैतिक नही सास्कृतिक रहा।

कौन-से ऐसे ऐतिहासिक तत्त्व है जिनके कारण लगातार राजनैतिक उथलपुथल के बावजूद भारत की सस्कृति अविच्छिन्न चलती रही, इसका ठीक पता नही।[1] परन्तु एक बात स्पष्ट है कि बहुत पहले ही भारत मे आध्यात्मिक और लौकिक या शासकीय क्षेत्र अलग अलग हो गए थे। साथ ही यहा धर्म और राज्य में वह सघर्ष नही हुआ जो पश्चिम के देशो में इतना देखने को मिलता है। साथ ही दोनो में बराबर व्यवहार और परस्पर सबध भी रहा। इसका कारण कुछ तो यह था कि यहा राजसत्ता विदेशियो की रही और साधारण जनता अपने रास्ते चलती रही। साधारणत विदेशी विजेता भी यहा सामाजिक और धार्मिक रीतिरिवाज मे दखल नही देते थे।

राजनैतिक और आध्यात्मिक क्षेत्र एक दूसरे को प्रभावित करते थे और शासको तथा धर्मगुरुओ मे सबध रहता था। इस प्रकार भारतीय सभ्यता नए तत्त्वो को ग्रहण करती रही। कुछ मूल तत्त्वो को बनाए रखते हुए, विशिष्ट क्षेत्रो मे परिवर्तन का विरोध यहा कभी नही किया गया। सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र मे बौद्ध, वैष्णव, सिख मत के साथ साथ पुरानी परपरा के समर्थन के शकराचार्य के जैसे आदोलन यहा होते रहे। इन दोनो प्रकार के आदोलनो के द्वारा भारतीय सस्कृति के कुछ मूल तत्त्वो का पुन प्रतिपादन होता रहा। इस कारण जब १९ वी शताब्दी में यहा सुधार के आदोलन चले तो उनको समाजकी व्यवस्था में उथलपुथल लाने के प्रयत्न के बजाय हिंदू समाज में घुस आई कुरीतियो को दूर करने का प्रयत्न समझा गया, जैसे पुराने जमाने के धार्मिक आदोलन थे।

पुरानी जड समाज व्यवस्था की टक्कर जब आधुनिकता की शक्तियो से होनी

[1] फिर भी देखें डब्लू. नामन ब्राउन, 'द कन्टेन्ट आफ कल्चरल कांटिनुइटी इन इंडिया', जर्नल आफ एशियन स्टडीज, २० अगस्त ६१।

है, तो उथलपुथल होना स्वाभाविक है। परतु भारत मे परपरा और परिवतन की प्रवृत्तिया बराबर साथ साथ चलती रही है और परपरा नए तत्त्वो का ग्रहण करती रही है। एक विदेशी पयवक्षक का कहना है कि भारत की आधुनिकता को उसकी परिवतनशील परपरा के सदभ में देखना पडेगा।[2] भारत की सास्कृतिक परपरा की अविच्छिनता के कारण ही यहा लौकिक क्षेत्र मे व्यापक परिवतन होने में कठिनाई नही हुई। क्योकि यहा की सस्कृति किसी विशिष्ट राजनतिक व्यवस्था के साथ बधी नही थी। दूसरे, लौकिक या राजनैतिक परिवतनो के बीच भी यहा की सस्कृति अविच्छिन बनी रही। तीसरे राज्य व्यवस्था के परिवतन का यहा महत्त्व न देने की प्रवत्ति रही इस कारण राजनतिक परिवतनो का विरोध करने के बजाय, उनका स्वीकार करने और उनके अनरूप हर फेर कर लेने की प्रवत्ति रही। इन परिवतनो का भारतीयता के लिए खतरनाक नही समझा जाता था, क्योकि भारतीयता का मूल तत्त्व राजनैतिक नही था। दूसरी पुरानी सभ्यताओ म जहा राजनतिक व्यवस्था की लबी परपरा रही और जहा सभ्यता राज्यव्यवस्था मे अभिन्न रही, वहा राजनैतिक परिवतनो का विरोध बहुत समय तक चला और जब विरोध विफल हुआ, तो परिवतन के साथ राष्ट्रीय अपमान और पराजय की भावना भी आयी।[3] दूसरी ओर भारत में आधुनिक समय म भी विदेशी राजनैतिक और आर्थिक सस्थाओ और विधियो का ग्रहण राष्ट्रीय स्वाभिमान के विरुद्ध नही समझा गया।

भारत म सास्कृतिक और राजनैतिक क्षेत्रो को अलग रखने के साथ विभिन्नता को स्वीकार करने की भी परपरा थी। आचार-विचार की विभिन्नता को यहा बरा नही समझा जाता था। इसलिए लोकतत्र की विचारधारा, यहा की सामाजिक क्षेत्र मे स्वतत्रता, स्थानीय रीतिरिवाज को बनाए रखने की आजादी, तथा सास्कृतिक और धार्मिक क्षेत्र मे स्वतत्रता की परपरा से मेल खाती है।

अन्य नए देशा में लोकतत्र और चुनाव के कारण कबीलो और जातियो में द्वद्व को प्रोत्साहन मिला है। लेकिन भारत मे यह नौबत नही आई, क्योकि जहा जाति बिरादरी या सप्रदाय के प्रति निष्ठा काफी समय तक राजनैतिक निष्ठा मे भिन्न रही। जब अत में यहा राष्ट्रीय राजनैतिक व्यवस्था स्थापित हुई, तो यह एक नई अखिल भारतीय व्यवस्था थी, किसी पुरानी जाति या क्षेत्रीय व्यवस्था का

२ मे सी हेस्टर मान, 'ट्रेडीशन इन माडर्न इडिया'। इस लेखक का कहना है कि पश्चिमी विचारक अपने यहाँ के अनुभव को भारत पर लागू करते हैं, इसलिए वे परपरा और आधुनिकता में विरोध या द्वद्व की कल्पना करते हैं।

३ चीन इसका सबसे बड़ा उदाहरण है। देखें– लुशियन डब्ल्यू पाइ– 'स्पिरिट आफ चाइनीज पालिटिक्स ए साइकोलाजिकल स्टडी आफ अथारिटी क्राइसिस इन पोलिटिकल डेवलपमेंट (कैंब्रिज-मैसा १९६८)।

विस्तार नही थी, जैसा कि अन्य कुछ नए देशा में हुआ।[४] बाद मे जब इस नयी राजनैतिक व्यवस्था का विस्तार और विकेन्द्रीकरण हुआ तब प्रात और भाषा की भावना विकसित हुई। किंतु तब तक नयी अखिल भारतीय व्यवस्था भी अच्छी तरह स्थापित हो चुकी थी। नयी प्रातीय या भाषिक निष्ठा पुरानी जातीय और साप्रदायिक निष्ठा से भिन्न है। पहली निष्ठा नेताओ की राजनीति को प्रभावित करती है, जबकि दूसरी जनसाधारण की राजनीति को। जो पयवेक्षक प्रात और भाषा के आग्रह को राष्ट्रीय एकता की भावना में बाधक मानते है वे पश्चिम की स्थिति का दष्टि मे रखते है जहा राष्ट्रीयता के अलावा और कोइ निष्ठा स्वीकार नही की जाती[५] जबकि भारत में राष्ट्रीय निष्ठा से प्रदेश या भाषा के प्रेम या निष्ठा का विरोध नही समझा जाता।

भारत में व्यापक निष्ठा राजनैतिक नही सास्कृतिक थी, इस कारण नयी राजनैतिक व्यवस्था को अपनी जड जमाने मे आसानी हुई। नयी व्यवस्था ने नए नेतत्व को जन्म दिया जो नये युग के विचारो और आदर्शों से प्रभावित थे और अपने देश का उसी के अनुसार पुनस्सस्कार करना चाहते थे। परन्तु भारत के ये आधुनिक सस्कर्ता पुरानी परपरा के शत्रु या विरोधी न थे। गाधी का शहर के बौद्धिक वग को यही सदेश था कि गावो में जाओ और गाव का शहर से, नई व्यवस्था से सबध जोडो। आज भी इस बात का महत्त्व कम नही हुआ है। आर्थिक विकास और बालिग मताधिकार ने इसके महत्त्व को और बढा दिया है।[६] भारत के परपरागत उच्चवग ने सामाजिक और सास्कृतिक क्षेत्र की आजादी को कायम रखते हुए, नयी राजनैतिक व्यवस्था को स्वीकार किया है।

पुरानी रोटी-बेटी के सबध पर आधारित जाति की पचायत का स्थान नए जातीय सगठनो और सघा ने लिया। इस प्रकार पुरानी व्यवस्था का रूप धीरे धीरे व्यापक बना। इसके फलस्वरूप देश मे एक लौकिक या राजनैतिक व्यवस्था विक

---

४ इसका कारण यह था कि अगरेजों ने भारतीय नेताओं से व्यवहार रखा और सत्ता उन्हींको सौंपी, जब कि अफ्रीका म उन्होंने कबायली सरदारों का दावा माना। यदि भारत में भी पुराने राजाओं के मडल को सत्ता सौंपी जाती तो यहाँ भी पुराने झगडे फिर शुरू हो जाते। १९३५ के ऐक्ट में अगरेजोंने यही करना चाहा था।

इस ऐक्ट की व्यवस्था को अस्वीकार करके काग्रेस ने सही काम किया और देश की एकता की रक्षा की।

५ लू डब्लू पाइ 'द पोलि कल्चर आफ इंडिया ऐंड चाइना-क्राइसिस आफ आइडेंटिटी ऐंड अथारिटी' ऋषीकेश मारु और रजनी कोठारी सपादित 'इंडिया ऐंड चाइना कट्रास्ट इन डेवलपमेंट'।

६ नेहरू के शब्दों में राष्ट्रनिर्माण के काम में गांधीजी की सबसे बडी समस्या यह थी कि शहर के शिक्षित लोगों की खुदगर्जी को कमे दूर करे। देखें-आन्द्रे माल्रक्स, 'एंटी-मेमायस' (न्यूयाक १९६८)।

सित हो रही है, जो जाति या सप्रदाय की गौण व्यवस्थाओ के बीच मे दखल नहीं देती। इस प्रकार भारत उस उथल-पुथल से बच गया जो उन देशो में हुई, जहाँ राजनैतिक क्षेत्र को सबसे ऊँचा स्थान दिया गया और अन्य क्षेत्रो के महत्त्व को खतम करने की कोशिश की गयी।

परतु स्थानीय और जातीय निष्ठाओ को अधीनता मे रखने वाली एक व्यापक राजनतिक निष्ठा के अभाव मे कुछ नुकसान भी हुआ। सास्कृतिक क्षेत्र को महत्त्व देने और राजनैतिक क्षेत्र मे उदासीन रहने के कारण भारत में ग्रामीण कृषिप्रधान व्यवस्था का बहुत महत्त्व दिया गया। (बावजूद पुराने बडे नगरो की उपस्थिति के) केन्द्रीय राजनैतिक सत्ता के न होने से लोग स्थानीय और जातीय निष्ठाओ के दायरे से निकल कर सार्वदेशिक निष्ठा का विकास करने मे असमर्थ रहे। उनमे नागरिक या राजनैतिक जिम्मेदारियो को स्वीकार करने, राजनैतिक व्यवस्था को समर्थन देने की और जातिपाति और गाव से ऊपर उठकर राष्ट्र या देश की बात सोचने की प्रवृत्ति न पैदा हो सकी। इसके साथ ही सामाजिक और निर्वैयक्तिक सत्ता के प्रति उनके मन में शका और अविश्वास भी बना रहा। अन्य लौकिक राजनैतिक सस्थाओ की तरह यहा राष्ट्रीय इतिहास के प्रति गौरव और इससे उत्पन्न होने वाले राष्ट्रीय स्वाभिमान के भाव की भी कमी रही। हम देखेंगे कि यहा पारिवारिक जीवन और आध्यात्मिक तथा धार्मिक परपरा में यह प्रवृत्ति कैसे बद्धमूल रही।

नागरिकता की कमजोर भावना के साथ साथ यहा न तो राजसत्ता से अधिक अपेक्षा की जाती है और न उसको समर्थन देने की प्रवृत्ति है। इसी से यहा सरकार और राजनैतिक व्यवस्था की त्रुटियो की साधारणत उपेक्षा की जाती है।

सरकार के प्रति उदासीनता का एक और परिणाम यह भी होता है कि सत्ता के बाहर के वर्गो में सघर्ष सुलगता रहता है और इन सघर्षों और विवादो को सुलझाने की राजनैतिक मशीनरी नही स्थापित होती। विवादो और मतभेदो को सुलझाने के बजाय उनको सहन करने की भारतीय प्रवृत्ति हानिकर सिद्ध होती है।

जब ऐसे समाज पर आधुनिक राष्ट्रीय और अतरराष्ट्रीय प्रभाव पडने लगते हैं तब राष्ट्र के विभिन्न अगो मे, जो अब तक काफी स्वायत्तता का उपभोग करते रहे हैं सामजस्य बैठाने और एकता लाने की समस्या तीव्र रूप धारण कर लेती है। अर्थात् जहा भारत में ऐसी राजनतिक व्यवस्था का निर्माण सरल है, जिसमे विभिन्न अगो को काफी आजादी रहे वहा राजनैतिक एकता और देश की सरकार के प्रति कर्तव्य की भावना का विकास कठिन हो जाता है।[७] साथ ही यह लक्षण

७ एस एन आइसेनस्टाट, 'ट्रेडिशन ऐंड मोडर्न आफ रेस्पान्स टु मार्डर्निटी'—'इन्डिया ऐंड चाइना', पूर्वोक्त।

भी दिखाई दे रहे हैं कि जाति-व्यवस्था में जो परिवर्तन हो रहे हैं, राजनैतिक दल तथा अन्य मध्यवर्ती संस्थाओं का जो विकास हो रहा है और राजनैतिक नेताओं और मुखियाओं की जो परंपरा कायम हो रही है, उससे देश के राजनैतिक केंद्र का बल मिले। तथा इस बीच जाति-बिरादरी जैसी आदिम संस्थाओं के स्वतंत्र अस्तित्व और उसके फलस्वरूप सरकार पर कम दबाव के कारण नयी व्यवस्था को जड़ जमाने में सहायता मिले।

राजनैतिक संस्कार के तत्त्व

हमने देखा है कि इस विशाल देश में एकता का मूल सांस्कृतिक समानता और उससे उत्पन्न होनेवाले आचारविचार रहे हैं। हम अब यह देखना है कि इस सांस्कृतिक और सामाजिक समानता में कौन से तत्त्व हैं जिनका राजनैतिक महत्त्व है और जो आधुनिक राजनैतिक प्रवृत्तियों को प्रभावित कर सकते हैं।

(१) विचारभेद और अस्पष्टता के प्रति सहिष्णुता

भारत में विचार-वभिन्य को स्वीकार करने की प्रवृत्ति रही है। भारतीय समाज में बहुत-से विरोधी विचार वाले और भिन्न भिन्न रीतिरिवाज वाले तत्त्वों को स्थान दिया गया है। विभिन्न तत्त्वों को समाज में स्थान देने के लिए यहाँ विभिन्न जातियों या वर्गों के विभिन्न धर्म या कार्य को स्वीकार किया गया है और उसी हिसाब से समाज में उनका पद निर्धारित किया है। आध्यात्मिक या दार्शनिक रूप से यहाँ यह सिद्धांत माना गया है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्म के बल पर आत्मविकास करता है और मोक्ष या निर्वाण प्राप्त करता है। भारत पर विभिन्न विचार धाराओं और संस्कृतियों का आक्रमण होता रहा है और फलस्वरूप यहाँ विचारों की भिन्नता को स्वीकार किया गया। यहाँ नये मतों और विचारों का प्रवर्तन होता रहा और भिन्न भिन्न राजनैतिक व्यवस्थाओं का भी प्रचलन होता रहा। इसके फलस्वरूप यहाँ व्यक्तियों और समूहों को आचार विचार की काफी स्वतंत्रता रही। यहाँ नैतिकता और धर्म को देशकालसापेक्ष माना गया। यहाँ यह बात नहीं मानी गई कि सब समय और सब श्रेणी व वृत्ति के लोगों के लिए एक ही धर्म या नैतिक नियम है। इसके बजाय यहाँ यह माना जाता है कि विभिन्न स्थिति और व्यवसाय अर्थात् विभिन्न वर्ण और जाति का विभिन्न नैतिक कर्तव्य या धर्म है।[८] इस दृष्टिकोण के कारण विचारों के संघटन में बड़ी अस्पष्टता रही है और इस अस्पष्टता तथा द्वैधता को सहन और स्वीकार करने की प्रवृत्ति रही है। वास्तविक जगत की अनिश्चितता और वैविध्य के परिप्रेक्ष्य में जीवन को टालने

---

८ एमरी द रेनकोर्ट - 'द सोल आफ इण्डिया' (लन्दन १९६१)

या सामाजिक स्थिति का धर्म माना गया। जब ऊँच-नीच का स्वाभाविक समझा गया तो नीची जातियों के लिए ऊँची जातियों का सम्मान करना, समाजव्यवस्था को स्वीकार करना और बिना विरोध या विद्रोह किए, अपना छोटा या नीचा काम करते जाना भी स्वाभाविक हो गया। इससे सामाजिक विप्लव की रोक हो गई परंतु इसका परिणाम यह भी हुआ कि सामूहिक जिम्मेदारी की भावना न रही। लोग भाग्यवादी और अकर्मण्य हो गए। साधारण आदमी का रुख यह रहा कि 'कोउ नृप होय हमें का हानी।' राज्य या राष्ट्र के प्रति कर्तव्य की भावना न विकसित हो सकी। समाज के अधिकारियों या व्यवस्था के प्रति उदासीनता और अनास्था उत्पन्न हुई। लोगों का भाव था कि 'समरथ को नहि दोस गुसाईं'। राजनैतिक उथलपुथल के समय यह भाव स्पष्ट हो उठता था।

ऊपर कहा जा चुका है कि यहाँ विचारों की स्वतंत्रता और समाजव्यवस्था की कठोरता रही। परंतु जब आधुनिक युग के प्रभाव से जातिपाँति का ढाँचा और आचार की कट्टरता टूटने लगते हैं तब विचारों की सहिष्णुता, चाहे अस्थायी तौर पर ही सही, भी टूटने लगती है और सब पर एक विचारधारा लादने की प्रवृत्ति उभरती है। भारत में शहरी शिक्षित और राजनैतिक रूप से सचेतन वर्ग में यह प्रवृत्ति लक्षित हो रही है।

फिर भी, ऐसा लगता है कि विचारों की सहिष्णुता की प्रवृत्ति नए राष्ट्र के विकास को भी प्रभावित करेगी। अल्पसंख्यकों के प्रति उचित व्यवहार, भिन्न दलों से जोड़ और राजनैतिक मतभेद और विरोध को स्वतंत्रता देने में यही प्रवृत्ति काम कर रही है। हो सकता है कि पुरानी व्यवस्था के परिवर्तन और नयी राजनैतिक संस्थाओं और प्रथाओं के निर्माण के कारण अस्थायी रूप से लोगों में अरक्षा और अस्थिरता की भावना उत्पन्न हो और इस कारण असहिष्णुता की प्रवृत्ति प्रकट हो, पर अंत में सहिष्णुता और अपने अपने ढंग पर चलने की स्वतंत्रता की पुरानी परंपरा की ही जीत होगी, जिसके कारण भारतीय सभ्यता युगों के थपेड़े खाकर भी जीवित रही है। वास्तव में आधुनिक राजनैतिक परिवर्तनों को स्वीकार करने में यही प्रवृत्ति सहायक हुई है। एक सम्मान्य सहयोगी के शब्दों में—देखना यह है कि लोगों को राजनैतिक परिवर्तनों का जो ऐतिहासिक अनुभव रहा है, वह इस नयी राजनैतिक व्यवस्था को अपनाने में कहाँ तक सहायक होता है और उनकी जातिबिरादरी और संप्रदाय आदि के प्रति निष्ठा कैसे राष्ट्रीय निष्ठा में परिणत होती है। परिवर्तन की चुनौती का किस प्रकार सामना किया जाता है यही राजनैतिक संस्कार का तत्त्व है।[12]

---

१२ आशीस नन्दा, द कन्वर आफ इंडियन पालिटिक्स एस्ट्राकटविंग पांडुलिपि (दिल्ली-सेंटर फार द स्टडी आफ डेव सोसा १९६८)।

(२) विखडित अधिकार

जीवन की इस पद्धति का एक आवश्यक तत्त्व यह माना गया है कि सत्ता विखडित, विकेन्द्रित और अस्थायी या आवतक है। भारतीय कुटुब, नातेदारी, जाति और गाव के जीवन में यही बात लागू होती है। भारत की समाजव्यवस्था मे ऊच-नीच की श्रेणिया बनी हुई है और हर श्रेणी के अधिकार और कर्तव्य बटे हुए है। जब अधिकार क्षेत्र के बारे मे सशय या विवाद पैदा होता है तभी किसी बाहरी सत्ता को इसके निर्णय के लिए बुलाया जाता है। बाहरी सत्ता का यह हस्तक्षेप इस प्रकार स्थिति विशेष मे और अस्थायी होता है लगातार नही।

सत्ता का काम निर्णय या निपटारा करना है। (जिसका अर्थ यह होता है कि विचार या न्यायनिर्णय का कार्य राजनीति का सार तत्त्व है)। यह धारणा राज्य के क्षेत्र में भी लागू की गयी। राजा या उसके प्रतिनिधि का मुख्य राजकीय काम फरियादो को सुनना और उनका फैसला करना था। शेष बातो म वह दखल न देता था और समाज अपने रास्ते चलता था। मुखिया या नेता का भी यही काम था[13] अर्थात विवादो का निपटारा करना, चाहे वह मुखिया धर्मगुरु हो या बिरादरी या गाव का चौधरी। गावो के अदर और दूसरे गावो से जो झगडे होते रहते है, उसको देखते हुए यह काम बडे महत्त्व का था लेकिन इस सत्ता या अधिकार का प्रयोग लगातार नही होता था और इसने सस्थागत रूप नही धारण किया था।[14] समाजव्यवस्था अर्थात् जातबिरादरी और गाव के विधि विधान लोगो के जीवन मे ऐसे अगीकृत हो चुके थे कि रोजमर्रे के झगडे बिना किसी बाहरी हस्तक्षेप के निपटते रहते थे। जब कभी स्थिति हाथ के बाहर हो जाती थी या विधि विधान के बारे में अनिश्चय या सदेह रहता था, खास कर परिवर्तन के काल मे तभी बाहरी सत्ता की दुहाई दी जाती थी।

ऊँचे अधिकारी या सत्ता के हस्तक्षेप की परपरा आधुनिक युग मे भी चली आई है और राजनीति में जिलाधीश या काग्रेस कमेटी के अध्यक्ष जैसे राजनीतिक नेताओ की मध्यस्थता का काफी महत्त्व है।[15] अग्रेजो के जमाने मे भी यही स्थिति थी और आज भी है। इसी परपरा के कारण औद्योगिक विवाद सबधी कानूनो में भी

---

१३ सेक्यूलर अग्रेजी में प्रयुक्त 'लीडर' शब्द का भारतीय भाषाओं म कोई पर्याय नही। अर्थफाजा 'नेता' शब्द को छोडकर इसके अन्य पर्यायवाची शब्द आदिम बिरादरी या धर्म से सबधित हैं।

१४ भारतीय गांवो की दलबदी या झगडा—तकरार के बारे में देखे - बनार्ड ने सीगल और अलन बील्स, 'द पर्वेसिव फैक्शनलिज्म' अमेरिकन एन्थ्रोपालजिस्ट, ६२ स ३, जून १९०० और भी, अलन बील्स, 'गोपालपुर - ए साउथ इन्डियन विलेज' (न्यूयार्क १९६२)।

१५ देखिए- माइरन वाइनर टेडिशनल रोल परफार्मेंस ऐंड द डेवलपमेंट आफ माडर्न पालि पार्टीज - द इडियन केस जर्नल आफ पोलि २६ स ४ १९६४।

मध्यस्थता को ऊँचा स्थान दिया गया है।[16]

अज्ञात इसी परपरा या मनोवृत्ति के कारण ऐसे मामलों को निपटाने में भी सरकार या सरकारी नेताओं के पास गुहार की जाती है, जो अन्य देशों में सरकार के कार्यक्षेत्र के बाहर समझे जाते हैं। [17] चूंकि सरकार की कल्पना मध्यस्थ या न्यायाधीश के रूप में की जाती है इसलिए स्थानीय विवादों को ऊंचे अधिकारियों के सामने पेश किया जाता है और उनके फैसले को स्वीकार किया जाता है। इसलिए यह उल्लेखनीय है कि कांग्रेस के अंदर लगातार झगडे–लडाई के बजाय ऐसा बहुत कम हुआ है कि स्थानीय विवादों में ऊंचे स्तर के नेताओं का फैसला न माना जाए (झगडों को इस प्रकार निपटाने की पूरी मशीनरी है)। इससे स्थानीय समुदायों को व्यापक राजनीतिक क्षेत्र में आने का मौका मिलता है। ऊंचे नेता भी ऊपर से फैसले लादने के बजाय समझौता कराने पर ज्यादा और बजाय एक पक्ष को दबाने के, बीच का रास्ता निकालने की कोशिश करते हैं। सगठित वर्गों और हितों के संघर्ष के बजाय दो पक्षों में समझौता कराने की यही प्रवृत्ति भारत में मोलभाव या सौदेबाजी का स्थान लेती है।[18]

कौन–से झगडे कहां ले जाए जायें, इस विषय में काफी छूट है। इस कारण सत्ता बिखरी रहती है और उसका प्रयोग भी लगातार नहीं होता। इससे सरकार के क्षेत्र का विस्तार भी चुपचाप होता रहता है। इस प्रकार वर्तमान व्यवस्था के अंदर ही काम करते हुए और बिना जबर्दस्ती किए सरकार काफी परिवर्तन लाने में सफल होती है। सत्ता विकेंद्रित या बिखरी रहती है और समाज की वास्तविक स्थिति के अधिकाधिक अनुरूप बनी रहती है।

(३) आदर्श और राजनीति

झगडों को निपटाने के साथ साथ प्रमुख वर्ग की समाज में एक भूमिका रही। उसका काम नैतिक मानदंडों की प्रतिष्ठा करना भी था। चीन जैसी अधिक केंद्रित व्यवस्था में राज्य को नैतिकता का संरक्षक और नागरिकों को नैतिक मार्ग पर

---

१६ चार्ल्स ए मायर्स–'लेबर प्राबलम्स इन इण्डियनाइजेशन आफ इंडिया (कैम्ब्रिज मैसा १९५८)। श्रमिकों के विवादों में मध्यस्थता के महत्व के बारे में वी वी गिरि–'लेबर प्राबलम्स इन इंडियन इंडस्ट्री (बंबई १९५८) और अशोक मेहता–द मीडिएटिंग रोल आफ द ट्रेड यूनियन इन अंडर डेवलप्ड कंट्रीज (इकनामिक डेवलपमेंट ऐंड कल्चरल चेंज अक्टू १९५७) झगडों के सामान्य कानूनी पक्ष के बारे में बर्नार्ड एस कोहन एंथ्रोपालॉजिकल नोट्स आन डिसप्यूट्स ऐंड ला इन इण्डिया अमे एंथ्रो ६७ स ६ दिस १९६५।

१७ अज्ञात इसलिए कि सत्ता की ओर देखने की आदत के कारण स्थानीय मामलों में उच्चतर नेताओं का प्रभाव बढा है। सरकार और ऊंचे स्तर के नेताओं ने जो महत्वपूर्ण भाग लिया है उस पर यहाँ विचार किया गया है।

१८ मायरन वीनर।

चलाने वाला माना गया है। [19] लेकिन भारत में समाज की राजा या शासन म स्वतनता की परपरा रही है और यहा राज्य को नैतिक मामला में इतनी शक्ति नही दी गइ (कौटिल्य के बावजूद) । [20] इसके बजाय यहा एक विशेष प्रमुख वग अर्थात ब्राह्मण वग को नैतिकता या धम का सरक्षक व प्रवतक माना गया। इसके साथ ही शासक या राजा से भी अपेक्षा की गयी कि वह ऐसे महान और वीरता के काय करे, जिस से उसकी प्रतिष्ठा अवतार या देवताओ के समान हो। ऐसे राजा या लोकनायक की प्रतिष्ठा और प्रभाव ब्राह्मणो या ऋषियो से कम नही होता था। ऐसे राजर्षि ब्राह्मण महर्षियो के समकक्ष होते थे ।

उल्लेखनीय यह ह कि आज के राजनीतिक नेताओ के रूप मे परपरागत ब्राह्मण और आधुनिक लौकिक नेताओ के तत्त्वा का मिलन देखने को मिलता है। आज के राजनीतिक नेता एक अथ मे आधुनिक भारत के ब्राह्मण है। इनकी इस प्रतिष्ठा का कारण कुछ तो यह है कि इन्होने महान परिवतनो को लाने मे क्रातिकारी भूमिका अदा की है। दूसरे, महात्मा गाधी और नेहरू जैसे नेताओ का महान व्यक्तित्व है। तीसरे, आज के सामाजिक जीवन मे इन नेताओ का अप्रतिम प्रभाव है। इसका एक परिणाम यह है कि नेता को नतिकता का भी सरक्षक माना जाता है और उसे उपदेश की भाषा में ऊँची ऊँची बात करनी पडती ह और ऐस लबे चौडे आश्वासन देने पडते ह, जो सभी जानते ह कि असभव ह। भारतीयो की दृष्टि मे आदश नेता वह है जिसमें ज्ञान और कम दोनो का सगम हो जो विचारक होने के साथ साथ कमठ भी हो। इसीलिए यहा नेहरू ऐसे व्यक्तियो की इतनी प्रतिष्ठा और प्रभाव है। इसलिए यहा आज के नेताओ से ऐसी बाता की अपेक्षा की जाती ह जो राजनैतिक क्षेत्र के लोगो से नही की जानी चाहिए। दूसरी ओर इसके कारण आदश और यथाथ मे नेता की कथनी और करनी म जो अतर है उस पर ज्यादा चिंता नही की जाती। इसीलिए हर क्षेत्र में गुटबदी और फूट होने पर भी ऊपर से सहमति या आम राय पर जोर दिया जाता है। इसीलिए भ्रष्टाचार के विरुद्ध बेहद शोरगुल मचाने पर भी उसके खिलाफ कार्रवाई करने की या उसे रोकने की कोई खास कोशिश नही की जाती।

---

१९ रीनकोट-पूर्वोक्त। पाइ - 'द स्पिरिट आफ चाइनीज पालिटिक्स'।

२० कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में राजा को सवशक्तिमान जैसा माना है। याद रखना चाहिए कि सिकदर के हमले के बाद फैली अराजकता में मजबूत शासक की आवश्यकता बहुत अधिक थी। इस अर्थ म अथशास्त्र की तुलना हाब्स के 'लेवियाथान' से की जा सकती है। परतु हाब्स की कल्पना, जिसमें राज्य एक सजीव सत्ता है, जो अपने अगों से भी स्वतत्र है, प्राचीन भारत में जोर नहीं पकड़ पाया। ए एल बाशम - 'द वडर देट वाज इडिया' (लदन १९५४)। रगस्वामी - 'एसेपेक्ट्स आफ इडियन स्टेट - क्राफ्ट कौटिल्य अर्थशास्त्र फार कम्पेरेटी रीडम' (बबई - १९६२)।

नैतिक वत्ति से सबधित एक प्रश्न यह भी है कि समान उद्देश्य से एक साथ काम करने में व्यक्ति और समूह एक दूसरे पर कहा तक भरोसा कर सकते हैं। यहा हिंदू मनोवृत्ति की एक विचित्र विशेषता है, एक दूसरे पर सदेह और अविश्वास की। मिल कर कोई काम किया जा सकता है, इसम हिंदू के मन में हमेशा दूसरो के प्रति सशय रहा है, खास कर सरकार या शासन के प्रति शका और अविश्वास।[23] ऊचे तबके के लोगो मे भी चाहे राजनीति मे या अय ऊचे पेशो में लोगो को अपने सहयोगियो की ओर स शक रहता है। यहा लोगो के लिए बराबरी के दर्जे पर दूसर सहयोगियों के साथ काम करना कठिन है, मातहत या ऊपर रह कर काम करने में उन्ह आसानी रहती है। सहयोगी दलो के साथ गठबधन में हमेशा अविश्वास आर अनिश्चय बना रहता है कि कब तक यह सहयोग चलेगा, सहयोगी या दूसरा व्यक्ति अपना करार पूरा करेगा या नहीं। इस परस्पर अविश्वास क कारण एक बडे या श्रेष्ठ व्यक्ति, नेता और गुरु के अनुगत होने की प्रवृत्ति रहती है।

लेकिन आधुनिक युग की आवश्यकताओ, और बडे पैमाने पर चलन वाले सामूहिक कार्यक्रमो के कारण यह मनोवृत्ति बदल रही है। फिर भी यह ध्यान योग्य है कि सहयोग और मिलकर काम करने की भावना ज्यादातर वहीं प्रकट हुई है, जहा एक चमत्कारी या महान व्यक्ति के नेतत्व मे काम किया जाता है, बजाय वहा जब एक बराबर के लोग मिल कर काम कर। गाधी और नेहरू के नेतत्व में यही स्थिति देखने को मिलती ह। गाधी को अपना स्थान छिनने का भय नही था। मगर नेहरू दूसरे नेताओ का प्रभाव बढते देख कर, उनसे अपना स्थान छिनने क प्रति शकित हो जाते थे।[24] नेहरू के बाद जब सामूहिक नेतत्व का दौर आया तब ऊचे से ऊचे नेताओ मे परस्पर अविश्वास और एक दूसरे से शंका की यही प्रवृत्ति दीख पडी। वास्तव में केन्द्रीय नेतत्व के सामने यही सबसे बडी चुनौती है कि वे बराबर के साथी और सहयोगी के रूप मे एक दूसरे का कहा तक भरोसा कर सकते हैं।

आज के भारत म सामूहिक मनोवृत्ति के विकास की चर्चा हम आगे फिर करेंगे। यहा हमे यह देखना है कि बचपन में घर और समाज के सस्कारो से और बडे होकर शिक्षा-दीक्षा से किस प्रकार उस विशिष्ट भारतीय मनोवृत्ति का विकास होता है जिसकी चर्चा हमने ऊपर की है।

---

२३ इस मनोवृत्ति का चित्रण फोर्स्टर के प्रसिद्ध उपयास 'ए पैसेज टु इंडिया' में हुआ है। और भी देखिए-मारिस कार्स्टेयर्स- 'द ट्वाइस बार्न (लदन १९५७)।

२४ टडनजी के काग्रेस अध्यक्ष चुने जाने पर नेहरू की नाराजी और उनका विरोध और अपने अतिम दिनों में कामराज योजना द्वारा प्रभावित प्रतिद्वद्वियों की सफाई, इसके प्रमाण हैं, यद्यपि दोनों ही बार नेहरू की स्थिति को कोई वास्तविक खतरा न था।

लबी चौडी बातें करने की यह प्रवत्ति आज सिद्धान्त बघारने की प्रवृति के रूप म प्रकट हुई है। याद रखना चाहिए कि भारतीय परपरा मे ऊचे आदर्शों पर हमेशा जोर दिया गया है, भले ही वे चरितार्थ न हो सकें, और आदर्शों को व्यवहार मे न ला सकने के कारण लोगो को ज्यादा दोष भी नही दिया जाता। इसके फल स्वरूप सावजनिक जोवन मे जो ढोग और पाखड आ गया है, नेताआ क कहन और करने मे, आदश और व्यवहार म, जो अतर है, उसकी भारतीय लोग ज्यादा परवाह नही करत। व्यक्तिगत जीवन म भी व्यवहार के मानदड बहुत ऊचे रखे जाते हैं, परतु उनका पालन न कर पाने पर ज्यादा परेशानी नही अनुभव की जाती। इसी कारण भारतीय राजनीति मे बात तो लबी लबी की जाती है, मगर उन पर अमल करने की ज्यादा कोशिश नही की जाती और इस पर कोई शम और विफलता या निराशा का बोध नही होता।

(४) विश्वास और अविश्वास

आदश और व्यवहार के बीच इस अतर और भारतीय मानस की इस द्वधता से एक बडा महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठता ह कि जनसमाज ने सामाजिक और राजनतिक मानदडो को कहा तक ग्रहण किया है और सामूहिक प्रयत्न मे कहा तक एक दूसरे पर विश्वास या अविश्वास किया जा सकता है। ध्यान रह कि मनुष्य के स्वभाव के प्रति भारतीय दष्टि ईसाई और कनफयूशी दृष्टि से भिन्न है। न तो यहा ईसाइया की तरह मनुष्य को स्वभाव से बुरा माना गया है, न कनफूशे की भाँति स्वभाव से अच्छा। इसलिए यहा यह नही समझा जाता कि समाज को व्यक्ति की स्वभावगत दुष्ट प्रवृतिया पर अकुश रखना चाहिए न यह कि समुचित सामाजिक सस्कार से मनुष्य की स्वाभाविक सद्प्रवतिया के प्रकट होने का अवसर मिलेगा। भारतीय दष्टि म घम या नैतिकता का सबध मुख्य रूप से व्यक्ति से स्वय है और उसका उद्देश आत्मोनति या मोक्ष है। यहा पाश्चात्य धारणा के अनुसार नैतिक कतव्य दूसरा के प्रति नही बल्कि मिल' के शब्दा मे अपने प्रति है।[२१] कम के सिद्धात के अनुसार प्रत्येक मनुष्य का कल्याण या मोक्ष उसक कर्मों पर निभर है इसलिए यहा काई ऐसा कतव्य नही जो दूसरा के प्रति हो, सभी नैतिक कतव्य अपने ही प्रति है।[२२]

---

२१ पाश्चात्य दार्शनिक काट ने अवश्य अपन प्रति नैतिक कर्तव्यों की चर्चा की है, परतु सब मिला कर, जैसा कि जान स्टुअर्ट मिल ने कहा है, पश्चिम में नैतिक कर्तव्य की धारणा मुख्यत सामाजिक है। इस विषय पर आधुनिक विचार के लिए देखें पाल डी आइसनबुर्ग, 'ड्यूटीज टु वनसेल्फ ऐंड द कमेप्ट आफ मारेलिटी' एनक्वायरी, २, स २, ग्रीष्म १९६८।

२२ इस सिद्धान्त का सम्यक् विवेचन एस के मैत्र के एथिक्स आफ द हिन्दूज (कलकत्ता-१९२५) में देखें। राजनीतिक सस्कार के लिए कर्म-सिद्धान्त की उपयोगिता के लिए देखें-नंदी, पूर्वोक्त।

नैतिक वत्ति से सबधित एक प्रश्न यह भी है कि समान उद्देश्य से एक साथ काम करने में व्यक्ति और समूह एक दूसरे पर कहा तक भरोसा कर सकते हैं। यहा हिंदू मनोवृत्ति की एक विचित्र विशेषता ह, एक दूसरे पर सदेह और अविश्वास की। मिल कर कोई काम किया जा सकता है, इसमे हिंदू के मन में हमेशा दूसरा के प्रति सशय रहा है, खास कर सरकार या शासन के प्रति शका और अविश्वास। [२३] ऊचे तबके के लागो मे भी चाहे राजनीति मे या अय ऊचे पेशो में लोगा को अपने सहयागिया की ओर से शक रहता है। यहा लोगो के लिए बराबरी के दर्जे पर दूसर सहयोगियों के साथ काम करना कठिन है, मातहत या ऊपर रह कर काम करने मे उह आसानी रहती है। सहयोगी दलो क साथ गठबधन में हमेशा अविश्वास और अनिश्चय बना रहता हे कि कब तक यह सहयोग चलेगा, सहयोगी या दूसरा व्यक्ति अपना करार पूरा करेगा या नही। इस परस्पर अविश्वास के कारण एक बडे या श्रेष्ठ व्यक्ति, नेता और गुरु के अनुगत होने की प्रवृत्ति रहती है।

लेकिन आधुनिक युग की आवश्यकताओ, और बडे पैमाने पर चलन वाले सामूहिक कायाकमा के कारण यह मनोवत्ति वदल रही है। फिर भी यह ध्यान योग्य है कि सहयाग और मिलकर काम करने की भावना ज्यादातर वही प्रकट हुई है, जहा एक चमत्कारी या महान व्यक्ति के नेतृत्व में काम किया जाता है, बजाय वहा जब एक बराबर के लाग मिल कर काम कर। गाधी और नेहरू के नेतृत्व में यही स्थिति देखने को मिलती हे। गाधी को अपना स्थान छिनने का भय नही था। मगर नेहरू दूसरे नेताआ का प्रभाव बढते देख कर, उनसे अपना स्थान छिनने के प्रति शक्ति हो जाते थे। [२४] नेहरू के वाद जब सामूहिक नेतत्व का दौर आया तव ऊचे मे ऊचे नेताआ मे परस्पर अविश्वास और एक दूसरे से शंका की यही प्रवृत्ति दीख पडी। वास्तव में केन्द्रीय नेतत्व के सामने यही सबसे वडी चुनौती है कि वे वरावर के साथी और सहयोगी के रूप में एक दूसरे का कहाँ तक भरोसा कर सकते हैं।

आज के भारत मे सामूहिक मनोवृत्ति के विकास की चर्चा हम आगे फिर करेंगे। यहा हमें यह देखना है कि बचपन में घर और समाज के सस्कारो से और बडे होकर शिक्षा–दीक्षा से किस प्रकार उस विशिष्ट भारतीय मनोवृत्ति का विकास होता है, जिसकी चचा हमने ऊपर की है।

---

२३ इस मनोवृत्ति का चित्रण फोर्स्टर के प्रसिद्ध उपन्यास 'ए पैसेज टु इंडिया' में हुआ है। और भी देखिए-मारिस कार्ल्येस- 'द ट्वाइस बान' (लदन १९५७)।

२४ टडनजी के काग्रेस अयक्ष चुने जाने पर नेहरू की नाराजी और उनका विरोध और अपने अतिम दिनों में कामराज योजना द्वारा सभावित प्रतिद्वद्वियों की सफाई, इसके प्रमाण हैं, यद्यपि दोनों ही बार नेहरू की स्थिति को कोई वास्तविक खतरा न था।

परिवार म बच्चे पर केवल माता-पिता का ही नहीं नाना, मामा, चाचा, बुआ, मौसी आदि अनेक रिश्तेदारों का प्रभाव पडता है, बल्कि पिता के लिए बच्चे म बहुत अधिक दिलचस्पी लेना उचित नहीं समझा जाता। पश्चिम की सभ्यता म पिता के आक्रमक अधिकार के फलस्वरूप पिता-पुत्र मे प्रतिद्वंद्विता की जो भावना उत्पन्न हो जाती है, वह भारत में अधिक देखने को नहीं मिलती। यहा अधिकार जताने के बजाय एक दूसरे के प्रति कर्तव्य का बोध रहता है।

दूसरे, बच्चे के सामने एक पिता का ही नमूना नहीं रहता, चाचा नाना, दादा, मामा आदि अनेकों रिश्तेदार रहते हैं, जिनसे वह स्नेह पाता है और जिनको वह नमूना बना सकता है। इससे भी अहं भाव के बजाय आदर्शवाद को ज्यादा बल मिलता है।

तीसरे, जहां एक ओर बच्चे को बहुत प्यार किया जाता है और जहां वह रोया उसे दूध पिलाया या खाना खिलाया जाता है और उसकी जरूरतें पूरी की जाती हैं, वहा यह भी है कि हर वक्त उसको लेकर परेशान भी नहीं हुआ जाता। वह पालने पर पडा रहता है। जब रोया तो उसकी जरूरत पूरी कर दी गयी, फिर उसे अकेला छोड दिया गया।[२८] बच्चा कभी एकमात्र ध्यान का केन्द्रबिंदु नहीं रहता।[२९] घर मे बहुत से लोगों के रहने से बच्चे को ज्यादा आश्वस्ति और सुरक्षा का बोध होता है, किन्तु इसी के साथ किसी एक ही व्यक्ति से उसका बहुत अधिक लगाव या तादात्म्य नहीं होता।[३०] बडे होने पर बच्चा दूसरो को देखना और सीखना शुरू करता है। यहां ऐसी मान्यता है कि बच्चा सिखाने से उतना नहा सीखता जितना दूसरों को देखकर स्वयं सीखता है। इससे बच्चे को अधिक छूट और आजादी रहती है, साथ ही उसके ऊपर अधिकार और अनुशासन का अंकुश भी ढीला रहता है।

चौथे भारत मे एक पीढी और दूसरी पीढी म या बडा छोटा मे बडा अतर या पार्थक्य नहीं है। जसे ही बच्चे कुछ बडे होते हैं, और चलने फिरने और बोलने लगते हैं, वे वयस्कों के क्रियाकलाप म भाग लेने लगते हैं। पश्चिमी समाज की तरह उन्हें जल्दी सुलाने और बडों की गोष्ठियों से अलग रखने की कोशिश नहीं की जाती। जसा कि एक भारतीय अफसर ने एक विदेशी मनोशास्त्री से कहा — आप लोग बच्चों का पालन करते हैं, हम उनके साथ रहते हैं।[३१] यहां बालक को ऐतिहासिक चक्र की सनातन क्रिया का अंग माना जाता है, और उसे जीवन के आदर्श और मूल्य चुनने की बहुत आजादी रहती है। दूसरी सभ्यताओं के देशकाल से

---

२८ मिन्नर्ने ऐंड ह्विचराक-पूर्वोक्त पृ १७।
२९ वही-३१८।
३० नारायण, पूर्वोक्त पृ १७०।
३१ मर्फी-पूर्वोक्त पृ ५१। उक्त अधिकारी भूतपूर्व शिक्षा सचिव श्री प्रेम कृपाल थे।

राजनैतिक-सामाजिक संस्कार

भारतीय समाज में व्यक्तित्व के विकास और सामाजिक संस्कारों के बारे में बहुत से अध्ययन हो रहे हैं।[२५] यहां हम कुछ निष्कर्षों को प्रस्तुत करेंगे।

(१) हर आलोचक ने यह बात लक्ष्य की है कि भारत में बच्चों को उनकी माता ही नहीं कुटुंब के और लोगों की ओर से भी बहुत-लाड प्यार और छूट मिलती है। इससे बच्चों को निराशाओं के धक्के नहीं लगते, इस कारण उनमें संघर्ष की प्रवृत्ति, सत्ता या अधिकार के प्रति विद्रोह या प्रतिरोध की वृत्ति नहीं पैदा होती और बलिष्ठ व्यक्तित्व या अहं का विकास नहीं होता। दूसरी ओर उस में आत्मविकास की सबल प्रेरणा होती है और एक आत्मनिष्ठा विकसित होती है। इसका यह नतीजा होता है कि उसकी नैतिक शक्ति का स्रोत वह अपराध या कुंठा भावना नहीं होती जो सबल व्यक्तित्व प्राप्त न कर पाने के कारण उत्पन्न होती है। उसे नैतिक शक्ति मिलती है एक व्यक्तिगत आदर्श से जिसका विकास वह स्वयं करता है। उस कार्य की प्रेरणा समाज और बाहरी सत्ता के प्रति दायित्व के भाव से नहीं बल्कि आत्मविकास और अपने से ग्रहण किये आदर्श से मिलती है। इससे असत आदमियों को ऊंचा काम कर दिखाने की प्रेरणा अधिक नहीं होती। पूर्णता का उसका आदर्श वह स्वयं स्थिर करता है कोई बाहरी सत्ता नहीं। उसके नैतिक पैमाने उसके अपने विकसित किए होते हैं। दूसरी ओर भारतीय संस्कृति कुछ सार्वजनीन ऊंचे आदर्शों का भी विकास करती है जो उच्चाकांक्षी और प्रतिभाशाली व्यक्तियों को प्रेरित करते हैं। जीवात्मा परब्रह्म परमात्मा से अभिन्न है[२६] यह धारणा उस ऊंचे से ऊंचा उठने और पूर्णता प्राप्त करने को प्रेरित करती है। इससे यह भाव उत्पन्न होता है कि उस ऊंचाई और पूर्णता को प्राप्त करना मामूली आदमी के बस की बात नहीं।[२७] इसी कारण यहां गुरु, संन्यासी या महान पराक्रमी और चमत्कारी व्यक्तियों का इतना महत्त्व और प्रभाव है।

(२) भारतीय कुटुम्ब या परिवार व्यवस्था का बच्चे पर ऐसा प्रभाव पड़ता है जिससे उपयुक्त प्रवृत्तियों को बल मिलता है। एक तो यह है कि संयुक्त या बड़े

---

२५ देखें- पी एम नायडू 'मिस्ट्री आफ द माइन्ड' (इलाहाबाद १९५४)। गार्डनर मर्फी - 'इन द माइन्ड्स आफ मैन' (न्यूयार्क १०५३) अध्याय ४, वही मारिस कार्स्टेयर्स। धीरेन्द्र नारायण - हिंदू कैरेक्टर ए फ्यू ग्लिम्पसेज (बम्बई १९५७) अध्याय ७, बीट्रिस वा. टिंग, सन्मति - सिक्स कल्चर्स स्टडीज आफ चाइल्ड रीयरिंग (न्यूयार्क १९६३) में - द राजपूत्स आफ खलापुर - ले मिन्टर्न और जान हिचकाक तथा फिलिप स्प्रैट 'हिंदू कल्चर ऐंड पर्सनालिटी - ए साइको अनालिटिक स्टडी' (बम्बई १९६६)।

२६ स्प्रैट इसे 'बहिर्मुखी निजत्व' (प्रोजेक्टिव एक्सट्रोवर्शन) कहता है अर्थात सब या सारे विश्व से तादात्म्य की प्रवृत्ति।

२७ कार्स्टेयर्स-पूर्वोक्त पृ ५१।

परिवार म बच्चे पर केवल माता-पिता का ही नही नाना, मामा, चाचा, बुआ, मौसी आदि अनेक रिश्तेदारो का प्रभाव पडता है, बल्कि पिता के लिए बच्चे मे बहुत अधिक दिलचस्पी लेना उचित नही समझा जाता। पश्चिम की सभ्यता मे पिता के आक्रमक अधिकार के फलस्वरूप पिता-पुत्र मे प्रतिद्वंद्विता की जो भावना उत्पन्न हो जाती है, वह भारत मे अधिक देखने को नही मिलती। यहा अधिकार जताने के बजाय एक दूसरे के प्रति कर्तव्य का बोध रहता है।

दूसरे, बच्चे के सामने एक पिता का ही नमूना नही रहता, चाचा, नाना, दादा, मामा आदि अनेको रिश्तेदार रहते है, जिनसे वह स्नेह पाता है और जिनको वह नमूना बना सकता है। इससे भी अहं भाव के बजाय आदर्शवाद का ज्यादा बल मिलता है।

तीसरे, जहा एक ओर बच्चे को बहुत प्यार किया जाता है और जहा वह रोया उसे दूध पिलाया या खाना खिलाया जाता है और उसकी जरूरते पूरी की जाती है, वहाँ यह भी है कि हर वक्त उसको लेकर परेशान भी नही हुआ जाता। वह पालने पर पड़ा रहता है। जब रोया तो उसकी जरूरत पूरी कर दी गयी, फिर उसे अकेला छोड दिया गया।[२८] बच्चा कभी एकमात्र ध्यान का केन्द्रबिंदु नही रहता।[२९] घर म बहुत से लोगो के रहने से बच्चे का ज्यादा आश्वस्ति और सुरक्षा का बोध होता है किन्तु इसी के साथ किसी एक ही व्यक्ति से उसका बहुत अधिक लगाव या तादात्म्य नही होता।[३०] बडे होने पर बच्चा दूसरो को देखना और सीखना शुरू करता है। यहा ऐसी मान्यता है कि बच्चा सिखाने से उतना नही सीखता जितना दूसरो को देखकर स्वय सीखता है। इससे बच्चे को अधिक छूट और आजादी रहती है, साथ ही उसके ऊपर अधिकार और अनुशासन का अंकुश भी ढीला रहता है।

चौथे भारत म एक पीढी और दूसरी पीढी म या बडा छोटा मे बडा अतर या पार्थक्य नही है। जैसे ही बच्चे कुछ बडे होते है, और चलने फिरने और बोलने लगते है, वे वयस्को के क्रियाकलाप मे भाग लेने लगते है। पश्चिमी समाज की तरह उन्हे जल्दी सुलाने और बडो की गोष्ठियो से अलग रखने की कोशिश नही की जाती। जैसा कि एक भारतीय अफसर ने एक विदेशी मनोशास्त्री से कहा— आप लोग बच्चो का पालन करते है, हम उनके साथ रहते है।[३१] यहा बालक को ऐतिहासिक चक्र की सनातन क्रिया का अग माना जाता है, और उसे जीवन के आदर्श और मूल्य चुनने की बहुत आजादी रहती है। दूसरी सभ्यताओ के देशकाल से

२८ मिटर्न ऐन्ड हिचराक-पूर्वोक्त पृ १७।
२९ वही-३१८।
३० नारायण, पूर्वोक्त पृ १७९।
३१ मर्फी-पूर्वोक्त पृ १। उक्त अधिकारी भूतपूर्व शिक्षा सचिव श्री प्रेम कृपाल थे।

सीमित प्रतीको क कारण जो रोक या सीमाए रहती है, भारत म उनका अधिक प्रभाव नही रहता। इस कारण भी यहा आक्रमक व्यक्तित्व या अह का विकास नही होता।

(३) बालक क पूर्वोक्त सस्कारा म भारतीय व्यक्तित्व की एक और विशेषता लक्षित होती है। यह है अनेकता और विभिन्नता का स्वीकार करने की प्रवत्ति। चूकि आक्रामक अह और महत्वाकाक्षा कम होती है, इसलिए एक ही मूल्या और मानदडा के अनुरूप बनने की मजबूरी या दवाव नही होता। चूकि मुख्य नतिक आदश आत्मविकास होता है इसलिए किसी एक आचार या नमूने पर चलने की मजबूरी भी नही होती। बचपन म जो सस्कार पडे होते है उससे भी इस विश्वास को बल मिलता है कि प्रत्येक व्यक्ति का उद्धार और मोक्ष उसके ही हाथा मे है। इसीलिए आदश और व्यवहार म अतर होने पर आकाक्षा या ध्येय म विफलता या त्रुटि हो जाने पर अधिक ध्यान नही दिया जाता। आखिर सभी मनुष्य एक समान तो नही। इस प्रकार कथनी और करनी की द्वैधता, आदश और आचार की भिन्नता सोचने-विचारने के अतर, को स्वीकार किया जाता है। कुटुब मे व्यक्तित्व के जो अनक नमूने बच्चे के सामने रहत है उससे भी इस प्रवत्ति को बल मिलता है।

(४) दूसरी ओर इस विभिनता और अनिश्चितता मे एकरूपता और निश्चितता स्थापित करने की प्रवत्ति भी लक्षित होती है। इसके लिए विधिविधान और कम-काड के कठोर नियम बनाए गए है और बडे-छोटे आचाय-अनुगत सबध स्थापित किए गए ह। यहा भी कौटुबिक और सामाजिक सस्कार सहायक होते है। मध्य वग के हिंदू घरो में बालक को माता और बडी बूढिया स इतना प्रम और सार सभाल मिलती है कि बडे होने पर भी उसम दूसरो पर आश्रित रहने की आदत पड जाती है। इसके साथ ही उसमे मा बाप और बडा के आज्ञापालन की भी आदत पड जाती है। जब वह समाज मे आता है तब वहा भी उसकी यह आदत बनी रहती है। बुजुर्गो और बडा की बात मानने, उनकी इज्जत करने और निर्धारित विधिविधान और रीतिरिवाज पर अमल करने की उसम सहज प्रवृत्ति होती है। विदेशी आलोचका ने लक्ष्य किया है कि भारतीय अधिकारिया और राजनीतिका के साथ मातहता अनुगता चपरासिया, क्लर्को का कितना बडा लवाजमा रहता है और जीवन के हर क्षेत्र मे वरिष्ठ या सीनियरा का कितना अदब किया जाता है। इसके फलस्वरूप ऊचे अधिकारिया की क्षमता में अधविश्वास-सा उत्पन्न हो जाता ह।[१२] और अपने स ऊच अधिकारा पर जिम्मेदारी और निणय टालने

१२ इसालिए भारत में महान नेता के पीछे चलने की प्रवृत्ति है और उसम अलौकिक गुणों का आरोप कर दिया जाता है। यहाँ नेता या अर्थ श्रेष्ठ नहीं बल्कि अतिमानुष योगी या अवतार का है, जिसमें साधारण जन की कमजोरियाँ नहीं होतीं। जबकि बाहर गाँधी को महज शांतिवादी समझा जाता था, यहाँ व चमत्कारी पुरुष माने जाते थे जिनने अकेले इस शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य से लोहा लिया।

की प्रवत्ति रहती है तथा अपने बराबर के आदमियो से व्यवहार करते समय एक खटका-सा लगा रहता है। (भारतीय कुटुम्ब म भाइयो-बहनो मे प्रतिद्वद्विता देखने को नही मिलती। क्योकि अपने मे बडे भाई या बहन का अदब सहज स्वभाव बन जाता है। इसी बडे-छोटे सबध और अदब-लिहाज के कारण बराबरी का व्यवहार करने में अनखुस लगता है)।

(५) इससे एक बात यह निकलती है कि कौटुबिक और बडे-छोटे सबधो को छोडकर बाकी सब व्यवहार म भारतीय दूसरो को शक और अविश्वास की निगाह स देखते हैं। यह रुख इस बात से उत्पन्न होता है कि एक ओर भारतीय समाज मे बालक को बेहद प्यार दिया जाता है और हाथो हाथ लिया जाता है और दूसरी ओर वयस्क जीवन का आदर्श आत्मसयम और आत्मविकास का है। जैसे जैसे बालक बडा होता है इस आदश पर जोर दिया जाता है और वयस्क लोगो का रुख उसके प्रति अप्रत्याशित रूप मे रूखा और कठोर होता जाता है। इससे उसके मन में अरक्षा और अस्थिरता का भाव पैदा हो जाता है।[33] पहले तो बहुत दिनो तक बालक पर माता की छाया रहती है, फिर एकदम वह हट जाती है। पहले तो वह दूध पिलाना बद कर देती है पिता की ओर या उससे छोटे बहन-भाई की ओर ज्यादा ध्यान देने लगती है, और कामो में फस जाती है। लेकिन यह स्थिति तो सभी समाज में आती है। विशेष बात यह है कि भारत मे बच्चे के जीवन मे यह स्थिति काफी देर मे आती है, जिसम वह बहुत परेशान हो जाता है। जिस दुनिया पर वह राजा की तरह शासन करता था, वह एकदम से बदल जाती है। इससे मन में अस्थिरता, अविश्वास और ऐसे प्रतीक और सहारा ढूढने की प्रवत्ति आ जाती है जिस पर भरोसा किया जा सके।

बचपन मे हाथो हाथ लिए जाने के कारण जीवन मे आशावाद का दष्टिकोण उत्पन्न होता है जो अक्सर यथार्थ से परे होता है। (इसी आशावादी दष्टिकोण के कारण विदेशियो को यह प्रतीत होता है कि भारतीय व्यवहार म बडे उदार और भले होते है, मगर इसके साथ ही उनमें अपने को सही समझने और दूसरो को उपदेश देने की आदत भी होती है)। बच्चे होने पर माता का आश्रय सहसा छिन जाने पर उसके मन मे निराशा का भाव आ सकता है। आत्मा की उन्नति का अत्यत ऊचा आदर्श भी उसमे, विशेषकर अधिक प्रतिभाशाली और भावक व्यक्तियो मे अपनी अपूर्णता और निराशा का भाव भर देता है। इस कारण आत्मालोचन और आत्मनिग्रह की प्रवत्ति पैदा होती है। यहा तो व्यक्ति को सबसे ज्यादा स्वस्ति या तो अपने कुटुब से मिलती है या अपने निकट के नातेदारो और बिरादरी से। परिवार के बाहर जाने पर भी वह लोगो से कौटुबिक सबध स्थापित करने की कोशिश करता है। गाधीजी का 'बापू' का रूप इसका उदाहरण है। बडे-छोटे

३३ कार्स्टेयर्स - पूर्वोक्त।

मा सबध भारतीया के सस्कार में ऐसा मिला हुआ है कि यह समानता के आदश के चरिताथ होने में बाधक बन गया है।

मगर इसक साथ ही हम यह भी मानत हैं कि बचपन क सस्कार ही सब कुछ नही है। इसके साथ ही व्यक्ति अपने अनुभव स और सामाजिक जीवन से लगातार सीखता रहता है। भारतीय सस्कृति की विशेषता नए तत्वा को ग्रहण करने की रही है। इसी स यह जीवित रह सकी है। अस्तु हमें देखना यह है कि आधुनिकता की महान चुनातिया का इसने किस प्रकार सामना किया है।

परपरा का आधुनिकीकरण

हमने देखा है कि किस प्रकार विभिन्ननामयी आर राजनीतिनिरपेक्ष भारतीय सस्कृति न आधुनिक राज्यव्यवस्था को अपनाया। अब हमें यह देखना है कि आधुनिक राज्यव्यवस्था और उसके निर्माताआ ने किस प्रकार इस राजनीति-निरपेक्ष सस्कृति की परपराआ या रूढिया का सामना किया। भारत जैसी प्राचीन सस्कृति का बार बार नयी चुनौतिया और नयी सभ्यताआ के हमलो का सामना पडा। इसक लिए उसने जरूर कुछ ऐसी परिपाटिया का विकास किया होगा जिनके बल पर वह इन चुनातिया को झेल सकी। इनने अधिक विविध तत्वा को वह एक सास्कृतिक सूत्र म बाध सकी इसस सिद्ध है कि विविधता को पूरा स्थान देते हुए भी उसन कुछ ऐस मानदडा का विकास किया होगा, जिन्हें सब स्वीकार करते हो। एकता क ये मानदड भारतीय मनीषा क अग बन गए हैं। किस प्रकार आधुनिकता क प्रतिपादका ने इन मानदडा को ग्रहण किया या बदला इसे समझने के लिए हम पहल उन मानदडा की चर्चा करगे जो आधुनिकता की राह में बाधक प्रतीत होत ह।

परपरा की नयी व्याख्या

भारतीय सभ्यता की मान्यता है कि विभिन्न जाति, लिंग, श्रेणी और पद के अनुसार धम या नतिक मानदड भी भिन्न भिन्न होते ह। इसलिए मतभेद या क्रांतिकारी आदोलना का विरोध या दमन करने के बजाय उनको सहन करने का रुख रहता था। यह समझा जाता था कि प्रत्यक नया या भिन्न मत उसी एक मूल सत्य की भिन्न भिन्न अभिव्यक्ति है। इस धारणा के कारण अपन ही मत को सही और बाकी सबको गलत समझने की कट्टरता नही आती थी और समझौता व सहमति को अच्छा समझा जाता था। राजनीति म यह प्रवत्ति अच्छी नही सिद्ध हुई, क्याकि इसक कारण यहाँ चाणक्य क एकतत्र और प्राचीन गणराज्या के लोकतत्र, दोना प्रवत्तिया को स्थान दिया गया।

पिछली दो शताब्दिया की क्रातिकारी राजनतिक विचारधारा के बावजूद प्राचीनता

और परपरा को भी मान्यता देने की उक्त प्रवृत्ति समाप्त नही हुई। इस स्थिति का सामना आधुनिकता के प्रवर्तकों ने किस प्रकार किया ? पहले तो राजा राममोहन राय से लेकर गाधीजी तक सुधारकों ने पुरानी मान्यताओ को नया रूप देने की कोशिश की और व्यक्ति के विवेक तथा राजनैतिक और सामाजिक जिम्मेदारी व कर्तव्य की भावना का प्रतिपादन किया। भारतीय संस्कृति की परपरागत ग्रहणशीलता के बल पर पाश्चात्य संस्कृति के तत्त्वो का भी ग्रहण करने की कोशिश की गयी।

पुरानी परपरा जीवन के विभिन्न क्षेत्रों के अलग मूल्य और मानदंड स्वीकार करने की थी। इस प्रवृत्ति के बल पर राजनीतिक क्षेत्र के अलग मूल्य और नैतिक मानदंड निर्धारित किए गए। इस प्रकार पहले ब्रिटिश शासन के विरुद्ध राष्ट्रीय आंदोलन और स्वतंत्रता के बाद नयी राजनैतिक सत्ता का जन स्वीकृति और मान्यता मिली। देश में सांस्कृतिक विभिन्नता की परपरा चली आ रही थी, इससे भी नयी राजनैतिक सत्ता नए राष्ट्रीय राजनैतिक संस्कारों का प्रतिनिधि और प्रतिष्ठापिका के रूप मे स्वीकृत हुई। इस प्रकार नयी लौकिक सत्ता, देश का विभिन्न प्राचीन संस्कृति धाराओ को जोडने वाली कडी के रूप मे प्रतिष्ठित हुई। इस प्रक्रिया मे आधुनिकता के नए नेताओ की विचारधारा और मूल्य नयी राजनैतिक व्यवस्था म सबद्ध हुए और जनता में फैलने का मौका पा सके। दूसरी ओर ये नए नेता पश्चिम की भौतिकतावादी संस्कृति से अनेकता मे एकता की पुरानी भारतीय परपरा का ऊंचा बताते रहे और इस प्रकार भारत की महानता बखानते रहे। श्रेष्ठता की इस भावना म पश्चिमी राजनीति अर्थ और समाज तंत्र के विधि-विधान को ग्रहण करनें में जो अपमान या छोटेपन का भाव होता, वह घुल सा गया।[३४]

विरोधाभासो मे एकता स्थापित करने की अद्वैतवादी परपरा राजनीति में भी सहायक हुई। नयी राजनीतिक व्यवस्था समाज के विभिन्न तत्त्वो के बीच मध्यस्थता और बीचबिचाव की भूमिका अदा करने लगी और इस प्रकार समाज में फैलने लगी। एक ओर गावो में पंचायत की परपरा थी जो स्थानीय मतभेदो का निपटाती थी, दूसरी ओर व्यापक सांस्कृतिक एकता की परपरा थी। इन दोनो के बीच अब मध्यवर्ती राजनीतिक व्यवस्था विकसित हुई, जो क्षेत्रों और अनेक समूहों को

---

३४ लूसियन पाइ- द स्पिरिट आफ चाइनीज पालिटिक्स - में कहता है कि चीन को इस बात से बहुत अपमान का बोध हुआ कि उसे राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्र में पश्चिम की श्रेष्ठता को स्वीकारना पड़ा। पश्चिमी अर्थ और राजतंत्र की विधियों को ग्रहण करने मे भारत के परपरागत सांस्कृतिक मूल्यों पर कोई असर नहीं पड़ा इसलिए राष्ट्रीय अपमान की वह भावना यहाँ नहीं बोध हुई।

मतभेदो के प्रति सहिष्णुता की पुरानी परपरा नए नेताओ के हाथ में भिन्न भिन्न भाषा और धर्म के अनुयायियो के बीच एकता स्थापित करने और सेकुलर (धर्म-निरपेक्ष) समाज की रचना मे सहायक बनी।[३९] इसी प्रकार पुरानी त्याग और भाग्यवाद की प्रवृत्ति के द्वारा जनता को कष्टसहन, अपनी आकाक्षा का दमन और आवश्यकताओ को सीमित करने का प्रेरित किया जा सका। इतिहास के प्रति उदासीनता की पुरानी प्रवृत्ति नए इतिहास के निर्माण मे सहायक हुई, क्योकि इससे नेताओ को देश के निर्माण का, अपनी आर्थिक व राजनीतिक नीतियो का कार्यान्वित करने का और जनता पर अपना प्रभाव जमाने का समय मिला। धीमे धीमे जसे राजनतिक और आर्थिक नीतियाँ फलित होने लगी, पुरानी मनोवृत्ति और दृष्टि को बदलने में भी आसानी होने लगी। इसके लिए पुरानी परपरा की नयी व्याख्या की जाने लगी। आध्यात्मिक क्षेत्रो के बजाय आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्रो में भारत की शानदार सफलता पर जोर दिया जाने लगा प्राचीन भारत के गौरवशाली साम्राज्यो और उद्योग-व्यापार में समृद्धि का वणन किया जाने लगा। भिन्न भिन्न जाति और भाषा वर्गों ने अपनी उच्चाकाक्षा को सहारा देने के लिए अपने गौरवमय अतीत के इतिहास की शोध की। इस प्रकार भारत के मानस म परिवतन हुआ और लोगो का इस बात का बोध होने लगा कि हम एक नए युग का, इतिहास का निमाण कर रहे है।[४०]

धम और कम के दो सिद्धान्त भारतीय जीवन के आधारस्तम्भ थे। आधुनिक काल में इनके भी सदर्भ बदले। जबकि प्रत्येक जाति, वर्ण या पेशा के धम या कर्तव्य निश्चित थे, कम के सिद्धान्त में मनुष्य को पूवनिश्चित कर्तव्य या धम के बधन स स्वतत्रता की गुजाइश थी, क्योकि प्रत्येक मनुष्य का प्रारब्ध उसके कर्मों स ही निर्मित होता है। नए युग के विचारो के प्रभाव से व्यक्ति के कतव्य और अधिकारो पर जोर दिया जाने लगा और पुरानी जाति-व्यवस्था के बधन ढीले हुए और धम या कर्तव्य की पुरानी धारणा बदली।

पुरानी ऊची जातियो का प्रयत्न यही था कि राजनीति उन्ही के अधिकारक्षेत्र म रहे। किंतु बहुसख्यक छोटी जातियो के लिए राजनीतिक काय ऊपर चढने का साधन हो गया। गाधीजी तथा अन्य राष्ट्रीय नेताओ ने विदेशी शासन के साथ साथ सामाजिक अन्याय, ऊचनीच, छुआछूत के विरोध को दबी हुई जनता का धम माना। इस प्रकार धम के सिद्धान्त का प्रयोग उस पुरानी व्यवस्था को बनाए रखने

३९ नदा—पूर्वोक्त।

४० भारतीय मानस के इस परिवतन में नैतिक कर्तव्य की पुरानी धारणा भी बदली। जैसा हम पहले कह चुके हैं, भारत में नैतिक कर्तव्य या धम का सबध स्वय अपने से था दूसरों स नहीं। धम या नैतिकता का ध्येय आत्मोन्नति या मोक्ष था। अब गाधीजी ने इस सिद्धान्त का प्रवतन किया कि समाज या लोकसेवा आध्यात्मिक उन्नति का द्वार है।

जाडती है।[३५] इस प्रकार विरोधी पक्षों में समन्वय लाने की प्रवृत्ति जारी रही। आधुनिक राजनैतिक दलों की पद्धति में इसी प्रवृत्ति का निदर्शन है। इन दलों में सहमति का आधार नीति या कार्यक्रम नहीं गुटों या धडों में समझौता कराने की आवश्यकता होती है। बहुमत और जनता के प्रतिनिधित्व के नए सिद्धान्त, समझौते और सौदेबाजी की नयी राजनीति के तत्त्व है। विरोधी तत्त्वों में एकता स्थापित करने की पुरानी प्रवृत्ति नयी राजनीति में भी आयी है और इस प्रकार आधुनिक लोकतंत्री राजनीति भारतीय समाज में स्वीकृति पा सकी है। स्वीकृति पाने का दूसरा कारण इसकी उपयोगिता और तत्काल अनुरूपता भी है।[३६]

अद्वैत या अनेकता में एकता की इस धारणा के साथ इतिहासचक्र और समय चक्र की भारतीय धारणा भी है। इस धारणा के अनुसार इतिहास और समय का चक्र निरंतर घूमता रहता है और भूत भविष्य और वर्तमान काल के निरंतर घूमने वाले चक्र के आरे जैसे है। उत्थान पतन और परिवर्तन के इस अनादि और अनंत क्रम को रोकने की शक्ति मनुष्य में नहीं। मनुष्य इतिहास का बना नहीं सकता, वह इतिहासचक्र की अनिवार्य परंपरा का मूक और विवश दर्शक है। इसलिए निवृत्ति और त्याग का मार्ग श्रेयस्कर है। भाग्यवाद की इस प्रवृत्ति को आधुनिक भारत के नेताओं ने स्वीकार नहीं किया क्योंकि वे तो इतिहास का निर्माण करना चाहते थे और भारत को महान राष्ट्रों के बराबर स्थान दिलाना चाहते थे। परंतु जब गांधी ने इस निवृत्ति और त्याग की प्रवृत्ति को अपने सत्याग्रह में स्थान दिया तब भारतीय राष्ट्रीयता में एक नयी शक्ति आयी। गांधी ने त्याग और तपस्या का प्रयोग इतिहास को बदलने वाले अपने आंदोलन में किया।[३७] विदेशी राज्य की कठोर वास्तविकता की निष्क्रिय उपेक्षा के स्थान पर गांधी ने सत्य और अहिंसा पूर्वक उससे असहयोग का रास्ता अपनाया। अपने आत्मबल और त्याग तथा सेवामय जीवन से उन्होंने राष्ट्र के समक्ष बहुत ऊंचा आदर्श प्रस्तुत किया और अपने आंदोलन को बहुत नैतिक शक्ति और उच्चता प्रदान की।[३८]

---

३५ अध्याय ४-५ में वर्णित 'मध्यवर्ती व्यवस्था'।

३६ इन प्रसंगों में मैंने आशीस नंदी के निबंध का उपयोग किया है और इसके लिए मैं उनका आभारी हूं।

३७ गांधीजी का समयपालन का आग्रह, कालचक्र की इस गति को प्रभावित करने की इच्छा का प्रतीक है। गांधी हर चीज को समय से नापते थे। उनकी कमर से हर समय घड़ी लटकती रहती थी। प्रो. निर्मल बसु के कथनानुसार, समय पालन को गांधीजी सत्य की साधना का अनिवार्य अंग मानते थे।

३८ देखें- एरिक एच एरिक्सन 'गांधीज आटोबायोग्राफी - द लीडर एज ए चाइल्ड' द अमेरिकन स्कालर ३५ सं ४ — शरद १९६६। तथा सुसन्ना होबर रुडाल्फ - द न्यू करेज - एन एसे आन गांधीज सायकोलॉजी' वर्ल्ड पालिटिक्स १६ नं १ अक्टू. १९६३।

मतभेदा के प्रति सहिष्णुता की पुरानी परपरा नए नेताओ के हाथ मे भिन्न भिन्न भाषा और धम के अनुयायियो के बीच एक्ता स्थापित करने और सेकुलर (धम-निरपेक्ष) समाज की रचना में सहायक बनी ।[39] इसी प्रकार पुरानी त्याग और भाग्यवाद की प्रवत्ति के द्वारा जनता को कष्टसहन, अपनी आकाक्षा का दमन और आवश्यक्ताओ को सीमित करने को प्रेरित किया जा सका। इतिहास के प्रति उदासीनता की पुरानी प्रवृत्ति नए इतिहास के निर्माण में सहायक हुई, क्योकि इससे नेताओ को देश क निर्माण का, अपनी आर्थिक व राजनीतिक नीतिया को कार्यान्वित करने का और जनता पर अपना प्रभाव जमाने का समय मिला। धीमे धीमे जैसे राजनतिक और आर्थिक नीतिया फलित होने लगी, पुरानी मनोवत्ति ओर दष्टि को वदलने में भी आसानी होने लगी। इसके लिए पुरानी परम्परा की नयी व्याख्या की जाने लगी। आध्यात्मिक क्षेत्रो के बजाय आर्थिक और राजनतिक क्षेत्रो में भारत की शानदार सफलता पर जोर दिया जाने लगा प्राचीन भारत के गौरवशाली साम्राज्यो और उद्योग–व्यापार में समद्धि का वणन किया जाने लगा। भिन्न भिन्न जाति और भाषा वर्गों ने अपनी उच्चाकाक्षा को सहारा देने क लिए अपने गौरवमय अतीत के इतिहास की शोध की। इस प्रकार भारत के मानस मे परिवतन हुआ और लोगा को इस बात का बोध होने लगा कि हम एक नए युग का, इतिहास का निमाण कर रहे है।[40]

धम और कम के दो सिद्धान्त भारतीय जीवन के आधारस्तम्भ थे। आधुनिक काल म इनके भी सदभ बदले। जबकि प्रत्येक जाति, वण या पशे के धम या कतव्य निश्चित थे, कम के सिद्धान्त मे मनुष्य को पूवनिश्चित कतव्य या धम के बधन स स्वतन्त्रता की गुजाइश थी, क्योकि प्रत्येक मनुष्य का प्रारब्ध उसके कर्मों से ही निर्मित होता है। नए युग के विचारा के प्रभाव स व्यक्ति के कतृत्व और अधिकारा पर जार दिया जाने लगा और पुरानी जाति-व्यवस्था के बधन ढीले हुए और धम या कतव्य की पुरानी धारणा बदली।

पुरानी ऊची जातियो का प्रयत्न यही था कि राजनीति उन्ही के अधिकारक्षेत्र म रहे। किंतु बहुसख्यक छोटी जातिया के लिए राजनीतिक काय ऊपर चढने का साधन हो गया। गाधीजी तथा अन्य राष्ट्रीय नेताओ ने विदेशी शासन के साथ साथ सामाजिक अन्याय, ऊचनीच, छुआछूत के विरोध को दबी हुई जनता का धम माना। इस प्रकार धम के सिद्धान्त का प्रयोग उस पुरानी व्यवस्था का बनाए रखने

[39] नदा—पूवोक्त।

[40] भारतीय मानस के इस परिवतन में नैतिक कतव्य की पुरानी धारणा भी बदली। जैसा हम पहले कह चुके हैं, भारत में नैतिक कर्तव्य या धम का सबध स्वय अपने से था दूसरों स नहीं। धम या नैतिकता का ध्येय आत्मोन्नति या मोक्ष था। अब गाधीजी ने इस सिद्धान्त का प्रदर्शन किया कि समाज या लोकसेवा आध्यात्मिक उन्नति का द्वार है।

के बजाय, उसे नष्ट करने के लिए किया गया जिसके नीचे लोग सदियों से दबे हुए थे।[४१] इन दबी हुई और उन्नति की ओर उन्मुख जातियों ने ऐसे ग्रंथ और जातीय इतिहास खोज निकाले जिससे उनके ऊँचे पद के दावों का समर्थन होता था।[४२] पुरानी चीजों को पुनर्जीवित करने की इस प्रवृत्ति को आधुनिकतावादी अच्छा नहीं समझते, किंतु इस क्रम में पुराने प्रतीकों के अर्थ और मूल्य भी बदल रहे हैं।[४३] इससे पता चलता है कि पुरानी परंपरा को किस प्रकार नए प्रयोजन के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है और नए विचार व मूल्य किस प्रकार पुरानी बातों को प्रभावित कर रहे हैं।

एक बात यह ध्यान देने की है कि राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान और स्वतंत्रता के बाद भी पुराने पाश्चात्य रंग में रंगे नेताओं का स्थान प्राचीनताप्रेमी आधुनिकतावादी नेता ले रहे हैं। अध्याय ५ में हम इसकी चर्चा कर चुके हैं। गांधी और उनके महान अनुयायी भारतीय परंपरा के प्रेमी होने के साथ साथ पुरातनपंथी दकियानूसीपन से मुक्त थे, इसके साथ ही वे अंगरेजियतपसंद बौद्धिक नेताओं की भांति जनता से दूर दूर नहीं रहते थे। इसी कारण वे राष्ट्र को प्रभावित कर सके और एक ही दशक के अंदर समूचे राष्ट्र की विचारधारा और उसके इतिहास को बदल सके।

स्वतंत्रता के बाद वालिग मताधिकार दिए जाने के फलस्वरूप पुरानी पीढ़ी के नेताओं के हाथ से निकल कर शक्ति राज्य, जिला और गांव स्तर के नेताओं, जातीय सभाओं, ग्राम पंचायतों और सहकारी संगठनों के हाथ में चली गयी। ये नए नेता भी नेहरू की ही भाषा में बोलते हैं और लोकतंत्र व समाजवाद की दुहाई देते हैं, परंतु उनका संगठन और बोलने का ढंग जनता के ज्यादा करीब है। धार्मिक और जातीय प्रतीकों की उनकी व्याख्या जनता को ज्यादा प्रभावित करती है। वे धार्मिक और लौकिक क्षेत्रों को जोड़ते हैं और इस प्रकार राष्ट्रीय राजनैतिक संस्कार के साधन हैं।[४४]

४१ स्वतंत्रता के बाद नेहरू ने बार बार इस बात पर जोर दिया जिसे गांधीजी पहले कह चुके थे, अर्थात् भारत को स्वयं अपनी बुराइयों से युद्ध करना है।

४२ इस प्रवृत्ति में पुराने भाट और चारणों की ख्यातें सहायक हुईं। देखें–ए एम शाह और श्रॉफ 'द वहीवांचा बारोटस आफ गुजरात–ए कास्ट आफ जीनियालाजिस्ट्स एंड माइथोग्राफर्स' मिल्टन सिंगर संपादित–'ट्रैडीशनल इंडिया स्ट्रक्चर ऐंड चेंज' (फिलाडेल्फिया १९५९)।

४३ इसी प्रकार पुरानी न्याय की धारणा की भी नयी व्याख्या की गई। इसका अर्थ मनुष्यमात्र की समानता और करुणा माना गया। समाजसुधारकों ने भूतदया और धरोहर या ट्रस्टी के सिद्धांत का भी प्रयोग सामाजिक न्याय के प्रतिपादन के लिए किया।

४४ देखें – मारिस जोन्स 'इन्डियन पोलिटिकल इन्स्टिट्यूशन्स'– फिलिप्स संपादित – पालिटिक्स ऐंड सोसाइटी इन इंडिया' (लंदन १९६३)

नेतृत्व म इस परिवर्तन के साथ साथ उससे भी बडा परिवतन सस्थागत और समाज व राज के ढाचे में है। हमने देखा है कि विभिन्नता से भरे इस देश मे एकता का सूत्र समाज की बडे छोटे की सोपानपरपरा और उससे सबधित विधिविधान रहे। अध्याय दो से पाच तक हमने इस ढाचे मे जो परिवतन आए है, उनकी चर्चा की है। पहले तो ब्रिटिश शासन ने पुराने ऊच-नीच के सामाजिक ढाचे में परिवतन किया, फिर राष्ट्रीय आदोलन ने और भी अधिक परिवतन किए। स्वतत्रता के बाद नयी सरकार ने जो कदम उठाए उससे पुरानी व्यवस्था और उसके विशेषाधिकारा को गहरा धक्का लगा।

ये परिवतन प्रत्यक्ष है। पुराने सामन्ती अधिकार और ऊच नीच सबध खतम कर दिए गए। गावो का एकाकीपन या राष्ट्रीय जीवन मे अलगाव दूर कर दिया गया और नयी अधिकारयुक्त सस्थाआ का निर्माण किया गया।[४५] पुरानी व्यवस्था, जिसम हर जाति या समूह के काय, अधिकार और मानमर्यादा निश्चित थी, नष्ट हो गयी और उसके बजाय हजारा लाखो समूहा व समुदायो को सरकार, चुनाव, राजनीतिक दल और शासन के अधिकारीवग मे शामिल होने का मौका मिला।

बालिग मताधिकार और समय समय पर होने वाले चुनावा ने ऊचनीच की धारणा को नष्ट करके सबको बराबरी की श्रेणी मे ला दिया। एक विख्यात विद्वान के शब्दा मे-

"बिना सपत्ति या शिक्षा की शर्त के हर बालिग को वोट दने का अधिकार आधुनिक राजनीतिक समाज की स्थापना का सबसे जबदस्त साधन है। इसके साथ और परिवतन भी जरूरी है, लेकिन जब बार बार देश की पूरी बालिग जनता को देश की सरकार का बनाने या बदलने का मौका मिलता है, तब उनमें अपनी शक्ति का भान होता है और पूरे राष्ट्र के प्रतीका से अपनेपन का भी बोध हाता है।"[४६]

मारिम कार्स्टेयस ने भारत की ऊची जातिया के बारे म महत्वपूण अध्ययन किया है। देवली गाव के अध्ययन से उन्हे पता चला कि राजनीतिक और आर्थिक परिवतना का गाव की जाति व्यवस्था की मानमर्यादा की धारणा पर कैसा प्रभाव पडा है। उन्हाने लिखा है कि केवल सभा समितिया मे ही नहीं, हाट-बाजार में भी लोग नित्य पुरानी और नई बाता की तुलना करते ह और लक्ष्य करते हैं कि

---

[४५] प्राचीन ग्राम पचायतों की परपरा और प्रथाओं पर आधारित होते हुए भी नयी पचायतें उनसे एकदम भिन्न है।

[४६] एडवर्ड शिल्स-'पोलिटिकल डेवलपमेंट इन द न्यू स्टेट्स'-कम्प्रेहेंसिव स्टडीज इन सोसाइटी ऐंड हिस्ट्री-भाग २ स ३ अप्रैल १९६० पृ २८७।

कितना परिवतन हो गया है। हर जाति के बडे और बच्चे सब इस परिवतन से प्रभावित हुए है।

परिवतन की इस व्यापक प्रक्रिया को चार बाता पर लक्ष्य करना चाहिए। प्रथम, पुरानी व्यवस्था के इन परिवतना के समथन मे पुराने प्रमाणो और प्रतीको का हवाला देने के साथ, नयी लौकिक (सेकुलर) विचारधारा या तर्कों का भी हवाला दिया जाता है। दूसरे, नये परिवतन चलन में तो आ ही रहे हैं, इसके साथ साथ लोग पुरानी बाता से नयी बाता की बराबर तुलना भी करते हैं और इस प्रकार उनका सोच समझ कर ग्रहण कर रहे हैं। तीसरे–इस तुलना से यह धारणा पक्की होनी है कि पुरानी व्यवस्था मे जडता और सडाध अगयी थी और उसे बदलने की जरूरत है। चौथे–इस नए परिवतन का भान। पहले जो परिवतन हुए थे, वे मत या विचार के क्षेत्र में हुए थे। समाज का छोटी बडी जातियो का ढाचा ज्यो का त्यो बना रहा और हर नया तत्त्व उसी ढाचे मे स्थान पा जाता था। अब सब का इस बात का भान है कि इसी ढाचे में परिवतन आ रहा है, भले ही वह बहुत धीमे हो। इस परिवतन से सब को प्रसन्नता नही है। कुछ लोग तो इसके धीमेपन से अस तुष्ट है। फिर भी यह परिवतन फैल रहा है और आधुनिक भारत के विचारा का और सामाजिक गतिविधि को प्रभावित कर रहा है।

इस *परिवतनबोध को फैलाने म सरकार और उसकी एजेंसिया का मुख्य हाथ* रहा है। न केवल सामाजिक विकास मे सरकार का अधिकाधिक हाथ रहा है और जीवन के हर क्षेत्र मे सरकारी तत्र का प्रवेश हुआ है बल्कि लोगो के मन पर भी सरकार छा गयी है। इस विषय मे अध्ययन करने के लिए कुछ लोगो से प्रश्न किए गए कि अकाल आदि विपत्ति पडने पर किस हद तक रिश्तेदारा से और सरकार से मदद की आशा है और आप किससे मदद लेना पसद करेंगे।[४७] स्वाभाविक यही था कि लोग रिश्तेदारो से ज्यादा उम्मीद करें और उनको पसद करें, लेकिन वास्तविकता इससे उलटी थी, जैसा कि सारणी सात १ और सात २ से मालूम होगी।

---

४७ यह अध्ययन, सेन्टर फार स्टडी डेव लोपिंग सोसा टीज, दिल्ली, टोकियो वि वि, स्टैनफोर्ड युनि और नाइजीरिया की इबादान युनि की ओर से किया गया। भारत में यह प बगाल, उ प्र, गुजरात और आंध्र में किया गया। प्रश्न ये थे – (१) मान लीजिए आपके परिवार पर सकट आ जाए और उसे भरण-पोषण के लिए मदद दरकार हो। आप किससे मदद मांगेंगे? क–ऐसे रिश्तेदार हैं, जो मदद कर सकें। ख–क्या सरकार या कोई सरकारी एजेंसी है, जो ऐसी स्थिति में मदद दे? (२) इस स्थिति में जब आपको पैसे की कमी हो और रिश्तेदार और सरकारी एजेंसी दोनों हा एक-सी मदद देने को तैयार हो आप किससे मदद लेना पसद करेंगे?

सारणी सात – १ क – अलग रहने वाले रिश्तेदारो से मदद की अपेक्षा। ख–सरकार मे मदद की अपेक्षा।

	प्रतिशत		
	हा	नही	पता नही
स० रा० अमेरिका			
क–रिश्तेदार	६५ ४	३२ ०	२ ६
ख–सरकार	६६ ४	२० ३	१० ३
जापान			
क–रिश्तेदार	६८ ७	२४ १	६ २
ख–सरकार	४५ ४	४० ०	१४ ६
भारत			
क–रिश्तेदार	३१ ८	६६ ६	१ ६
ख–सरकार	५० ५	४२ ४	७ १
नाइजीरिया			
क–रिश्तेदार	५४ २	४१ २	४ ६
ख–सरकार	४३ ८	३६ १	२० ०

भारतीय लोग रिश्तदारा के बजाय सरकार से ज्यादा मदद की आशा करते है और सरकार मे ही मदद लेना पसद करत ह। इसका एक कारण यह है कि रिश्तेदारो स मदद लेने मे हेठेपन का बोध होता ह जब कि सरकार स मदद लेने में ऐसा कोई भाव नही होता। दूसर, सरकार से तकावी और सहकारिया से ऋण लेत रहने के कारण उनका सरकारी ऋण लेने मे सुभीता मालूम हाता है। जो भी हो ऊपर की पडताल से इतना ता स्पष्ट है कि भारतीय जनता सरकार को विश्वास के साथ देखने लगी है।

सारणी सात – २ सरकार और रिश्तेदार किससे मदद लना पसद है – प्र० ग०

	रिश्तेदार	सरकार	दानो	किमी से नही	पता नही
स रा अमेरिका	४२ ६	५३ १	—	—	४ ३
जापान	४७ ८	३५ ०	३ ३	४ ८	९ १
भारत	२४ २	६६ ००	२ ५	१ ४	२ ९
नाइजीरिया	३३ ३	५३ ०	७ ५	० ७	५ ५

जनता में इस मानसिक परिवर्तन को हम सरकारीकरण का नाम दे सकते हैं। इस बात को भली भाँति लक्ष्य किया जा सकता है कि लोगों की मनोवृत्ति, सामाजिक जीवन तथा संस्थाओं में सरकार का हाथ बढ़ता जा रहा है। सरकार राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्था और जनता को नियंत्रित करती है तथा व्यक्ति तथा परिवार के [illegible] को प्रभावित करती है।

सरकारीकरण की यह प्रवृत्ति एक नई चीज नहीं है। राजा या सरकार माई-बाप है यह धारणा बहुत पुराने जमाने से भारत में रही है और इसी कारण सरकार इतने कम समय में इतने बड़े परिवर्तन कर सकी है। दूसरी ओर राजनीतिक विकास की मुख्य बात यही नहीं है कि जनता सरकार को स्वीकार कर और उस पर भरोसा करे, बल्कि यह अनुभव भी करे कि सरकार से अपना काम कराया जा सकता है और उससे उसके काम का जवाब तलब किया जा सकता है। जनता में राजनीति में अधिकाधिक भाग लेने के फलस्वरूप उसमें यह भावना पैदा हो रही है और यह बड़ा भारी परिवर्तन है।

प्रश्न यह है कि इस परिवर्तन को कहाँ तक लक्ष्य किया गया है। भारत में परिवर्तन क्रमशः बिना किसी क्रांतिकारी उथलपुथल के हो रहे हैं। यही नहीं लोगों के मन में यह विचार भी बहुत पहले से जमा है कि वही परिवर्तन टिकाऊ होता है जो धीमे धीमे जनता की रजामंदी से हो। जोर जबर्दस्ती से किए गए परिवर्तन बहुत स्थायी नहीं होते।[४८] लेकिन बाहरी लोग इस क्रमिक परिवर्तन की प्रक्रिया को लक्ष्य नहीं कर पाते और यह समझ बैठते हैं कि भारत में कुछ हो ही नहीं रहा है।[४९] इस भ्रामक धारणा को फैलाने में कुछ हद तक हमारे अंगरेजीदाँ बौद्धिक और कुछ अग्रगामी वर्ग का भी हाथ रहा है। हमारे संस्कार भी ऐसे हैं कि परिवर्तन की प्रक्रिया में भी स्थिरता का आभास होता है जबकि कुछ देश ऐसे हैं जहाँ कोई प्रगति नहीं हो रही है फिर भी आभास परिवर्तन का होता है। इसलिए जब तक हमारे यहाँ सामाजिक और राजनैतिक पर्यवेक्षण और विश्लेषण पर जोर नहीं दिया जाता, हमारे अग्रगामी वर्ग भी राजनैतिक परिवर्तन की गति और रुख को नहीं समझ पाएंगे और फलस्वरूप अनिश्चय में पड़े रहेंगे। इस विषय में हमारे समाजशास्त्रियों पर विशेष जिम्मेदारी है।

४८ इस विचार को फैलाने में नेहरू का बहुत हाथ रहा। यद्यपि वह दूसरे देशों में हुए परिवर्तनों से बहुत प्रभावित थे, फिर भी उनको लोकतंत्री तरीकों में अटल विश्वास था। जब [illegible] ने पंचायती राज की सफलता में संदेह प्रकट किया और कहा कि इससे विकास का काम धीमा पड़ जाएगा तो नेहरू ने यही कहा कि अंत में इससे ज्यादा प्रगति होगी।

४९ अल्बर्ट ओ हर्शमान, 'अन्डरडेवलपमेंट, ऑब्स्टेकिल्स टु द पर्सेप्शन ऑफ चेन्ज ऐंड लीडरशिप,' डीडालस, सं ९७७ नं ३, समर १९६८।

कुछ प्रवृत्तियां बनी रहीं

आधुनिकता के प्रवर्तकों ने अनेकान्तवाद की पुरानी भारतीय प्रवृत्ति का सहारा लेकर नए विचारों और संस्थाओं का प्रवर्तन किया फिर भी कुछ पुरानी प्रवृत्तियां बनी रहीं। इनमें से कुछ नए परिवर्तन में बाधक हैं।

भारतीय जनता का स्वभाव शास्त्रीय या निर्धारित विधिविधान पर आंख मूंद कर चलने का है। इसका नतीजा यह हुआ है कि सरकारी कामकाज में नियम-कायदा को महत्त्व दिया जाता है कार्यकुशलता को नहीं। नौकरशाही या दफतरशाही के शिकंजे में सामाजिक, आर्थिक और प्रशासनिक गतिविधि कुंठित हो गई है।

भारतीय समाज में भिन्न भिन्न वर्गों या श्रेणियों का स्थान और अधिकार निश्चित रहा। यह प्रवृत्ति आधुनिक काल में भी कायम है। अभी आधुनिक संस्थाओं का रूप स्थिर नहीं हुआ है। इस संक्रांतिकाल में आधुनिक शिक्षा या अन्य क्षेत्रों में भी पुराने ऊंचे नीचे वर्गों की तरह स्थानीय श्रेणियां बन गई हैं। विरोधी तत्त्व भी अधिकार और पद की श्रेणी में स्थान पाने की कोशिश करते हैं। इस प्रकार अधिक और कम अधिकार और मानमर्यादायुक्त नए वर्ग या नयी जातियां उत्पन्न हो रही हैं।

दूसरी ओर जैसा कि पहले कहा जा चुका है, आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्रों में सामूहिक रूप से काम करना भारतीयों के लिए कठिन होता है। इन क्षेत्रों में भी पुरानी जाति उपजाति की तरह गुट बन जाते हैं जैसे स्थानीय राजनैतिक और अधिकारी वर्ग के गुट। इस प्रकार विकेन्द्रीकरण व्यवहार में छोटे छोटे स्थानीय गुटों या उपसमूहों का रूप धारण कर लेता है जो बंधे हुए ढंग से काम करते हैं।

बड़े पैमाने पर संगठन को चलाने का अनुभव न होने और पुराने जमाने से कुटुंब और बिरादरी जैसे छोटे समूहों में रहने की आदत के कारण, भारतीयों को बहुत बड़े सामूहिक संगठनों में रहने और उनके अनुशासन में चलने से स्वाभाविक विरक्ति है। इसलिए जैसा हम कह चुके हैं जब तक कोई चमत्कारी व्यक्ति का नेतृत्व न हो, भारतीय लोग सामूहिक या बड़े पैमाने पर काम करने से बचते हैं।

इस कारण भारतीयों की मनोवृत्ति ऐसी बन गयी है कि वे अपने बराबर वालों के साथ व्यवहार करने में असुविधा अनुभव करते हैं। इसी प्रकार वे विरोध या संघर्ष की स्थिति का फरियाने के बदले लीपापोती करने या टालने की कोशिश करते हैं। यह भी सभी विचारों और मतांतरों को स्थान देने की पुरानी प्रवृत्ति का ही अंग है। इसका नतीजा यह होता है कि ऊपर से समझौता या एकता के पर्दे के नीचे मतभेद और विरोध सुलगते रहते हैं।[१०] इस के फलस्वरूप हारने

---

१० भारत में एक प्रभावशाली वर्ग समझौते को बहुत महत्त्व देता है। यह वर्ग प्रत्यक्ष चुनाव को नापसन्द करता है क्योंकि इससे झगड़ा और विरोध पैदा होता है और इसके बजाय

[अगले पृष्ठ पर]

वाले या अल्प मत वर्ग में बड़ी कटुता और अनास्था भर जाती है और उनका क्षोभ भीतरही भीतर सुलगता रहता है।

हमारी इस चर्चा का निचोड़ यह है कि जहा भारतीय लोगो में आधुनिक युग की विभिन्न संस्थाओं को चलाने और मतभेद और आलोचना को सहन करने की अच्छी क्षमता है, वहा बहुत बड़े सामूहिक उद्यमो व कार्यों को चलाने में जिस संगठन और अनुशासन की जरूरत होती है, उसमे वे कमजोर पडते हैं।

निष्कर्ष

सभ्यता का एक प्रकार वह है जहाँ केन्द्रीय सत्ता की सम्यात् प्रधान रहती है और लगातार चली आती है। दूसरे प्रकार की सभ्यता वह होती है, जिसमें केन्द्रीय सत्ता जनता से दूर होती है और लगातार संपर्क में नहीं रहती है और जहा स्थानीय संस्थाएँ स्वायत्त होती है तथा राजनीतिक और सांस्कृतिक क्षेत्र अलग रहते हैं।

पहली सभ्यता में जब आधुनिकता की प्रक्रिया शुरू होती है तो उसका प्रभाव सत्ता के पूरे ढांचे पर पडता है जिसमे व्यक्ति और उसके समूह का संबध होता है। दूसरी सभ्यता में केन्द्रीय सत्ता में परिवर्तन होता है पर पूरी व्यवस्था पर उसका प्रभाव नहीं पडता। पहली सभ्यता ज्यादा लौकिक होती है और मनुष्य मुख्यतः राजनैतिक व्यक्ति होता है और उसका मुख्य लगाव केन्द्रीय या राज्यसत्ता मे होता है। दूसरे मे व्यक्ति का लगाव अपने समूह से और आत्मविकास से होता है। यहा सत्ता बटी रहती है और राज्यसत्ता जो अस्थायी होती है तथा संस्कृति जो स्थायी होती है दोनों में काफी दूरी होती है। यहा व्यवस्था या समष्टि अपनी व्यक्तिगत इकाइयों का जोड़ या इकाइयों से ऊपर नहीं समझी जाती बल्कि एक संबध शृंखला की प्रक्रिया समझी जाती है।

भारत में राजनैतिक नेतावर्ग ने देश में परिवर्तन लाने मे महत्त्वपूर्ण भाग लिया है। फिर भी सामाजिक जीवन में राजनीति ही सबसे मुख्य तत्त्व नहीं है। अब तक जो काम समाज या बिरादरी के मुखिया करते थे, वह काम अब राजनैतिक नेता करने लगे हैं। इस प्रकार समाज के जीवन में राजनीति का प्रवेश हुआ है।

लौकिक या केन्द्रीय सत्तावाली सभ्यताओं के मुकाबले गैरलौकिक सभ्यता मे राजनीतिका प्रवेश आसान होता है। यह प्रवेश लोगो को लाभ पहुँचा कर होता है

[पिछले पृष्ठ से]

एकमत या आम राय या नेपाल की तरह के अप्रत्यक्ष चुनाव को पसद करता है। जयप्रकाश नारायण – ए प्ला फार रिकंस्ट्रक्शन आफ इंडियन पालिटि (दिल्ली १९५६)। ससैन होवर रुडाल्फ ने कानफ्लिक्ट एंड कानसेन्सस इन इंडियन पालिटि में इस पर विचार किया है (वर्ल्ड पालिटिक्स – अप्रैल १९)।

उन पर सरकारी मशीनरी लाद कर नही । इस प्रकार की सभ्यता म राजनैतिक तत्र को लोगो की भावनाओ का ख्याल रखना होता है जबकि केन्द्रीय सत्तावाली सभ्यताओं में सरकार लोगो को जबदस्ती अपने रास्ते पर चला सकती है।[५१] गैर राजनैतिक सभ्यता मे सरकार को लोगो की भावना का ख्याल रखने के साथ साथ परिवतन लाने मे सक्रिय हाथ लेना पडता है। यदि यह दोना में से किसी भी काम में विफल हो, तो उसका विरोध होने लगता है।

---

५१ चान में यही हुआ। देखिए-ऋमिन पाइ-'रिपोर्ट आफ चाइनीज पालिटिक्स ।

राजनीतिक संस्थाओं का निर्माण और राष्ट्रीय एकता

पिछले अध्यायों में भारत में होने वाले राजनीतिक परिवर्तन का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया। इसके अलावा जो महत्वपूर्ण प्रश्न है उसका संबंध इससे है कि यह व्यवस्था किस प्रकार काम कर रही है।

हाल के वर्षों में राजनीतिक विकास के मूल्यांकन के लिए कुछ सिद्धान्त प्रस्तुत किए गए हैं।[1] किन्तु साधारणतः राजनीतिक विशेषज्ञों ने इस बात की उपेक्षा की है कि राजनीतिक व्यवस्था कैसा काम कर रही है और समस्याओं को हल करने में इसे कितनी सफलता मिली है। जहां कहीं मूल्यांकन करने की कोशिश की भी गयी है वहां भी आर्थिक विकास, समाजसुधार, रेडियो टी० वी०, अखबार आदि साधनों के प्रसार के उपायों का ही वर्णन कर दिया है। इस प्रकार उन्नत देशों की कुछ विशेषताओं को राजनैतिक विकास की कसौटी बना लिया गया है। अधिकतर विश्लेषक समाजविज्ञान की मुख्य विचारधारा से प्रभावित हैं, जिसमें यह समझा जाता है कि राजनैतिक परिवर्तन, सामाजिक और आर्थिक स्थितियों से प्रवर्तित होता है तथा पश्चिमी देशों के इतिहास को देखते हैं, जहां अधिकतर (हमेशा नहीं) राजनैतिक विकास समाज की मांग और दबाव के फलस्वरूप होता है। इसलिए इन लोगों ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया है कि राजनीतिक निर्णयों का समाज के ऊपर क्या प्रभाव पड़ता है।[2] अभी हाल तक राजनीतिक विकास अर्थात राजनैतिक

१ गेब्रियल ए आल्मड—'पालि सिस्टम्स ऐंड पोलि चेंज' (द अमेरिकन बिहेवियरल साइंटिस्ट ६ स १० जून १९६३ और आल्मड—'ए डेवलपमेंटल अप्रोच टु पोलि सिस्टम्स' (वर्ल्ड पालि ८ स २ जनवरी १९६५)

२ ऐसे ही लेखकों का सब क्षेत्रों में जोर है उदाहरण हैं नील स्मेलसर, विलियम कार्नहाउसर, एस एम लिप्सेट, कार्ल ड्यूश, डेनियल लर्नर, बैरिंगटन मूर। देखें—जोसफ ला पालोम्बरा 'मैक्रोथियरीज ऐंड माइक्रो-अप्लिकेशन्स इन कम्परेटिव पालिटिक्स—ए वाइडेनिंग चाज्म' (कम्परेटिव पालिटिक्स १ स १, अक्टू १९६८)। सामाजिक सिद्धान्त की दृष्टि से राजनीति और अधिकार के महत्व के लिए—राइनहार्ड बेनडिक्स—'नेशन बिल्डिंग ऐंड सिटिजनशिप' (न्यूयार्क १९६४)।

केन्द्रीय सत्ता की स्थापना और उसका फैलाव, नयी राजनैतिक पद्धति की जनता द्वारा ग्राह्य होने में सफलता या विफलता, राजनैतिक मांगो को पूरा करने में उसकी क्षमता, या सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में हुए विकास से संबंध जोडने या तुलना करने की कोई विधिवत कोशिश नही की गई। इन प्रश्नो पर और आर्थिक क्षेत्र में हुए काम पर बहस बहुत हुई है, फिर भी प्रवृत्ति दोनो को अलग अलग देखने की है। वैसा काम हुआ है, इस प्रश्न पर ध्यान न देने का परिणाम यह हुआ है कि राजनीति की समीक्षा गुटबंदी और उखाड पछाड का वर्णन बन कर रह गयी है।

अस्तु हमने भारत के राजनैतिक परिवर्तन को समझने के लिए, परंपरा और परिवर्तन अर्थात प्राचीनता और नवीनता के तत्वो के मिश्रण का विश्लेषण किया है। नयी राजनैतिक व्यवस्था अमल में और समस्याओ के समाधान में कैसी रही इस पर हम इस अध्याय और अगले दो अध्यायो में विचार करेंगे। नयी राजनैतिक व्यवस्था के जड जमाने और राष्ट्रीय एकता की समस्याओ, जनसंख्या और आर्थिक विकास की समस्याओ तथा अंतर्राष्ट्रीय संबंध की समस्याओ पर हम क्रमश इस अध्याय और अगले दो अध्यायो में विचार करेंगे। इसमें हम भूतकाल की और वर्तमान प्रवृत्तियो पर विचार करते हुए, कुछ बातो में भविष्य की ओर संकेत करेंगे। पर यह संकेत होगा, भविष्यवाणी नही।

एकीकरण की समस्या

राजनैतिक विकास की बुनियादी समस्या एकीकरण की है अर्थात नये राजनैतिक केन्द्रबिंदु की स्थापना और दृढीकरण, उसका बहिर्मुख प्रस्तार, विभिन्न संस्थाओ का पल्लवन, विविधता को एक सूत्र में संग्रहण कर एक राष्ट्र का निर्माण अर्थात् एकीकरण की क्षमता का विकास। यही समस्या हमारे राष्ट्र निर्माताओ के सामने सबसे बडी समस्या रही है। जैसा कि नेहरू ने कहा था मेरे जीवन का मुख्य काम भारत का एकीकरण है। यह स्वाभाविक भी है, क्योकि भारत एक राष्ट्र बनने की प्रक्रिया से गुजर रहा है। मगर मुख्य बात यह है कि एकीकरण के लिए तरीका क्या अपनाया गया। इस तरीके में दो बातें हैं। एक सरकार और सरकारी या शासन दल की गतिविधियो के द्वारा देश में एकता की स्थापना और उसका दृढीकरण। दूसरे देश के विभिन्न तत्वो के अधिकारो और हितो का संरक्षण और मान्यता देकर उनको राष्ट्रीय जीवन और राजनैतिक व्यवस्था में शामिल करना। भारत की राजनैतिक एकता में राष्ट्रीय सरकार की प्रधानता और अन्य हितो व व अल्पसंख्यको के प्रति समझौते और निभाव की भावना इन दो प्रवृत्तियो का मुख्य योग है।

इस तरीके में समाज के राजनैतिकीकरण का बडा महत्व है। इसमें राजनैतिक

गतिविधि के द्वारा समाज का बदलने की कोशिश की जाती है। इसमें भारतीय नेताओ को जो सफलता मिली उसका श्रेय कुछ अश में इस बात को है कि यहा जनसाधारण राजनीति से उदासीन था और नेताओ तथा राष्ट्रीय सरकार से ज्यादा माग नही करता था। इसके साथ ही यहा का प्रशासनतत्र, नेता तथा काग्रेस दल भी अत्यत प्रभावशाली और शक्तिशाली था। लेकिन नेताओ के प्रयत्न का उद्देश्य जनता की राजनीति की ओर से उदासीनता को दूर करना था। परिवतन की प्रक्रिया का प्रोत्साहन देना था और नये दलो और हितो को मैदान में लाना था।

जब सत्ताधारी दल परिवतन लाने का प्रयत्न करता है तो उसका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि उसके विरोधी या प्रतिपक्षी दलो का उदय हो। राजनैतिकीकरण की सफलता को आकते समय इस बात का विचार करना होगा कि यह प्रक्रिया कितनी शातिपूर्ण और सोद्देश्य रही। सत्ता के ढाचे मे देश के विविध तत्त्वो का कितना प्रतिनिधित्व मिला और उसमे जड जमाने और देश के लोगो द्वारा अगीकरण मे कितनी मदद मिली।

दलो की समस्या

भारत में सत्तारूढ दल ने नए राजनीतिक ढाचे के लिए ससदीय लोकतत्र का नमूना स्वीकार किया। इस पद्धति में दो प्रतिद्वद्वी दलो का होना जरूरी है, जिनके अपने समथक वग हो। परतु देश मे ऐसे प्रतिद्वद्वी दलो का अभाव था। यहा एक काग्रेस दल की प्रधानता थी। इसलिए प्रतिद्वद्विता का तत्त्व इसी दल के भीतर से आना था। इसके लिए काग्रेस दल को अपनी रीति नीति म परिवतन करना जरूरी था। अब तक दल मे अनुशासन और एकमत पर जोर दिया जाता था। अब विरोध या मतभेद और नेतत्वपरिवतन की गुजाइश करनी जरूरी हुई। अवश्य ही काग्रेस का सगठन पहले से ही काफी व्यापक था और उसमें अनेक विचारो और वगो के लोग थे। फिर भी मोटे तौर पर ये एक श्रेणी के अर्थात अग्रेजी पढे लिखे लोग थे। अब तक इस वग से ही काग्रेस की नेता मडली आती थी। बालिग मताधिकार से राजनीति जो सामूहिक रूप धारणा करती है और जिससे पद और अधिकार के नए दावेदार पैदा होते है, इस स्थिति से अब तक इसका साबिका नही पडा था।

देश मे दूसरे मजबूत प्रतिद्वद्वी दल के अभाव के कारण काग्रेस को अपने सगठन के भीतर गुटबदी को सहन करना पडा। यह गुटबदी किसी सिद्धान्त या कायक्रम के आधार पर न थी। जब तक काग्रेस की सत्ता निर्बाध रही तब तक इससे देश की राजनीति मे निरतरता और एकता बनी रही। लेकिन जहाँ तक व्यापक व्यवस्था का प्रश्न है, काग्रेस की आतरिक गुटबदी, काग्रेस के दूसरे दलके द्वारा सत्ताच्युत कर दिए जाने से ज्यादा हानिकारी है। इसी प्रकार की आतरिक गुटबदी, पद की यही लडाई अनेक नए देशो म लोकतत्री व्यवस्था के टूटने का कारण सिद्ध हुई है।

शुरू से ही भारतीय राजनीतिज्ञो ने अल्प या भिन्न मतो से समझौता करने और विभिन्न तत्त्वो को साथ लेकर चलने पर जोर दिया। काग्रेस के नेता यह जानते थे कि अभी बहुत दिनो तक काग्रेस की एकछत्रता कायम रहेगी, इसलिए उन्होने देश की एकता और स्थिरता की खातिर राजनैतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सभी समहो को साथ लेकर चलने का प्रयत्न किया और समझौते की भावना से काम लिया। भारत के सविधान विषयक अपने अत्यत महत्त्वपूर्ण ग्रथ मे ग्रेनविल आस्टिन ने लिखा है कि भारतीय सविधान निर्माताओ ने सविधान की रचना मे दो सिद्धातो से काम लिया। एक यह है कि सभी निर्णय सहमति से किए जाए, बहुमत के जोर पर नही। दूसरा, समझौते की भावना अर्थात अल्पमत या भिन्न मतवालो का अधिक से अधिक ख्याल। ये दोनो बाते भारत की मौलिक देन है।[३] राजनैतिक फूट का दुखद परिणाम देश के नेता देख चुके थे। उनको यह भी समझ थी कि बहुमत के जोर से फैसला लादना नए लोकतन्त्र के लिए अच्छा न होगा। इसलिए बुनियादी मुद्दो पर काग्रेस के नेताओ ने विरोधियो की सहमति प्राप्त करने की कोशिश की। किंतु अल्पमत की भावनाओ का उचित ख्याल रखते हुए भी उन्होने आनुपातिक प्रतिनिधित्व अप्रत्यक्ष चुनाव अल्पसख्यक मजहबो को विशेष प्रतिनिधित्व और स्विट्जरलैंड जैसे मन्त्रिमडल आदि अल्पमतो के सरक्षण के विशेष उपायो को नही अपनाया क्योकि वे ऐसी सुदृढ व्यवस्था करना चाहते थे जो भारतीय समाज की अलगाव वाली प्रवृत्तियो को काबू मे रख सके।[४] भारतीय नेताओ के सामने यह बात स्पष्ट थी कि राज्य का जो ढाचा उन्हे विरासत में प्राप्त हुआ, उसीके भीतर उन्हे एक राष्ट्र का निर्माण करना है और उन्होने अपनी सास्कृतिक परपरा और राजनैतिक साधन दोनो का उपयोग इस उद्देश्य से किया कि जिस लोकतन्त्र की रचना की जा रही हो, उसे लोग दिलसे स्वीकार करे।

काग्रेस पार्टी की रीति नीति मे भी इसी प्रकार समझौते की भावना और देश की स्थिरता और दृढता का ध्यान रखा गया। काग्रेस का मुकाबला करने वाला कोई सगठन देश मे न था इसलिए भी उसे अल्प मतो का ख्याल रखना जरूरी हो गया जिससे देश मे क्षोभ और असन्तोष के कारण फूट और अलगाव की प्रवृत्ति न पैदा हो। प्रातीय और स्थानीय काग्रेस मे जहा प्रतिस्पर्धी गुटो और नेतृत्व के लिए प्रतिद्वद्विता का स्थान दिया गया, वहा इस बात पर भी जोर दिया गया कि नेतृत्व मे कोई भी परिवर्तन हाइकमाड या सर्वोच्च नेतागण की अनुमति के

३ ग्रे आस्टिन–'द इडियन कास्टिट्यूशन कानर स्टोन आफ ए नेशन' (लदन १९६६)–अध्याय १८।

४ ग्रे आस्टिन–'द इन्डियन कास्टिट्यूशन कानर स्टोन आफ ए नेशन (लदन १९६६)–अध्याय १३।

परिणाम यह होगा कि कुछ समय बाद उसको चुनाती देने वाले दल उत्पन्न हो और राजनैतिक विचारधाराओ के आधार पर विरोधी दलो का सगठन हो। देखने की बात यह है कि सत्तारूढ दल इस प्रतिद्वद्विता को बिना कटुता के स्वीकार करता है और सत्ता परिवर्तन के लिए तैयार होता है या नही, और नए सत्ताधिकारी राजनैतिक व्यवस्था की बुनियादी बातो को स्वीकार करते है या नही। यदि सत्ता का परिवर्तन बिना झगडा झझट के होता है तो राजनैतिक व्यवस्था और सवैधानिक प्रणाली मजबूत होगी और लोगो के जीवन में घर करेगी। यदि ऐसा नही होता और सत्तारूढ तथा विरोधी दल लोकतत्री परपरा का पालन नही करते तो राजनैतिक और सवैधानिक ढाचे के टूटने की क्रिया शुरू हो जाएगी।

इस प्रकार की स्थिति भारत म १९६२ और १९६७ के बीच उपस्थित हुई। दो लडाईया, और आर्थिक सकट के बाद चुनाव हुआ जिसने काग्रेस की एकछत्रता और स्थिर सरकारो के युग का अत कर दिया। ५ वर्षो क अदर इतनी घटनाओ के घटने से एक सकट का सा वातातावरण मालूम पडा।

१९६७ के चुनाव एक बडे राजनैतिक परिवर्तन का द्योतक समझा गया। इसने इतने दिनो से चली आयी काग्रेस की प्रधानता का अत कर दिया। परतु राज्यो म निर्वाचन के रुख और आम चुनाव के बाद की घटनाओ का हमारा विश्लेषण इस धारणा की पुष्टि नहीं करता। फिर भी यह समझने के लिए कि राजनैतिक व्यवस्था मे नई स्थिति के अनुसार चलने की क्षमता है या नहीं, हम यह मान लेते है कि १९६७ में जिस प्रक्रिया का आरभ हुआ वह बाद के चुनावो म भी कायम रहेगी और हम यह देखेंगे कि यदि काग्रेस की प्रधानता सचमुच समाप्त होगी, तो राजनैतिक व्यवस्था किस ओर जाएगी।

(१) चुनाव में विफलता होने और शक्ति घट जाने के बाद भी काग्रेस खतम नहीं हुई बल्कि अनेक राज्यो म मध्यावधि चुनाव और स्थानीय सस्थाओ के चुनावो मे इसने खोई हुई शक्ति पुन प्राप्त कर ली। इसने समान विचारधारा वाले दूसरे दलो से समझौता करने और स्थिति के अनुसार रीति नीति बदलने की तत्परता दिखाई है। अभी भी काग्रेस देश की सबसे सगठित पार्टी है जिसका सगठन देश भर मे फैला है। परिणामस्वरूप केद्र में इसका बहुमत बना रहेगा और सयुक्त सरकार या अन्य दलो के साथ गठजोड मे इसका पल्ला भारी रहेगा। दूसरे जिन राज्यो मे इसकी सरकार नही भी रहगी, वहा भी स्थानीय सस्थाओ में इसके हाथ में काफी शक्ति और लोगो को लाभान्वित करने के अवसर रहगे।[५]

(२) जहा अन्य वामपक्षी या दक्षिणपथी दल या सयुक्त दलो की सरकार है वहा भी इन्होने काग्रेस द्वारा स्थापित की गयी बुनियादी सवैधानिक और राजनैतिक

५ माइरन वाइनर – 'पार्टी बिल्डिग इन ए नेशन – द इण्डियन नेशनल काग्रेस (शिकागो – १९६७)।

बिना न हो। काग्रेस के अदरूनी झगडो को निपटाने के लिए दोनो पक्षो में समझौता
कराने के साथ साथ ऊपर से मध्यस्थता या निणय की बाकायदा व्यवस्था की गई।
यद्यपि कानून में यहा प्रारंभिक चुनावो की कोई व्यवस्था नही है फिर भी
जिला और प्रातीय काग्रेस और अन्त में सर्वोच्च मडली द्वारा चुनाव के लिए उम्मी
दवारो के चयन की विस्तृत पद्धति बनी, जिससे बाहरी दलो की स्पर्धा न होते हुए
भी काग्रेस के भीतर लोकतत्री स्पर्धा की पूरी गुजाइश रही।

हम देख चुके है कि काग्रेस जैसे व्यापक सगठन को दल का रूप देने के कारण
इसमें दो विशेष प्रवृत्तिया दीख पडी। एक तो काग्रेस के अदर के गुटो मे बाहर के
मुख्य दलो का प्रतिनिधित्व हुआ। काग्रेस के अदर स्वतत्र गुट, जनसघी गुट,
कम्युनिस्ट गुट आदि अनेक घडे बन गए। दूसरी प्रवृत्ति थी स्थानीय लोकतत्र पर
काग्रेस नेताओ का आग्रह। पचायती राज और विकास काय के लिए स्थानीय
सलाहकार समितिया आदि की पूरी प्रणाली की स्थापना ऊपर के नेताओ द्वारा
की गई। इसके फलस्वरूप न केवल काग्रेस का प्रभाव बढा और उसे अपने समर्थको
को अधिकार और लाभ के पद बाटने के अवसर मिले, बल्कि इसके साथ ही सर्वोच्च
नेताओ और नीचे के लोगो के बीच सपर्क की कडिया बनी, और असतोष व फूट
की प्रवृत्ति को अकुशित करने की व्यवस्था हुई। जमीदारी उन्मूलन और दबी व
पिछडी जातियो को विशेष सरक्षण देकर असतोष और सघर्ष की जड काटने की
कोशिश की गयी और राजनैतिक व्यवस्था की दृढता और स्थिरता बढाने का उपाय
किया गया।

काग्रेस की प्रधानता के साथ साथ उसके अदर प्रतिद्वद्विता की गुजाइश में एक
बात और लक्ष्य करने की है। यह है नेताओ के व्यक्तिगत अनुयाइयो का जाल।
जहा इन व्यक्तिगत गुटबदियो से राजनीति में कुछ अस्थिरता आई वहा इसका
एक अच्छा नतीजा यह हुआ कि इनके माध्यम से स्थानीय गुटबदी को राजनैतिक
रूप मिल गया और वे खतरनाक या घातक रूप न धारण कर सकी। इनके कारण
ऊपर के नेताओ को स्थानीय हालत की सही सूचना भी मिलती रही और ऊपर की
बात नीचे तक फलती रही।

इस प्रकार प्रतिस्पर्धी पार्टी या दल के अभाव में भी एक दशक तक ससदीय
लोकतत्र चलता रहा और काग्रेस दल के अदर के गुट प्रतिद्वद्वी दलो की भूमिका
अदा करते रहे। तथा व्यापक अशिक्षा और अखबार आदि जानकारी के बहुत कम
साधनो के बावजूद जनता और नेता में सपर्क कायम रहा।

चुनाव की प्रणाली

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है जब मताग्रह और शक्तिशाली दल लोकतत्री
प्रवृत्तियो और गतिविधियो को पूरा प्रोत्साहन और छूट देता है, तो इसकी स्वाभाविक

परिणाम यह होगा कि कुछ समय बाद उसको चुनौती देने वाले दल उत्पन्न हो और राजनैतिक विचारधाराओ के आधार पर विरोधी दलो का सगठन हो। देखने की बात यह है कि सत्तारूढ दल इस प्रतिद्वद्विता को किना कटुता के स्वीकार करता है और सत्ता परिवतन के लिए तैयार होता है या नही, और नए सत्ताधिकारी राजनैतिक व्यवस्था की बुनियादी बातो को स्वीकार करते है या नही। यदि सत्ता का परिवतन बिना झगडा झझट के होता है तो राजनैतिक व्यवस्था और सवैधानिक प्रणाली मजबूत होगी और लोगो के जीवन में घर करगी। यदि एसा नही होता और सत्तारूढ तथा विरोधी दल लोकतत्री परपरा का पालन नही करते तो राजनैतिक और सवैधानिक ढाचे के टूटने की क्रिया शुरू हो जाएगी।

इस प्रकार की स्थिति भारत म १९६२ और १९६७ के बीच उपस्थित हुई। दो लडाईया, और आर्थिक सकट क बाद चुनाव हुआ, जिसने काग्रेस की एकछत्रता और स्थिर सरकारो के युग का अत कर दिया। ५ वर्षो क अ दर इतनी घटनाओ के घटने से एक सकट का सा वातातावरण मालूम पडा।

१९६७ के चुनाव एक बडे राजनैतिक परिवतन का द्योतक समझा गया। इसने इतने दिनो से चली आयी काग्रेस की प्रधानता का अत कर दिया। परतु राज्यो म निर्वाचन के रुख और आम चुनाव के बाद की घटनाओ का हमारा विश्लेषण इस धारणा की पुष्टि नही करता। फिर भी यह समझने के लिए कि राजनैतिक व्यवस्था मे नई स्थिति के अनुसार चलने की क्षमता है या नही, हम यह मान लेते है कि १९६७ में जिस प्रक्रिया का आरभ हुआ वह बाद के चुनावो म भी कायम रहेगी और हम यह देखेंगे कि यदि काग्रेस की प्रधानता सचमुच समाप्त होगी, तो राजनतिक व्यवस्था किस ओर जाएगी।

(१) चुनाव में विफलता होने और शक्ति घट जाने के बाद भी काग्रेस खतम नही हुई बल्कि अनेक राज्यो म मध्यावधि चुनाव और स्थानीय सस्थाओ के चुनावो मे इसने खोई हुई शक्ति पुन प्राप्त कर ली। इसने समान विचारधारा वाले दूसरे दलो से समझौता करने और स्थिति के अनुसार रीति नीति बदलने की तत्परता दिखाई है। अभी भी काग्रेस देश की सबसे सगठित पार्टी है जिसका सगठन देश भर मे फैला है। परिणामस्वरूप केन्द्र मे इसका बहुमत बना रहेगा और सयुक्त सरकार या अन्य दलो के साथ गठजोड मे इसका पल्ला भारी रहेगा। दूसरे जिन राज्यो में इसकी सरकार नही भी रहगी, वहा भी स्थानीय सस्थाओ में इसके हाथ में काफी शक्ति और लोगो को लाभान्वित करने के अवसर रहगे।[५]

(२) जहा अन्य वामपक्षी या दक्षिणपक्षी दल या सयुक्त दलो की सरकार है, वहा भी इन्होने काग्रेस द्वारा स्थापित की गयी बुनियादी सवैधानिक और राजनैतिक

५ माइरन वाइनर – 'पार्टी बिल्डिंग इन ए नेशन – द इडियन नेशनल काग्रेस (शिकागो – १९६७)।

परपरा और नियमा का अस्वीकार नही किया। इनके कायक्रम और नीतिया भी काग्रेस से काई खास भिन्न नही हैं। बल्कि अनेक पार्टियो का तो यह भी दावा है कि वे काग्रेस की नीतिया को काग्रेस की अपेक्षा ज्यादा अच्छी तरह से कायान्वित कर रही ह।

(३) काग्रेस की प्रधानता के युग म जो दलबदी और गुटबदी दिखाई पडी, वे १९६७ के बाद भी कायम रही। अनेक राज्या में काग्रेस मे फूट पडने पर काग्रेस के दलबदलुआ की सहायता से नई सरकारे बनी। द्र० मु० क०, जनसघ और वामपक्षी दला मे भी काग्रेस जैसी ही दलबदी दीख पडी। जिस प्रकार काग्रेस के अदर दक्षिण और वाम पक्ष थे उसी तरह गैर काग्रेसी दला या सयुक्त दला में भी काग्रेसी गुट या पक्ष देखने मे आए। दक्षिण और वाम पक्ष के बीच का माग पकडने की प्रवत्ति लक्षित हुई जिसमे दला की परिधि के बाहर जाकर सौदा करने और नए गठजोड करने की क्रिया चालू रही। इस प्रकार राजनतिक स्थिति बदलने और नए दला तथा नई राजनैतिक पीढिया के आगे आने पर भी पुराना राजनतिक लहजा कायम रहा।[६]

(४) कुछ नई प्रवत्तिया दीख पडी जिससे पता चलता था कि राजनैतिक परिपाटिया जड पकड रही हैं। पहले काग्रेस के नेता सभी मता और हिता को सगठन में स्थान देने को तैयार रहते थे। अब उद्देश्य और सगठन की एकता पर जोर दिया जाने लगा और मतभिन्नता के कारण पार्टी छोडने वाला को रोका नही जाता था।[७] इसी अवधि में भिन्न मत वाले गैर काग्रेसी दला मे जा गठबधन हुए व टिकाऊ नही सिद्ध हुए और उन्होने यह अनुभव किया कि सिफ काग्रेस-विरोध की राजनीति से कोई नतीजा नही निकलेगा और उ ह निर्वाचन क्षेत्रो में या जनता के बीच मे काम करना चाहिए। अनेक दला ने विशेष क्षेत्रा मे अपने पाव जमा लिए और उन्होने धीरे धीरे अपना प्रभावक्षेत्र बढा कर काग्रेस स टक्कर लेने की नीति अपनाई।

(५) राज्या में गैरकाग्रेसी सरकारा की स्थापना से यह आशका हुई थी कि केन्द्र की काग्रेस सरकार से इनका सघष हागा और सघीय व्यवस्था टूट जायगी। यह आशका गलत सिद्ध हुई। देखने में यह आया कि जिन राज्या में अपेक्षाकृत टिकाऊ गैर काग्रेसी सरकारें थी उनसे बरतने मे केन्द्रीय सरकार को ज्यादा आसानी हुई, बजाय काग्रेसी राज्य सरकारा से। हा, जहा वामपक्षी मोरच की सरकार थी

६ उदाहरण के लिए मद्राम में द्र मु क में अतर्द्वन्द्व उठने पर वहा भी मांग हुई कि कुछ मत्री नेतापद त्याग करके पार्टी का काम करें जैसा काग्रेस में कामराज प्लान में हुआ था।

७ १९६७ के चुनाव के पहले भी इस बात को लक्ष्य किया गया था - डब्लू एच मारिस जोन्स द इडियन काग्रेस पार्टी - ए डिलेमा आफ डामिनेंस - माडर्न एशियन स्टडीज १ स २ १९६७।

जैसे केरल और बगाल में, वहाँ ज्यादा उग्र दलो को काबू में रखने में कठिनाई हुई। किंतु मारचे की इन सरकारों ने एक आर ऐसी रियायतें दी जिससे उग्रपथियो को कुछ सतोष हो और प्रोपेगेंडा या प्रचार का लाभ हो दूसरी ओर इन्होंने केंद्र से बातचीत में यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाया। सयुक्त दल या मोरचे में सकट आने या उनके भग होने की स्थिति मे केंद्र ने हस्तक्षेप किया और अपनी सवैधानिक शक्ति का प्रयोग किया। आर्थिक क्षेत्र में बैंको के राष्ट्रीयकरण और पूजी नियोजन व ऋण का नियमन करके केंद्र सरकार ने बडे कदम उठाए। आर्थिक शक्ति और साधन केंद्र के हाथ में है, और राज्यो की बुनियादी आवश्यकताओ की पूर्ति, केंद्र के द्वारा होगी इस बात का अनुभव किया गया। इसके साथ ही यह भी प्रत्यक्ष था कि ठीक काम न करने पर चुनाव में हार खानी पडेगी। इन सबसे केंद्र की शक्ति की पुष्टि हुई और गैरकाग्रेसी दलो की सरकारों ने भी केंद्रीय सरकार के महत्व का स्वीकार किया।

(६) जहाँ इन प्रवृत्तियो से राजनैतिक व्यवस्था और लोकतत्री पद्धति को बल मिला वहाँ कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ भी दीख पडी जो इसको कमजोर करती है। ऐसी एक प्रवृत्ति है सरकार की अस्थिरता। सौभाग्यवश राजनैतिक दलो ने यह अनुभव कर लिया कि बार बार दल बदलने को जनता पसद नही करती और इससे चुनाव में दल बदलने वालो को नुकसान उठाना पड सकता है। राज्यपाल और केंद्र सरकार दलबदल और सरकार टूटने की हालत में हस्तक्षेप कर सकते है, और राष्ट्रपति शासन लागू हो सकता है, इससे भी सरकार उलटने वालो को निरुत्साह मिला। फिर भी सयुक्त दलो की सरकार की अस्थिरता की समस्या बनी हुई है। गैर काग्रेसी दल अभी भी अपने पर नही जमा पाए है।[८] प्रश्न यह है कि यदि मध्यावधि और आम चुनावो के बाद भी टिकाऊ सरकार न बन सकी और मजबूत दल आगे न आ सके तो क्या होगा। ऐसा लगता है कि यदि हरियाना की तरह मध्यावधि चुनाव में काग्रेस वापस न आ सकी या मद्रास उडीसा, पश्चिम बगाल और केरल की भांति मजबूत गैरकाग्रेसी सरकारें न कायम हो सकी, तो राज्यो में अस्थिरता, नए गठबधन और बीच बीच मे राष्ट्रपति शासन का दौर चलता रहेगा।[९]

८ देखें अध्याय ५ में दलों की सारणी। ध्यान रहे कि भारत में गैरकाग्रेसी दलों का गठजोड़ (कोआलिशन) यूरोप की सयुक्त दल सरकारों से भिन्न है। फ्रान्स आदि यूरोपीय देशों में मोरचे में शामिल विभिन्न दल अपने अपने क्षेत्रों में काफी मजबूत हैं, भारत के दल अभी भी पक्की तरह पर नहीं जमा पाए है, और चुनावों में उनकी शक्ति घटता बढता रहती है। कम्युनिस्ट और कुछ हद तक जनसघ को छोड कर काग्रेस ही ऐसा दल है जो मतदाताओं के प्रति जिम्मेदारी अनुभव करता है या जिसे निर्वाचकों की नाराजी का भय है।

९ केरल में मध्यावधि चुनावों में स्थिति बदली है। यहा काग्रेस और कम्युनिस्ट मोरचे ने

[अगले पृष्ठ पर]

दूसरी बात यह है कि गैर कांग्रेसी सरकारों के टिक न सकने के कारण, सब दलों में निराशा उत्पन्न हो सकती है और वे असंवैधानिक तरीकों पर उतर सकते हैं। इंदिरा गांधी के बढ़ते हुए प्रभाव से यह निराशा और तीव्र हो सकती है। जब तक ये दल सत्ता में नहीं आ सकते थे तब तक वे विधान सभा में कांग्रेस की टीका टिप्पणी और चुनावों में उसे हराने की आशा से सन्तोष कर सकते थे पर एक बार सत्ता में आकर पुनः उससे वंचित होनेसे इनमें गहरी निराशा और कुंठाजन्य उग्रवादिता उत्पन्न होती है। भारत में दल पद्धति की प्रवृत्ति मजबूत क्षेत्रीय दलों के विकास में है जो केन्द्र में सत्तारूढ़ दल के विरोधी हैं। इससे जनता के राजनैतिक संगठन में सहायता मिली है। साथ ही इसमें खतरा यह है कि यदि इन क्षेत्रीय दलों को सरकार में स्थान न मिला तो ये उग्रता का रुख अख्तियार कर सकते हैं।

तीसरे, राज्यों में संयुक्त दलों की सरकारों की अस्थिरता इसी तरह बनी रही और बार बार केन्द्रीय सरकार का हस्तक्षेप करना पड़ा तो सारा ध्यान सरकार की स्थिरता और राजनैतिक एकता की हिफाजत पर ही केन्द्रित हो जाएगा और आर्थिक समस्याओं तथा वास्तविक प्रश्नों की उपेक्षा हो जाएगी यद्यपि अभी तक इसका कोई निश्चित सबूत नहीं है।[10] इस प्रश्न पर हम अगले अध्याय में विचार करेंगे।

इससे एक प्रश्न और उठता है। क्या विभिन्न दल राजनीति के बुनियादी नियमों का पालन कर रहे हैं? राजनैतिक दलों को जिस प्रकार आचरण करना चाहिए, क्या वे उस ढंग से आचरण कर रहे हैं? संविधान में दलों की प्रतिद्वंद्विता निहित है। शुरू में मजबूत प्रतिद्वंद्वी दलों का अभाव था। १९६७ के बाद कांग्रेस के विरोधी दलों ने जोर पकड़ा और दल या पार्टी पद्धति संविधान के नजदीक आती दिखाई पड़ी। किंतु अभी भी एक पार्टी की प्रधानता खतम नहीं हुई थी। इससे संविधान और राजनैतिक प्रक्रिया के बारे में कुछ विवाद खड़े हुए। कांग्रेस के केन्द्रीय नेताओं में फूट के लक्षण दिखाई पड़ने से केन्द्रीय सरकार का स्थायित्व संदिग्ध हो गया और इससे तोड़फोड़, दलबदल आदि की अनुचित प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिला।

विवाद के मुख्य मुद्दे ये थे—विधान सभा में बहुमत और सरकार बनाने का दावा करने वाले दलों की शक्ति की परीक्षा किस प्रकार हो, खास कर जब दलबदल

[पिछले पृष्ठ से]
मार्क्सवादी कम्युनिस्टों को अपदस्थ कर दिया है। १९७१ के चुनावों में उड़ीसा और पश्चिम बंगाल में कांग्रेस ने पुनः काफी हद तक शक्ति प्राप्त की है, और उसकी प्रतिद्वंद्वी स्वतंत्र और प. बंगाल में मार्क्स कम्युनिस्ट संयुक्त सरकार बनाने की स्थिति में नहीं हैं।

१० इंदिरा गांधी ने राजनैतिक दलबंदी का आर्थिक प्रश्नों को आधार देने की कोशिश की। यद्यपि उनकी यह चाल राजनैतिक थी और इसका उद्देश्य राष्ट्रपति के चुनाव में कांग्रेस के पुराने नेताओं को मात देना था।

की घटनाएं हो रही हों, राज्य का शासन संविधान के अनुसार चल सकता है या नहीं और राष्ट्रपति का शासन लागू हो या नहीं इस विषय में सलाह देने का राज्यपाल का अधिकार, विधानसभा के अध्यक्ष के अधिकार, विधानसभा किस स्थिति में भंग हो और सबसे बड़ा प्रश्न संवैधानिक संकट के समय राष्ट्रपति के अधिकार इन सब विषयों पर संविधान में कुछ न कुछ कहा गया, परंतु इन पर स्पष्टीकरण होना और एक परिपाटी का स्थिर होना आवश्यक है। इन प्रश्नों पर अभी अनिश्चय की स्थिति है।

राजनैतिक परिवर्तन की स्वीकृति

राजनैतिक विकास की एक कसौटी यह है कि सरकार का परिवर्तन कितनी आसानी से होता है। अनेक देशों में राजनैतिक परिवर्तन के समय बड़ी उथल पुथल मची और इस प्रश्न पर अनेक राज्य-व्यवस्थाओं का भाग्य निर्भर है।[11] थोड़े ही देश ऐसे हैं जहां सत्तापरिवर्तन की पद्धति सुस्थिर हो गई है और लोगों में ग्राह्य हो चुकी है। भारत के लिए भी कहा गया कि इस प्रश्न पर संविधान का भविष्य निर्भर है। जब तक कांग्रेस की प्रधानता और जवाहरलाल नेहरू जैसे चमत्कारी व्यक्तित्व मौजूद हैं तब तक राजनीतिक स्थिरता को कोई खतरा नहीं। किंतु इसके बाद क्या होगा? नेहरू और उनकी पीढ़ी के प्रभावशाली नेता एक एक करके उठने लगे और कांग्रेस हाइकमान में फूट और झगड़े पैदा होने लगे। इससे १९५० के दशक के उत्तरार्ध से लेकर ६० के दशक तक, भारत में क्या होता है, इस पर ध्यान लगा रहा और अनिश्चय बना रहा।[12]

१९६४–६७ के बीच तीन बार उत्तराधिकार का प्रश्न उठा। इन्हीं वर्षों में देश को विषम बाहरी और आंतरिक संकट भी झेलने पड़े। इस विषय में कुछ बातें ध्यान योग्य हैं जिनसे भारतीय व्यवस्था के परिवर्तन कर सकने की क्षमता और परिपाटी पर प्रकाश पड़ता है।

---

११ सोवियत संघ, युगोस्लाविया, ग्राम चीन, क्यूबा, पाकिस्तान और मिश्र इन सब देशों को अभी इस कसौटी पर खरा उतरना बाकी है, यद्यपि और तरह से इनकी राजनैतिक व्यवस्था काफी सफल सिद्ध हुई है। लोकतंत्री देशों में मलयेशिया तंजानिया केनिया और कुछ हद तक श्रीलंका का भी अभी परीक्षा बाकी है। इजरायल में बैन गुरियन के बाद लेवी इश्कोल और उसके बाद गोल्डा मायर का चुनाव इसका द्योतक है कि वह इस परीक्षा में खरा उतरा। मेक्सिको में भी उत्तराधिकार या सरकार बदलने की अपनी एक पद्धति बन गयी है।

१२ नेहरू के बाद क्या? इस प्रश्न पर विदेशी लेखकों ने काफी अटकल-बाजियाँ कीं। वेलेस हैंगन, 'आफ्टर नेहरू हू' (न्यूयार्क १९६३) ले वेल्स हैंगन। भारत में नेहरू की बीमारी के बाद १९६३ में जनमत की पड़ताल की गई। 'आफ्टर नेहरू हू?' मंथली पब्लिक ओपीनियन सर्वे नं १०१, १९६३ (इंडियन इंस्टी. पब्लिक ओपीनियन)।

नेहरू ने अपना उत्तराधिकारी चुनने से दृढ़तापूर्वक इनकार किया। उनका कहना था कि मुझे लोकतन्त्री पद्धति पर पूरा विश्वास है और मैं नेता के चुनाव में हस्तक्षेप नहीं करना चाहता। मुझे विश्वास है कि भारत की राजनैतिक व्यवस्था इतनी प्रौढ़ हो चुकी है कि वह मेरी क्षति को सहन कर लेगी और कांग्रेस दल में इतनी समझदारी है कि वह इस ऊंचे पद के उपयुक्त व्यक्ति का चुनाव कर लेगा। यही नहीं यदि मैं किसी आदमी को अपना उत्तराधिकारी बनाऊंगा, तो लोग उससे जलेंगे, उसका विरोध करेंगे और वह कदापि प्रधानमन्त्री नहीं बन पाएगा।[13] इसीलिए नेहरू ने कोई उपप्रधान मन्त्री भी नहीं नियुक्त किया और मन्त्रियों की वरिष्ठता का क्रम भी निर्धारित नहीं होने दिया।[14] इसके प्रतिकूल गांधीजी ने स्पष्ट रूप से नेहरू को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया था। इन दोनों नेताओं के व्यवहार के इस अन्तर से देश में राजनैतिक पद्धति के विकास का क्रम ध्वनित होता है।

(२) लेकिन नेहरू को उत्तराधिकार के बारे में चिंता थी। उत्तराधिकारी नियुक्त न करने में उनकी यह भावना भी थी कि दल में और केन्द्रीय सरकार में गहरी फूट न पड़ जाए। वह देश और कांग्रेस दल के संघीय या सार्वदेशिक रूप को समझते थे और यह भी समझते थे कि बिना सब लोगों की राय लिए ऊपर से कोई निश्चय लादना खतरनाक है। उनका प्रभाव दल पर इतना अधिक छा गया था कि उसमें स्वतन्त्र विचारविनिमय की क्रिया रुक सी गई थी और वह उनका [illegible] लग्गू बन गया था। इसीलिए उन्होंने कामराज योजना का सक्रिय समर्थन किया जिसका ऊपरी उद्देश्य यह था कि प्रमुख मन्त्री अपना सरकारी पद छोड़ कर दल के काम में लग जायं पर जिसका असली उद्देश्य कांग्रेस के संघीय ढांचे को फिर से गतिशील करना था। उन्होंने कांग्रेस के अध्यक्ष के पद के महत्त्व और खास कर संकट या आवश्यकता के समय उस के अधिकार की पुनः स्थापना की। उन्होंने इस सिद्धान्त को स्वीकार किया कि देश के प्रधानमन्त्री के चुनाव में राज्यों के मुख्यमन्त्रियों से राय लेना जरूरी है। उन्होंने कामराज को कांग्रेस का अध्यक्ष बनाया और श्री लाल बहादुर शास्त्री को बीमार प्रधानमन्त्री की सहायता देने के लिए अविभागीय मन्त्री

१३ नेहरू के साथ अर्नाल्ड माइकेलिस की टेलीविजन मुलाकात। माइकेल ब्रेचर—'नेहरूज मैन्टिल—द पालिटिक्स आफ सक्सेशन इन इन्डिया' (न्यूयार्क १९६६)।

१४ सन् १९४७ से १९५० तक सरदार वल्लभभाई पटेल उपप्रधान मन्त्री थे और नेहरू के साथ सत्ता के साझेदार थे। उनकी मृत्यु के बाद यह पद खाली रहा। १९६० में इस प्रश्न पर कांग्रेस संसदीय दल में वोट लिये गये किन्तु इस पर इतना तीव्र मतभेद प्रकट हुआ कि नेहरू ने किसी को इस पद पर नहीं नियुक्त किया। नेहरू की बीमारी के समय, उपप्रधान मन्त्री की नियुक्ति की मांग की गयी, किन्तु नेहरू ने इसे स्वीकार नहीं किया। क्योंकि वह समझते थे कि इस समय जो उपप्रधान मन्त्री होगा, वह स्वतः प्रधानमन्त्री बन जाएगा। इस विषय में देखिए—पूर्वोक्त पृ ९४–१०३।

नियुक्त किया। इस प्रकार उन्होने दल की आम राय से प्रधानमंत्री के चुनाव का पथ प्रशस्त किया। उन्होंने अंत तक अपनी पसंद नही जाहिर की और लालबहादुर शास्त्री को उपप्रधानमंत्री का पद नहीं दिया।

नेहरू की मृत्यु के बाद नेता या प्रधानमंत्री के चुनाव का कोई निर्णय नही हुआ था। किंतु यह सिद्धात मान लिया गया था कि ऐसा तरीका निकाला जाना चाहिए जो सर्वमान्य स्वीकार्य हो। दल के नेताओं ने यह तरीका तुरत ही निकाल लिया। यह समझा जाता हुआ कि दल के मुख्य लोगो की जो आम राय हो, उसी को दल का निर्णय माना जाए। इसलिए कांग्रेस अध्यक्ष ने कांग्रेस कार्यकारिणी, संसदीय दल के पदाधिकारी, दल के अन्य नेता और संसदीय दल के २०० सदस्यो से मशविरा करके लालबहादुर शास्त्री के पक्ष में आम राय घोषित की।[१५] यह निर्णय वास्तव में दल के सबसे शक्तिशाली लोगो का निर्णय था और इसका कराने में कांग्रेस अध्यक्ष का मुख्य हाथ था। इस प्रकार उन्होंने इस प्रश्न पर पार्टी में फूट को टालने का यत्न किया। इसके बाद कांग्रेस संसदीय दल की बैठक में रस्मी तौर पर हाइकमान के फैसले पर मुहर लगा दी गयी। कांग्रेस अध्यक्ष की सदारत में संसदीय दल की बैठक हुई, इसमें शास्त्री सर्वमत से नेता चुने गए और राष्ट्रपति ने उन्हे सरकार बनाने का निमंत्रण दिया। आम राय की सारी कारवाई बहुत कम समय में पूरी हो गयी यद्यपि उसमें इतने आदमियो से मशविरा किया गया।

२ जून १९६४ को जवाहरलाल नेहरू की मृत्यु के केवल ५ दिन और १९ घंटे बाद संसद के केंद्रीय कक्ष में कांग्रेस संसदीय दल की असाधारण बैठक मे लालबहादुर शास्त्री सर्वसम्मति से दल के नेता चुने गए। सात घंटे बाद राष्ट्रपति राधाकृष्णन ने उन्हे नयी सरकार बनाने का न्योता दिया। इसके साथ नेहरू के उत्तराधिकारी के चयन की कारवाई पूरी हो गई। जिन लोगोने इन ६ दिन की घटनाओ में भाग लिया और जिन्होंने इसको देखा, उन सब के लिए एक युग का यह बडा शांतिपूर्ण अन्त था। संसार में बहुत से लोग थे जिन्होंने नेहरू के बाद भारत में होनेवाली अव्यवस्था का बडा डरावना चित्र खीचा था। उनकी आशंकाए निराधार सिद्ध हुइ। लेकिन जिन लोगो ने ऐसी आशंका नहीं की थी उन्हे भी सत्ता के इतनी सरलता और शांतिपूर्वक परिवर्तन से सुखद आश्चर्य हुआ।[१६]

१५ शास्त्रीजी के मुख्य प्रतिद्वन्द्वी मुरारजी देसाइ थे, जिनका नेहरू से मतभेद सर्वविदित था। वह दक्षिणपंथी समझे जाते थे और अधिकतर मुख्यमंत्री उनके विरुद्ध थे। कामराज और शास्त्री दोनों दक्षिण और वाम पक्ष के बीच के समझे जाते थे और उनसे आशा की जाती थी कि वे नेहरू के कार्यक्रम को चालू रखेंगे। कामराज ने आग के दो चुनावों में भी प्रधानमंत्री निर्माता का पार्ट अदा किया और वह तटस्थ माने जाते थे। देखिए, पूर्वोक्त अध्याय दो, तीन तथा चार जे वेंकटेश्वरन्, 'केबिनेट गवर्नमेंट इन इन्डिया' (लंदन १९६७) अ १०।

१६ ब्रीचर-पूर्वोक्त, पृ ६ में आम राय मालूम करने के कामराज के तरीके पर विचार किया गया है।

इस प्रकार उत्तराधिकार का पहला सकट समाप्त हुआ। इस समय काग्रेस के नेताओ का सबसे अधिक ध्यान इस बात पर था कि काग्रेस की और देश की एकता बनी रहे और नेता का चुनाव लोकतत्री तरीके से हो, साथ ही नेतृत्व का द्वद्व या सघर्ष अनुचित रूप न धारण करने पाए। इस प्रश्न का निपटारा काग्रेस के मुखिया ने सगठन और दल के सदस्यो की आम भावना को ख्याल मे रखते हुए किया। नेतृत्व का निपटारा इस तरीके से हुआ, इसमें नेहरू को भी श्रेय था।

(३) १९ महीने प्रधानमत्री रहने के बाद जब लालबहादुर शास्त्री का निधन हुआ, तब पहले जैसी सकट की स्थिति नही थी। देश की एकता भग होने का डर न था। यह सिद्ध हो चुका था कि देश मे नेता के शून्य स्थान को भरने की क्षमता है। जिस प्रकार नेहरू का निधन एक युग के अत का द्योतक था उस प्रकार शास्त्री का देहात नही। बल्कि नए नेता के चुनाव का प्रश्न एकाएक पहले से आम राय या समझौते की कोशिश का बिना मौका दिए आ खडा हुआ था। शास्त्री की मृत्यु भारत पाकिस्तान युद्ध के बाद ताशकद सम्मेलन के बाद अचानक हो गयी। शास्त्री के बाद क्या होगा इस पर विचार की जरूरत ही नहीं हुई थी और शास्त्रीजी ने अपने उत्तराधिकारी के लिए रास्ता बनाने की कोई कारवाई ही नहीं की थी। उत्तराधिकारी कौन हो यह स्पष्ट न था, क्योकि शुरू में इदिरा गाधी का नाम सामने आया ही नही था। चव्हाण, मोरारजी, नदा, श्रीमती गाधी, जगजीवनराम, स्वय कामराज अनेक नाम आए। काग्रेस की हाइकमान में किसी भी नाम पर सहमति न थी सिवा इसके कि मोरारजी न हो। कई प्रश्न उठाए गए, जैसे अगले चुनाव मे दल का सबसे अच्छी तरह कौन नेतृत्व कर सकता है। पर कुछ निश्चय न हो पाया।

इस बार पहले वाला तरीका काम में नही लाया गया। अब खुले सघर्ष से उतना डर न था। अत में मामले पर ससदीय पार्टी में गुप्त मतदान हुआ। इस मतदान पर मुख्य मत्रियो ने बहुत प्रभाव डाला। उनकी साधारण राय इदिरा गाधी के पक्ष में थी। फिर भी मुकाबला सख्त हुआ। इदिरा गाधी के पक्ष मे, ३५५ और मोरारजी के पक्ष में १६९ वोट आए। मुकाबला शिष्टता के साथ हुआ और अनेक सदस्यो ने अपने राज्य के मुख्य मत्री की राय न मान कर मोरारजी को वोट दिया। इस प्रकार इस बार चुनाव की पद्धति ज्यादा सुव्यवस्थित और सुसस्थित थी और यह बात स्पष्ट हो गयी कि व्यवस्था में नेता का शून्य स्थान भरने की क्षमता है। इसके साथ ही चुनाव में सब वर्गो या राज्यो की और काग्रेस सगठन की इच्छा का ध्यान रखने का महत्त्व भी स्पष्ट हो गया। अत में आम राय से ही फैसला हुआ पर यह आम राय खुले तरीके से स्थिर हुई, गुपचुप नही।

(४) जब तक नेहरूजी जीवित थे, हर चुनाव के बाद नेता का निर्वाचन एक रस्म अदायगी थी। परतु सन १९६७ के आम चुनाव के बाद प्रधानमत्री इन्दिरा

गाधी या फिर स इस पद पर चुना जाना तै वात नही मानी जा सकती थी। सन् १९६६ में जब वह नेता चुनी गयी थी, उस समय यह स्पष्ट था कि आम चुनाव के बाद इस प्रश्न पर फिर स विचार होगा। इस बार राजनैतिक स्थिति वह न थी, जो नेहरूजी और लाल बहादुर शास्त्री की मृत्यु के बाद थी। इस बार काग्रेस की शक्ति बहुत कम हो गयी थी। ५२१ सदस्या के सदन में उसका बहुमत केवल ८४ का था। काग्रेस दल में कोई भी फूट पडने से सरकार उलट सकती थी। सात राज्या म काग्रेस की पराजय हो चुकी थी। मद्रास में स्वय कामराज हार गए थे, और काग्रेस की गहरी हार हुई थी। इसका अथ यह था कि सन १९६६ की तरह इस बार काग्रेस मुख्यमन्त्रिया की मडली नेता के चुनाव को प्रभावित न कर सकती थी। काग्रेस के अतरग गुट के खास खास आदमी हार गए थे। काग्रेस अध्यक्ष कामराज पहले की तरह आम राय या सहमति को लागू कराने की स्थिति में न थे।,

१९६६ क नेता के चुनाव से पता चल गया था कि अल्पमत काफी शक्तिशाली था। चूकि चुनाव काग्रेस ससदीय दल का करना था, इसलिए यह भी आशका थी कि यदि फूट पड गयी तो काग्रेस की सरकार ही उलट सकती थी। दलबदल की जितनी घटनाए चुनाव के पहले और बाद मे हो रही थी, उसका देखते हुए यह आशका निराधार न थी।

नतीजा यह हुआ कि मुख्य प्रतिद्वद्विया मे गहरी सौदेबाजी चली। कामराज और कुछ मध्यस्थ लोगा ने कोशिश की कि वोट लेने की नौबत न आए। इस समय एक नया और बडा गुट सामने आया। यह नेहरू के अनुयायिया का था। यह नही चाहता था कि इदिरा दबें या चुनाव से हटें। दोना प्रतिद्वद्वी गुटा को अत में कुछ दबना पडा। तय हुआ कि इदिराजी नेता रह और दूसरा स्थान मोरारजी को मिले। उन्हे उपप्रधान मत्री का पद दिया जाए, पर उनको गृह विभाग नही मिला। यह विभाग चव्हाण के पास रहा। मोरारजी ने बडी उदारता और सदाशयता दिखाई तथा न तो मन्त्रिमडल के चुनाव में इदिरा पर कोई बदिश लगाने की कोशिश की, न उपप्रधानमत्री के अधिकारा का स्पष्टीकरण मागा।

नतीजा यह हुआ कि जो मन्त्रिमडल बना, उसमें सभी मता का प्रतिनिधित्व था। दल की एकता बनी रही और उसने सामूहिक नेतत्व स्वीकार किया। मोरारजी अनुशासन के पाबद थे और सरकार के अधिकार पर किसी किस्म की बदिश लगाने के विरोधी थे। उन्होने प्रधान मत्री को पूरा समथन दिया। इधर इदिराजी को भी अपने गुट (किचन केबिनेट) या दल के प्रमुख व्यक्तिया पर निर्भर रहने की उतनी जरूरत न थी। देश म राजनतिक अस्थिरता के वातावरण मे केन्द्र में एक

मजबूत और संयुक्त नेतृत्व की स्थापना कोई मामूली बात न थी।[१७]

१९६७ में प्रधानमंत्री या नेता के चुनाव की एक बात उल्लेखनीय है। प्रतिद्वंद्वी गुटों का सारा मोलभाव या सौदेबाजी खुले खजाने हुई। दोनों प्रतिद्वंद्वी कई बार मिले और दोनों ने अपनी बातें स्पष्ट रूप में एक दूसरे के सामने रख दीं। दूसरे लोग भी बीच बिचाव कर रहे थे, किंतु इन्होंने मध्यस्थों को यह मौका न दिया कि वे जबरदस्ती अपनी शर्तें मनवाएं या खिंच पैदा कर दें। इस प्रकार की खुली बातचीत और विचार विनिमय पहले की अप्रत्यक्ष या गुप्त सौदेबाजी से भिन्न था और इससे कांग्रेस की आपसी गुटबंदी या मतभेद को निपटाने और समझौता करने की शक्ति बढ़ी।[१८]

राजनैतिक पद्धति के विकास में भी यह एक महत्वपूर्ण अध्याय था। पहले की तरह एक चमत्कारी व्यक्तित्व के नेतृत्व का स्थान अब एक सामूहिक नेतृत्व ने लिया।[१९]

साथ ही राजनैतिक पद्धति के विकास की क्रिया अभी भी जारी थी, और स्थिति अस्थिर तथा परिवर्तनशील बनी रही। चौथे चुनाव के पहले और बाद भी कांग्रेस के नेता अपनी जोड़तोड़ बिठाने में लगे रहे। १९६७ के चुनाव के लिए उम्मीदवारों को छांटने में नेताओं का ध्यान नेता व प्रधानमंत्री पद के चुनाव की तैयारी

१७ इस समझौते की सरकार की मजबूती १९६७ के राष्ट्रपति के चुनाव में प्रगट हुई। निर्वाचक मंडल में गैर कांग्रेसी दलों का बहुमत था। (इसमें राज्यों के विधान मंडलों और संसद के निर्वाचित सदस्य होते थे) इन लोगों ने सर्वोच्च न्यायालय के जज श्री सुब्बाराव को अपना उम्मीदवार बनाया, जबकि कांग्रेस ने डा. जाकिर हुसैन को। कांग्रेस और खासकर इंदिरा गांधी ने एक मुसलमान को खड़ा करके बड़ा जोखिम उठाया था। उसने धर्मनिरपेक्षता के सिद्धांत को कसौटी बनाकर कांग्रेस के सभी गुटों को एकजुट किया और चुनाव जीत *लिया। इससे कांग्रेस की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गयी। दूसरी ओर गैरकांग्रेसी दलों की फूट जाहिर हो* गई।

१८ भारत के अखबारों में समझौते की प्रत्येक गतिविधि की पूरी खबर छपती रही। कौन किससे किसके घर पर मिला, उस समय कौन से लोग उपस्थित थे। साधारणतः धारणा यह थी कि भारतीय लोग साफ और सीधे बात करने में कतराते हैं। इस बातचीत में यह बात नहीं दिखाई पड़ी। पूरे विवरण के लिए देखें—माइकेल ब्रीचर—'सक्सेशन इन इंडिया १९६७—द रोटिनाइजेशन आफ पोलिटिकल चेंज' (एशियन सर्वे, सात, सं ७ जुलाई १९६७)।

१९ दूसरी ओर सामूहिक नेतृत्व में परस्पर अविश्वास भी रहता है और सरकार तथा दल के कार्य में बाधा पड़ती है। इसी कारण १९६७ के दो वर्ष बाद इंदिरा गांधी ने अपने हटाए जाने के आशंकित प्रयत्न को विफल करने के उद्देश्य से कुछ राजनैतिक और आर्थिक कदम उठाए। उन्होंने मोरारजी देसाई *को अपदस्थ कर दिया, बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर दिया* और दल तथा सरकार से विरोधी गुट को सफाया करने का प्रयत्न किया। १९७१ के मध्यावधि चुनाव से 'करामाती व्यक्तित्व' का नेतृत्व फिर से स्थापित होता लक्षित होता है।

मे ही लगा था[२०] और इस प्रक्रिया मे काफी गहरे मतभेद प्रकट हुए। १९६९ मे सामूहिक नेतत्व मे दरार पडने लगी आर सत्ता का सघष शुरू हुआ। इस समय अविश्वास और सन्देह का वातावरण था, इसलिए दोना पक्षो मे वह खुला विनिमय न रहा जो १९६७ म देखने मे आया और केन्द्रीय नेतृत्व मे फूट पड गई।

१९६९ का राष्ट्रपति का चुनाव

भारतीय दल पद्धति में सरकार और सगठन का द्वद्व निहित है। परतु यह द्वद्व नीचे के स्तर पर देखने मे आता था। काग्रेस का राष्ट्रीय नेतृत्व (हाइकमान) दल की एकता को बनाए रखता था और नीचे के झगडो को निपटाता रहता था। लेकिन प्रधानमत्री के उत्तराधिकार के दो सघर्षों से आरभ होकर सरकार और सगठन का द्वद्व ऊपर तक पहुच गया और १९६९ के बगलोर काग्रेस अधिवेशन मे इसकी पराकाष्ठा हो गई जब प्रधानमत्री इदिरा गाधी और काग्रेस अध्यक्ष निजलिगप्पा तथा सगठन के मुखियो मे खुली टक्कर हुई। इस सघष में व्यक्तिगत, क्षेत्रीय और कायक्रमगत स्पष्ट मतभेद देखने में आया। परिणामस्वरूप नेतृत्व के लिए जो सघष हुआ, उससे तीन बात सामने आयी। एक तो काग्रेस सगठन मे प्रधानमत्री और उसकी सरकार के स्थान और शक्ति का प्रश्न, जिसे कामराज योजना द्वारा टालने का प्रयत्न किया गया था। दूसरे, प्रतिद्वद्वी गुटा ने बाहर से शक्तिसचय का प्रयत्न किया। श्रीमती गाधी ने वामपक्ष, द्रमुक और अन्य क्षेत्रीय दला का समथन लिया और सगठन के नेताओ ने स्वतत्र और जनसघ का। तीसरे, इस द्वद्व ने क्षेत्रीय रूप ग्रहण किया। उत्तर भारत, पश्चिम बगाल, केरल और मद्रास इदिरा गाधी के साथ रहा और पश्चिम भारत राजस्थान और मैसूर सगठन नेताओ के साथ। इस मोर्चेबदी ने काग्रेस को झकझोर दिया। दक्षिण और वाम पक्ष के बीच काग्रेस की मध्य स्थिति को खतम कर दिया और देश मे नई राजनतिक गुटवदी और मोरचेबदी को जन्म दिया।

काग्रेस की अदरूनी खीचतान राष्ट्रपति पद के उम्मेदवार के चुनाव पर सीमा पार कर गई। श्रीमती इदिरा गाधी काग्रेस ससदीय वोर्ड मे अल्पमत मे आ गई। श्रीमती इदिरा गाधी ने समझा कि यह उन्हे प्रधानमत्री पद से हटाने की चाल है। जवाब मे उन्होने मोरारजी भाई का हटा दिया, जिन्हे उन्होने खुद काग्रेस की फूट बचाने के लिए उपप्रधान मत्री बनाया था। इसके बाद उन्होने अध्यादेश के जरिए बैका का राष्ट्रीयकरण कर दिया और आर्थिक नीति को वामपथी तथा क्रातिकारी रूप दिया। फिर उन्होने राष्ट्रपति के चुनाव में काग्रेस सदस्या को अपने अत-

२० १९६७ के चुनाव के उम्मीदवारों की छटाई के बारे म देखो – रजनी कोठारी –'काग्रेस सिस्टम आन ट्रायल' (एशियन सर्वे सान स २ फरवरी १९६७) तथा स्टेनला ए कोचनेक –'द काग्रेस पार्टी आफ इडिया – द डायनेमिक्स आफ वन पार्टी डेमाक्रेसी (प्रिसटन १९६८)।

करण के अनुसार वोट देने की आजादी की माग की, अर्थात् प्रतिपक्षी उम्मीदवार श्री गिरि का वोट देने की आजादी। कांग्रेस अध्यक्ष ने इसका विरोध किया और दोनों ओर से प्रतिद्वंद्वी उम्मीदवारों के लिए जोर लगाया। यह चुनाव अभूतपूर्व था। इसमें दल का विभाजन रेखा टूट गई और अधिकृत कांग्रेस उम्मीदवार श्री संजीव रेड्डी की हार हुई। पहली बार राष्ट्रपति के चुनावों में कांग्रेस की हार हुई। यह कांग्रेस संगठन और प्रधानमंत्री के गुटों की टक्कर थी। इसमें प्रधानमंत्री की विजय हुई और वह संगठन के मुकाबले 'सत्तारूढ' या सरकारी गुट की प्रधानता स्थापित करने में सफल हुई। साथ ही कांग्रेस में वामपंथी प्रवृत्ति की प्रधानता स्थापित हुई।

साथ ही १९६९ के राष्ट्रपति के चुनाव ने भारतीय दल पद्धति के खुले रूप को भी प्रकट किया। एक ओर कांग्रेस के चोटी के नेताओं में परस्पर वैमनस्य इतना बढ गया था कि उनमें बातचीत बंद हो गई, दूसरी ओर राष्ट्रपति के चुनाव के आंदोलन में सभी प्रमुख दल और कांग्रेस के गुट कूद पडे। जिस प्रकार कांग्रेस के अंदरूनी गुट दल के अंदर अपनी शक्ति बढाने के लिए बाहरी दलों का सहारा ले रहे थे उसी तरह एक ओर कम्युनिस्ट और दूसरी ओर स्वतंत्र और जनसंघ दलों ने भी कांग्रेस की गुटबंदी का सहारा लेकर नई राजनैतिक मोर्चेबंदी कायम करने की कोशिश की। दोनों ओर से पूरा जोर लगाया गया और खुल कर संघर्ष हुआ। यह मोर्चेबंदी राजनैतिक और वैचारिक मतभेद के साथ साथ क्षेत्रीय और साम्प्रदायिक भेद के आधार पर हुई। यद्यपि इस फूट के कारण केंद्रीय कांग्रेस के उखड़ने की आशंका उपस्थित हुई, किंतु राजनैतिक व्यवस्था के टूटने की आशंका नहीं उठी। चुनाव के बाद कांग्रेस में फूट को बचाने की कोशिश हुई और कांग्रेस कार्य समिति में एकता का प्रस्ताव पास हुआ।

साथ ही दूसरे दलों में भी बहुत फूट दिखाई पडी। मध्यावधि चुनावों और संयुक्त मोर्चा सरकारों की स्थापना और पतन के समय यह फूट उभर कर सामने आयी। गैरकांग्रेसी दलों के गठजोड का चलना या टिकना बडा कठिन सिद्ध हुआ। व्यक्तिगत सैद्धांतिक और वर्गहितों पर विरोध सामने आए। इन दलों में भी उत्तराधिकार के संकट उपस्थित हुए। संयुक्त समाजवादी पार्टी गैरकांग्रेसी दलों में सबसे गतिशील थी। डा० लोहिया की मृत्यु से इसको गहरा धक्का लगा और इसमें फूट पड गयी। सन् ६० के बाद सैद्धांतिक मतभेद के कारण कम्युनिस्ट पार्टी की एकता और संगठन छिन्न भिन्न हो गया। जयप्रकाश नारायण के सर्वोदय में चले जाने और अशोक मेहता के 'पिछडी अर्थव्यवस्था की मजबूरियां' अनुभव करने (और कांग्रेस में जाने) के बाद प्र सो पा भी नेतृत्वविहीन हो गयी। स्वतंत्र पार्टी तो ऐसा जान पडता है, अखिल भारतीय नेतृत्व में विश्वास ही नहीं करती। कांग्रेसत्यागी गुटों में भी नेता अधिक और अनुयायी कम दीखते हैं। केवल जनसंघ

में कुछ एकता और अनुशासन दीख पडता है यद्यपि उसमें भी कांग्रेस क ही समान नरम और गरम गुट मौजूद हैं। परतु जनसघ मुख्यत उत्तरभारत का सगठन है, जैसे द्र मु क केवल दक्षिण का। इससे पता चलता है कि नेहरूवाद और कांग्रेस ह्रास के युग में दलो की स्थिति कितनी कच्ची और अस्थिर है। इस अस्थिरता के युग में भी राजनतिक व्यवस्था को बनाए रखने मे कांग्रेस सहायक हुई। नेहरू और अन्य महान नेताओ के उठ जाने के बाद भी उसने टिके रहने और पुन शक्ति प्राप्त करने की क्षमता प्रदर्शित की है।

नौकरशाही की भूमिका

भारतीय राज्यव्यवस्था को बनाए रखने मे नौकरशाही या प्रशासन तत्र का भी बडा हाथ है। राजनैतिक परिवतन के समय तो न केवल नौकरशाही सरकार या शासन की निरतरता को बनाए रखती है, बरन महत्त्वपूण क्षेत्रो में काम कर दिखाने की जिम्मेदार होती है जिस पर सरकार की सफलता या विफलता निभर होती है। राजनैतिक नेता अर्थात मत्रियो का सरकारी अधिकारी और विशेषज्ञो के निकट सहयोग से काम करना होता है और ऊचे स्तर पर नीतिनिणय में अधिकारियो या सचिवो का हाथ बढता जा रहा है। लालबहादुर शास्त्री और इदिरा गाधी क अत्यत महत्त्वपूर्ण राजनैतिक निणयो मे भी उच्च अधिकारियो का बहुत बडा हाथ रहा है। पाकिस्तान से युद्ध और ताशकद समझौते के समय यह बात स्पष्ट हो गई,[२१] और अब भी यही स्थिति है। लक्ष्मीकात झा, लल्लनप्रसाद सिंह और पी एन हक्सर जैसे उच्च अधिकारियो का महत्त्वपूण सरकारी निणयो में बहुत अधिक हाथ रहा है। मन्त्रिमडल सचिवालय और प्रधानमत्री के सचिवालय का बढता हुआ महत्त्व किसी से छिपा नही। ये प्रधानमत्री के आख और कान है। इनके द्वारा उनको पूरी राजनैतिक जानकारी मिलती है। उच्च स्तर की समितियो मे इन अधिकारियो की उपस्थिति सरकारी निणयो में इनकी महत्त्वपूण भूमिका की परिचायक है। इस स्थिति का मुकाबला उस जमाने से करिए जब मत्रिपरिषद के मत्रियो की भी नेहरूजी के सामने बोलने की हिम्मत नही पडती थी।

अब तक हमने केन्द्रीय सरकार या केन्द्रीय राजनैतिक नेतत्व, राजनैतिक गठजोड या योग, राजनैतिक उत्तराधिकार, वैचारिक या सैद्धातिक सहमति की समस्याओ पर विचार किया है। यह सवविदित है कि जैसे जैसे राजनैतिक व्यवस्था जड पकडती है और इसकी पद्धतियो या सस्थाओ का विकास होता है, नयी समस्याए पैदा होती हैं। विकास के द्वारा देश की एकता को किस प्रकार बढाया जाए, राजनैतिक मूल्यो की प्रतिष्ठा करके और सबको प्रशासन का लाभ पहुचा कर किस प्रकार राज्यतत्र या व्यवस्था को मजबूत बनाया जाय, स्थानीय या

[२१] ब्राचर-'नहरूज मैंटल'-पूर्वोक्त पृ ११५-२०, १६७-६८।

करण के अनुसार वोट देने की आजादी की माग की, अर्थात प्रतिपक्षी उम्मीदवार श्री गिरि का वोट देने की आजादी । काग्रेस अध्यक्ष ने इसका विरोध किया और दोनो ओर से प्रतिद्वद्वी उम्मीदवारो के लिए जोर लगाया। यह चुनाव अभूतपूर्व था। इसमे दल की विभाजन रेखा टूट गई और अधिकृत काग्रेस उम्मीदवार श्री सजीव रेड्डी की हार हुई। पहली बार राष्ट्रपति के चुनावो में काग्रेस की हार हुई। यह काग्रेस सगठन और प्रधानमत्री के गुटो की टक्कर थी। इसमें प्रधानमत्री की विजय हुई और वह सगठन के मुकाबले मत्तारूढ या सरकारी गुट की प्रधानता स्थापित करने में सफल हुईं। साथ ही काग्रेस मे वामपक्षी प्रवृत्ति की प्रधानता स्थापित हुई।

साथ ही १९६९ के राष्ट्रपति के चुनाव ने भारतीय दल पद्धति के खुले रूप को भी प्रकट किया। एक ओर काग्रेस के चोटी के नेताओ में परस्पर वैमनस्य इतना बढ गया था कि उनमें बातचीत बद हो गई, दूसरी ओर राष्ट्रपति के चुनाव के आदोलन मे सभी प्रमुख दल और काग्रेस के गुट कूद पडे। जिस प्रकार काग्रेस के अदरूनी गुट दल के अदर अपनी शक्ति बढाने के लिए बाहरी दलो का सहारा लेते थे उसी तरह एक ओर कम्युनिस्ट और दूसरी ओर स्वतत्र और जनसघ दलो ने भी काग्रेस की गुटबदी का सहारा लेकर नई राजनैतिक मोर्चेबदी कायम करने की कोशिश की। दोनो ओर से पूरा जोर लगाया गया और खुल कर सघर्ष हुआ। यह मोर्चेबदी राजनैतिक और वैचारिक मतभेद के साथ साथ क्षेत्रीय और साम्प्रदायिक भेद के आधार पर हुई। यद्यपि इस फूट के कारण केद्रीय काग्रेस के टूटने की आशका उपस्थित हुई, किंतु राजनैतिक व्यवस्था के टूटने की आशका नही उठी। चुनाव के बाद काग्रेस में फूट को बचाने की कोशिश हुई और काग्रेस कार्य समिति मे एकता का प्रस्ताव पास हुआ।

साथ ही दूसरे दलो म भी बहुत फूट दिखाई पडी। मध्यावधि चुनावो और सयुक्त मोरचा सरकारो की स्थापना और पतन के समय यह फूट उभर कर सामने आयी। गैरकाग्रेसी दलो के गठजोड का बनाना या टिकाना बडा कठिन सिद्ध हुआ। व्यक्तिगत सैद्धातिक और वर्गहितो पर विरोध सामने आए। इन दलो म भी उत्तराधिकार के सकट उपस्थित हुए। सयुक्त समाजवादी पार्टी गैरकाग्रेसी दलो मे सबसे गतिशील थी। डा० लोहिया की मृत्यु से इसको गहरा धक्का लगा और इस म फूट पड गयी। सन ६० के बाद सैद्धान्तिक मतभेद के कारण कम्युनिस्ट पार्टी की एकता और सगठन छिन्न भिन्न हो गया। जयप्रकाश नारायण के सर्वोदय मे चले जाने और अशोक मेहता के 'पिछडी अर्थव्यवस्था की मजबूरिया' अनुभव करने (और काग्रेस मे जाने) के बाद प्र सो पा भी नेतत्वविहीन हो गयी। स्वतत्र पार्टी तो ऐसा जान पडता है, अखिल भारतीय नेतृत्व म विश्वास ही नही करती। काग्रेसत्यागी गुटो में भी नेता अधिक और अनुयायी कम दीखते हैं। केवल जनसघ

में कुछ एकता और अनुशासन दीख पडता है यद्यपि उसमें भी काग्रेस के ही समान नरम और गरम गुट मौजूद हैं। परतु जनसघ मुख्यत उत्तरभारत का सगठन ह, जैसे द्र मु क केवल दक्षिण का। इससे पता चलता है कि नेहरूवाद और काग्रेस ह्रास के युग में दलो की स्थिति कितनी कच्ची और अस्थिर है। इस अस्थिरता के युग में भी राजनतिक व्यवस्था को बनाए रखने मे काग्रेस सहायक हुई। नेहरू और अय महान नेताओ के उठ जाने के बाद भी उमने टिके रहने और पुन शक्ति प्राप्त करने की क्षमता प्रदर्शित की हैं।

नौकरशाही की भूमिका

भारतीय राज्यव्यवस्था को बनाए रखने में नौकरशाही या प्रशासन तत्र का भी बडा हाथ है। राजनैतिक परिवतन के समय तो न केवल नौकरशाही सरकार या शासन की निरतरता को बनाए रखती है, वरन महत्त्वपूण क्षेत्रो मे काम कर दिखाने की जिम्मेदार होती है, जिस पर सरकार की सफलता या विफलता निभर होती है। राजनतिक नेता अर्थात मत्रिया का सरकारी अधिकारी और विशेषज्ञो के निकट सहयोग से काम करना होता है और ऊचे स्तर पर नीतिनिणय में अधिकारिया या सचिवो का हाथ बढता जा रहा है। लालबहादुर शास्त्री और इदिरा गाधी क अत्यत महत्त्वपूर्ण राजनैतिक निणया मे भी उच्च अधिकारियो का बहुत बडा हाथ रहा है। पाकिस्तान से युद्ध और ताशकद समझौत के समय यह बात स्पष्ट हो गई,[२१] और अब भी यही स्थिति है। लक्ष्मीकात झा, ललनप्रसाद सिंह और पी एन हक्सर जैसे उच्च अधिकारिया का महत्त्वपूण सरकारी निणया में बहुत अधिक हाथ रहा है। मत्रिमडल सचिवालय और प्रधानमत्री के सचिवालय का बढता हुआ महत्त्व किसी से छिपा नही। ये प्रधानमत्री के आख और कान ह। इनके द्वारा उनको पूरी राजनैतिक जानकारी मिलती है। उच्च स्तर की समितिया मे इन अधिकारिया की उपस्थिति सरकारी निणया में इनकी महत्त्वपूण भूमिका की परिचायक है। इस स्थिति का मुकाबला उस जमाने से करिए जब मत्रिपरिषद के मत्रिया को भी नेहरूजी के सामने बोलने की हिम्मत नही पडती थी।

अब तक हमने केन्द्रीय सरकार या केन्द्रीय राजनैतिक नेतत्व, राजनतिक गठजोड या योग, राजनैतिक उत्तराधिकार, वैचारिक या सैद्धातिक सहमति की समस्याओ पर विचार किया है। यह सवविदित है कि जैसे जैसे राजनैतिक व्यवस्था जड पकडती है और इसकी पद्धतिया या सस्थाओ का विकास होता है, नयी समस्याए पैदा होती ह। विकास के द्वारा देश की एकता को किस प्रकार बढाया जाए, राजनैतिक मूल्यो की प्रतिष्ठा करके और सबको प्रशासन का लाभ पहुचा कर किस प्रकार राज्यतत्र या व्यवस्था को मजबूत बनाया जाय, स्थानीय या

[२१] ब्राचर-'नहरूज मैंटल'-पूर्वोक्त पृ ११५-२०, १६७-६८।

और इडोनीशिया में सुकार्नो, अधिकारमद के उदाहरण ह। इसी तरह पश्चिम एशिया में नासिर का प्रभाव इस बात का द्योतक है कि ऐतिहासिक घटनाओ का राष्ट्रीय भावना पर जो प्रभाव पडता है वह स्थायी नही होता। दूसरी ओर कागो और नाइजीरिया में जो गृहयुद्ध हुए उसस सभवत उन दशा को समझ में आ जाएगा कि राष्ट्रीय एकता का बनाए रखने क लिए क्या कीमत चुकानी पडती है और कितनी सावधानी रखनी पडती है। जो हो, भारत में विभाजन के फलस्वरूप राष्ट्रीय एकता का महत्त्व और उसका बनाए रखने के लिए सभी वर्गो का ख्याल रखने की आवश्यकता राजनीतिज्ञा का समय म आ गयी।

स्वतत्र भारत मे जाति और मजहब बहुत्तर राजनतिक सगठना या गठजोडा के अग हैं। इनके मुकाबले भाषा या प्रात क विभाजना स राष्ट्रीय एकता को ज्यादा खतरा है।

राष्ट्रीय एकता और भाषागत विभिन्नता

भारत मे भाषा की समस्या निराली है। कनाडा, बेलजियम, स्विटजरलैंड या सोवियत रूस का उदाहरण यहा लागू नहीं होता। १९ वी सदी के यूरोप म भाषा के आधार पर जिस प्रकार जमनी इटली आदि राष्टीय राज्या का उदय हुआ, वह बात भी भारत पर लागू नही हो सकती।[२२] यह समझना चाहिए कि भारत म सदा से अनेक भाषाए रही ह किन्तु इन भाषाओ को जोडने वाली सस्कृत जैसी सार्वदेशिक भाषाए रही है। स्थानीय बोलिया, प्रादेशिक भाषाओ और सार्वदेशिक भाषाओ मे निरतर आदान-प्रदान और घनिष्ठ सबध रहा है। इतिहास के विभिन्न युगो में भाषा का विकास अनेक तत्त्वा से प्रभावित हुआ है। श्रेष्ठ या शासक जाति की सस्कृति का अनुकरण, राजनतिक सुविधा और जातीयता सभी बाता ने विभिन्न युगा में विभिन्न सार्वदशिक भाषाओ के उदय और प्रातीय भाषाओ के विकास में योग दिया है। इस समय भी भाषासबधी नीति मे जो अनिश्चितता देखने में आ रही है उसका कारण यह है कि सबकी सहमति से भाषा समस्या का समाधान करना आसान नही ह।[२३]

राष्ट्रीय एकता के लिए एक राष्ट्रभाषा या सार्वदशिक भाषा आवश्यक है यह सिद्धान्त भारत पर लागू नही होता। यह बात अब काग्रेस, स सो पा और जनसघ तथा दूसरी ओर द्र मु क के कटटरवादी भी अनुभव कर रहे है। भाषा की समस्या भारतीय एकता के लिए निस्सदेह एक कसौटी या चुनौती है, किंतु इधर

२२ देखिए-एली केदूरी- नेशनलिज्म (लदन १९६०)।

२३ गजेन्द्रगडकर 'एप्रोच टु कमिडर प्राब्लम रेशनली, दिसादड वाइजली ऐंड हेसेन स्लोली (कन्वोकेशन भाषण, बड़ौदा, अक्टू १४ १९६७ मीडियम आफ एजुकेशन, बबई युनि, प्रकाशित।)

वगगत मागो का किस प्रकार सतुष्ट किया जाए और उनको भी राजनतिक व्यवस्था और राष्ट्रीय जीवन में शामिल किया जाए, ये व्यावहारिक समस्याए हैं, जिनके समाधान से राजनैतिक व्यवस्था की परीक्षा होती है। ये राजनतिक तत्र के नेताओं की योग्यता की कसौटिया ह। जैसे जैसे राज्यतत्र अनेकता मे एकता की एक एक मजिल पार करता है उसे अपने राजनतिक साधन और शक्ति नाजुक समस्याओ को सुलझाने में लगानी पडती ह।

अनेकता में एकता की स्थापना

भारतीय सभ्यता को प्रभावित करने वाले तत्व है देश की विशालता, प्राचीनता और यहा अनेक जाति या नृवश की विद्यमानता। मजहब या सप्रदाय, जाति भाषा और प्रात यहा राजनीति के आधार रह है। बालिग मताधिकार के प्रभाव से जाति ने क्या राजनैतिक रूप ग्रहण किया है, इसका विश्लेषण हम पूरे एक अध्याय में कर चुके है। अध्याय दो में हमने यह देखा कि किस प्रकार नए भारत का जन्म साप्रदायिक विभाजन से हुआ और उस समय कितनी खून खराबी मची। हमने साप्रदायिक समस्या पर भी काफी विस्तार से विचार किया है। यहा हम यह देखेंगे कि राष्ट्र के निर्माण के लिए इसका क्या महत्त्व है।

जहा देश के बटवारे से इतनी हानि हुई वहा इससे कुछ सबक भी मिला। पहला सबक यह है कि देश ने एकता के महत्त्व को समझा और यह अनुभव किया कि चाहे जैसे भी हो, राष्ट्रीय या केंद्रीय सत्ता को बनाए रखना है और देश के विविध तत्वों को एक सूत्र में बाधे रखना ह। सविधान सभा के विचारविमर्श में इस सिद्धान्त का प्रभाव स्पष्ट है और इसीलिए हमारे सविधान में केन्द्रीय सत्ता की प्रधानता और राज्य की एकात्मकता को कायम रखने के साथ साथ देश के विभिन्न भागो को पूरी छूट और अधिकार देने का यत्न किया गया है। फलत हमारी राजनीति में एकता को महत्त्व शुरू से दिया जा रहा है। बटवारे का दूसरा प्रभाव और भी व्यापक रहा। देश का बटवारा और उसके फलस्वरूप होने वाली हिंसा का सभालने और राष्ट्र की राजनतिक इमारत खडी करने की जिम्मेदारी ने हमारे राजनीतिज्ञो म राजनैतिक समझदारी या नीतिमत्ता का सचार किया और उन्हें यह अनुभव कराया कि देश की राजनैतिक स्वतत्रता और शक्ति कायम रखने के लिए क्या करना पडता है।

राष्ट्रनिर्माण के लिए एकता की समस्या बडी महत्वपूर्ण है। एशिया और अफ्रीका के अनेक नव स्वतत्र देशो को अपने विदेशी शासको से बना बनाया एकीकृत राज्य मिल गया। उन्हें राष्ट्रनिर्माण के लिए प्रयत्न नहीं करना पडा, इसलिए उनकी एकता ऊपरी सिद्ध हुई। इन नेताओं को जो अधिकार मिल गया, उससे उनका दिमाग [illegible] हो गया। उन्होंने देश के विभिन्न तत्वो को साथ ले चलने या उनकी रजामदी व समर्थन प्राप्त करने की चिंता नहीं की। घाना में एकदलीय

और इडोनेशिया में सुकार्नो, अधिनायकवाद के उदाहरण ह । इसी तरह पश्चिम एशिया में नासिर का प्रभाव इस बात का द्योतक है कि ऐतिहासिक घटनाओ का राष्ट्रीय भावना पर जो प्रभाव पडता है वह स्थायी नही होता । दूसरी ओर कागो और नाइजीरिया में जो गहयुद्ध हुए उससे सभवत उन देशो को समझ में आ जाएगा कि राष्ट्रीय एकता को बनाए रखने के लिए क्या कीमत चुकानी पडती हे और कितनी सावधानी रखनी पडती है । जो हो, भारत में विभाजन के फलस्वरूप राष्ट्रीय एकता का महत्त्व और उसको बनाए रखने के लिए सभी वर्गों का ख्याल रखने की आवश्यकता राजनीतिज्ञो की समझ म आ गयी ।

स्वतत्र भारत मे जाति वार मजहब बहत्तर राजनतिक सगठनो या गठजोडो के अग हैं । इनके मुकाबले भाषा या प्रात के विभाजनो स राष्ट्रीय एकता को ज्यादा खतरा है ।

राष्ट्रीय एकता और भाषागत विभिन्नता

भारत मे भाषा की समस्या निराली है । कनाडा बेलजियम, स्विटजरलड या सोवियत रूस का उदाहरण यहा लागू नहीं होता । १६ वी सदी के यूरोप म भाषा के आधार पर जिस प्रकार जमनी इटली आदि राष्ट्रीय राज्यो का उदय हुआ, वह बात भी भारत पर लागू नही हो सकती ।[२२] यह समझना चाहिए कि भारत म सदा से अनेक भाषाए रही है किंतु इन भाषाओ को जोडने वाली सस्कृत जसी सावदेशिक भाषाए रही है । स्थानीय बोलिया, प्रादेशिक भाषाओ और सावदेशिक भाषाओ मे निरतर आदान-प्रदान और घनिष्ठ सबध रहा है । इतिहास के विभिन्न युगो में भाषा का विकास अनेक तत्त्वो स प्रभावित हुआ है । श्रेष्ठ या शासक जाति की सस्कृति का अनुकरण, राजनतिक सुविधा और जातीयता सभी बातो ने विभिन्न युगो में विभिन्न सावदेशिक भाषाओ के उदय और प्रातीय भाषाओ के विकास में योग दिया है । इस समय भी भाषासबधी नीति में जो अनिश्चितता देखने में आ रही है उसका कारण यह है कि सबकी सहमति से भाषा समस्या का समाधान करना आसान नही ह ।[२३]

राष्ट्रीय एकता के लिए एक राष्ट्रभाषा या सावदेशिक भाषा आवश्यक है, यह सिद्धात भारत पर लागू नही होता । यह बात अब काग्रेस, स सो पा और जनसघ तथा दूसरी ओर द्र मु क के कट्टरवादी भी अनुभव कर रहे है । भाषा की समस्या भारतीय एकता के लिए निस्सदेह एक कसौटी या चुनौती है, किंतु इधर

२२ देखिए-एली केदूरी- नेशनलिज्म (लदन १९६०)।

२३ गजेन्द्रगडकर 'एप्ली टु कन्सिडर प्राब्लम रेशनली, डिसाइड वाइजली ऐंड हेसेन स्लोली' (कन्वोकेशन भाषण, बडौदा, अक्टू १४, १९६७ मीडियम आफ एजुकेशन, बबइ युनि, प्रकाशित ।)

एसी प्रवत्ति लक्षित होती है कि एक भाषा के बजाय कई भाषाओ को स्वीकार कर लिया जाएगा।

१६२७ म भारत की भाषाओ की पडताल (लिंग्विस्टिक सर्वे) का विवरण प्रकाशित हुआ था। इसमें १७६ भाषाओं और ५४४ उपभाषाए या बोलिया (कुल १६५२ मातभाषाए) गिनाई गई थी। भारत की आखिरी जनगणना में १०१८ भाषाओ का उल्लेख है। (सारणी आठ – १) ये सब भाषाए चार मुख्य वर्गों म आती हैं (भारतीय–आर्य, द्रविड तिब्बती–चीनी और आस्ट्रो–एशियाई)। इनमें भी ७३ ३ प्र श आर्य और २४ ५ प्र श द्रविड वर्ग में ह। शेष दो प्रतिशत ही बाकी दो वर्गों में आती ह। प्रथम दो वर्गों में भी निरतर आदान प्रदान होता रहा और ये एक ही भाषा क्षेत्र मे आती ह।[२४] दूसरे, एक प्रदेश के भीतर भी गाव की बोलिया, उपक्षेत्रीय भाषा और प्रादेशिक भाषा एक दूसरे के भीतर चक्र की तरह चलती रही हैं। उपक्षेत्रीय भाषा मे कभी साहित्य होता है कभी नही। प्रादेशिक भाषा साहित्यिक टकसाली भाषा होती है।[२५] भारत क सविधान में भी इसी बात का ध्यान में रखकर १४ भाषाओ की सूची दी गयी है। (आठवीं अनुसूची) १९६१ की जनगणना से ज्ञात होता ह कि ८७ प्र श लोगो ने इन्हीं भाषाओ को अपनी मातृभाषा बताया था। पिछले २०० वर्षों में राजनैतिक विकास, शिक्षा के प्रसार और नगरीकरण के फलस्वरूप इन प्रादेशिक भाषाओ की बडी उन्नति हुई है उनका स्वरूप निखरा और बना है और इनमें साहित्य की तरक्की हो रही है। भारत की भाषागत विभिन्नता क साथ साथ प्रादेशिक रूप से भाषा के एकीकरण की इस क्रिया पर बहुत थोडे भाषाशास्त्रियो और मानवशास्त्रियो ने ध्यान दिया ह।

तीसरे, इन स्थानीय बोलियो और प्रादेशिक भाषाओ और उपभाषाओ के साथ साथ भारत में पुराने जमाने से ही एक या दो भाषाए रही हैं, जो सारे देश में

२४ भारत का 'भाषा क्षेत्र' का नाम भाषाशास्त्री मर बी एमान् न दिया। उनका कहना ह कि भार०आर्य और द्रविड भाषाओं में इतना आदान प्रदान हुआ है कि आज द्रविड भाषाए भारतीय आर्यभाषाओं के इतनी निकट आ गयी हैं कि जितना यूरोपी आर्य भाषाए नहीं। 'इडिया ऐज ए लिंग्विस्टिक एरिया', लैंग्वेज, ३२, १९५६। भाषाओं के इस आदान प्रदान पर मानवशास्त्री बर्नार्ड कोहन ने कहा है–यह आदान प्रदान भारतीय सभ्यता के साधारण स्वरूप का द्योतक है। यहां दसने में जो बातें बहुत भिन्न मालूम देता ह, उनमें भी यदि एकता नहीं तो सबध है। कोहन–इंडिया सोशल एन्थ्रोपोलोजी आफ ए सिविलाइजेशन' (न्यूयार्क १९६९)।

२५ जैसे हिंदी में खडीबोली हिन्दी, भोजपुरी, अवधी, ब्रज आदि उपभाषाओं की सामान्य टकसाली व्यवहार भाषा ह इसी तरह तमिल मराठी, बगला आदि क्षेत्रों में भी सामान्य साहित्यिक भाषा के साथ साथ ग्रामीण या स्थानीय बोलियां चलती हैं। इन क्षेत्रीय भाषाओं के राजनैतिक पहलुओं या प्रशासन स सबध क लिए देखें – जान ज गुम्पर्ज –'रीजनल वेरिएशन एंड स्टैंडर्ड' आफ इंडियन सिविलाइजेशन'– अमे ए आन्थ्रो, ६३ अगस्त १९६१।

व्यवहार में चलती रही। (सारणी आठ–१)। पहले सस्कृत, फिर फारसी, फिर उर्दू और १६ वी शती से अग्रेजी और बाद में हिंदुस्तानी (हिंदी उर्दू की खिचडी)। इस समय विवाद इस बात पर है कि राजभाषा अग्रेजी हो (जो ब्रिटिश हुकूमत की देन है) या सविधान में स्वीकृत हिंदी।

आधुनिकता के प्रसार का शुरू मे असर यह हुआ कि शिक्षित या उच्चवर्ग और जनसाधारण के बीच गहरी खाई पैदा हो गई। अग्रेजी शिक्षा सरकारी नौकरी, डाक्टरी, वकालत, अध्यापन आदि सफेदपेशो में तथा राजनैतिक क्षेत्र के लिए प्रवेश थी। मगर अग्रेजी पढे लोग भाषा और सस्कृति की उपेक्षा करने लगते थे और देश के लोगो से कट जाते थे। बाद मे गाधी के प्रभाव और राजनीतिक आदोलन के जन आदोलन का रूप धारण करने के कारण, हिंदी और प्रादेशिक भाषाए भी आगे आईं। इन भाषाओ में साहित्य की रचना होने लगी। इनके माध्यम से जनता मे राजनैतिक विचारो और शिक्षा का प्रसार होने लगा और गावो से उच्च वर्गो का सबध जुडा। राष्ट्रीय आदोलन के दौरान अग्रेजी की जगह हिंदी और प्रादेशिक भाषाओ को प्रतिष्ठित करने की माग उठी। सिद्धात रूप मे ये मागें स्वीकार की गयी, किन्तु इनका व्यवहार में लाने की समस्याओ पर न उस समय ध्यान दिया गया न स्वतत्रता के बाद। बल्कि नेहरू तथा अन्य नेताओ ने तथाकथित 'प्रातीय या सकीर्ण प्रवृत्तियो' का जो अनुचित विरोध किया, उसके कारण इन समस्याओ का समाधान टल गया। बाद मे दबाव और आदोलन के कारण केन्द्रीय नेता इन समस्याओ को सुलझाने को बाध्य हुए।

हम पहले देख चुके हैं कि यद्यपि काग्रेस भाषा के आधार पर प्राता की रचना के सिद्धान्त को मान चुकी थी, पर जब एक आदमी ने अनशन करके प्राण दे दिए और गहरा उपद्रव हुआ, तभी काग्रेस सरकार इस सिद्धान्त पर अमल करने को तैयार हुई। इसके फलस्वरूप देश का बहुत बड पैमाने पर राजनैतिक और प्रशासनिक पुनर्गठन हुआ। इससे राजनैतिक एकीकरण हुआ, स्थिरता बढी और सरकार और जनता मे सपर्क बढा। अग्रेजी शिक्षा प्राप्त उच्चवर्ग और जनसाधारण मे जो खाई थी, वह कम हुई, गाव के लोगो मे राजनैतिक चेतना बढी, उनको सरकार की रीति नीति की ज्यादा जानकारी हुई। प्रातो का यह विभाजन जनसख्या के स्वाभाविक वर्गीकरण या विभाजन से मिलता था। इससे विकास के कार्यक्रम और सरकार की कार्यविधि और पद्धति के बारे में भी सहमति पैदा हुई।

पर भाषा के अनुसार प्रातो का पुनर्गठन तो समस्या का एक पहलू था। इतना ही महत्त्वपूर्ण सवाल यह था कि सारे देश के लिए व्यवहार और सपर्क के लिए एक भाषा क्या हो। अग्रेजी को स्वीकार करना राष्ट्रीय भावना के प्रतिकूल पडता था। दूसरा विकल्प हिंदी ही हो सकती थी। परतु सविधान मे हिंदी को चालू करने के लिए १५ वर्ष की जो अवधि रखी गयी थी उसमें गैरहिंदी क्षेत्रो में हिन्दी

काग्रेस सरकार और काग्रेस दल के विभिन गुटा में लम्बी बातचीत के बाद त्रिभाषा सूत्र अपनाया गया। इसका मतलब यह था कि प्रत्येक राज्य अपने राज्य की भाषा में काम करने के लिए स्वतन्त्र होगा। राज्य के विश्वविद्यालया में यही भाषा पढाई का माध्यम होगी। अन्तरराज्य व्यवहार में अग्रेजी भाषा से काम लिया जायेगा, यदि यह व्यवहार हिंदी में होगा तो उसके साथ अग्रेजी अनुवाद भी भेजा जायेगा।

अहिंदी भाषी राज्य केन्द्र से अग्रेजी में लिखा पढी करते रहगे। केन्द्र मे और ससद में अग्रेजी में कामकाज चलता रहेगा। सरकारी नौकरिया की परीक्षाए अग्रेजी, हिंदी तया सभी प्रादेशिक भाषाओं मे ली जायेंगी और हिन्दी के विकास के लिए क्रमिक कायक्रम बनाया जायेगा। यद्यपि इस समझौते से कोई वग पूरी तरह सतुष्ट नही हुआ फिर भी यह भाषा के प्रश्न पर धीरे धीरे सहमति का आधार बना। उपयुक्त बाता की घोषणा राष्ट्रपति ने ससद में अपने अभिभाषण में और काग्रेस कायकारिणी समिति ने अपने प्रस्ताव में की।

मतभेद इस बात पर था कि ये आश्वासन सविधान में सशोधन करके लागू किये जाय या ससद में केवल एक प्रस्ताव द्वारा। पाकिस्तान के साथ युद्ध छिड जाने से यह प्रश्न इस समय टल गया। अन्त म ससद में एक प्रस्ताव पास किया गया जिसमें ये सब आश्वासन शामिल किए गए थे। यद्यपि मद्रास विधान सभा ने इसके बाद भी एक प्रस्ताव द्वारा हिंदी का किसी भी काम के लिए स्वीकार करने से इनकार किया। पर यह अनुभव किया गया कि यह प्रस्ताव उपद्रव या आदोलन रोकने के लिए किया गया। द्रमुक नेताओ ने इसके बाद तीन भाषा सूत्र को अमल में लाने के बारे में दूसरे दला से बातचीत करना स्वीकार किया। जनसघ ने भी, जो हिंदी का कट्टर समथक था, दक्षिण और पूव (बगाल) में अपने पैर जमाने के लिए अपने रुख को नरम किया। सत्ता में आने के बाद द्रमुक का रुख भी समझौते का हो गया। इससे पता चलता है कि सत्ता के साथ ज्यादा नरमी या परिपक्वता आ जाती है।

सन ५० के दशक में भाषावार प्राता के निर्माण और ६० के दशक म राजभाषा के प्रश्न पर जो विवाद छिडा, उससे लगता था कि देश की एकता भग हो जाएगी। पर इससे मतभेद खुले मे आ गया और खुलकर वादविवाद से एक रास्ता निकल आया। देश दोनो सकटो को पार कर गया और आगे भाषावाद से पैदा होने वाली समस्याओ को सुलझाने के लिए ज्यादा तैयार हो गया। इस बीच हुए अध्ययनो से पता चला कि शिक्षा, व्यापार, रेडियो, सिनेमा, पत्र पत्रिकाओ आदि साधनो से अहिन्दी भाषी क्षेत्रो म द्वितीय भाषा के रूप म हिंदी काफी फैली है (१९६१ की जनगणना के अनुसार द्वितीय भाषा के रूप मे हिंदी व उर्दू अग्रेजी से कुछ आगे थी) अग्रेजी भी तेजी से बढ रही है (माध्यमिक विद्यालया म यह अनिवाय

विषय है केंद्रीय शिक्षा सस्थाओं म–और इनकी सख्या बढ रही है–यह शिक्षा का माध्यम है, और पुस्तका तथा समाचारपत्रा मे इसकी प्रधानता है)। सभी उन्नति काक्षी समूह इन दोनो भाषाआ का प्रयोग कर रहे हैं। [२६] यह स्थिति भारत म नयी नही है। यहा हमेशा से विशिष्ट या उच्चवग की एक भाषा रही है (जस अंग्रेजी) साधारण बोलचाल की एक भाषा देश मे काफी व्यापक रूप मे चलती रही है, इसके प्रादेशिक रूपो में अतर हो सकता है (जैसे हिंदी) और विभिन्न प्रदेशो में छोटी छोटी स्थानीय बोलियों के ऊपर परिनिष्ठित प्रादेशिक भाषाए रही ह। फक इतना है कि प्रादेशिक भाषाए अब राज्य के व्यवहार की भाषा के रूप में और महत्त्व प्राप्त कर रही ह तथा स्थानीय बोलिया इनमें समाती जा रही ह। अब ऐसा लगता है कि सावदेशिक भाषाआ के रूप म अंग्रेजी और हिंदी दोना ही हमेशा चलती रहगी।

प्रादेशिकता और विघटन का खतरा

देश के सामने एक खतरा राज्यो के सघ से अलग हो जाने का था। कुछ लोगा ने आशका प्रकट की थी कि प्रातीयता की भावना या प्रदेश के लिए अधिक अधिकार या स्वायत्ता की माग बढती गई ता इससे या तो देश अनेक छोटे छोटे स्वतत्र राज्या मे बट जाएगा या यहा तानाशाही कायम हो जाएगी। [२७] पहले भी देश में ऐसे आदोलन हुए ह और वतमान में भी हो रहे है। कुछ हद तक पुरानी कथाआ के आधार पर और कुछ उत्तर–दक्षिण, ब्राह्मण–अब्राह्मण, आय–द्रविड के भेदभाव के आधार पर। दक्षिण मे, मुख्यत पुराने मद्रास राज्य मे स्वतत्रता या स्वायत्ता का बौद्धिक आदोलन जोर पकडता रहा है। सन १९१७ में द्रविडियन असोसिएशन और साउथ इडियन लिबरल फेडरेशन (जस्टिस पार्टी) ने मद्रास में सरकारी नौकरिया और राजनीतिक क्षेत्र में ब्राह्मणा के एकाधिकार के विरुद्ध आदोलन छेडा था। इसी ब्राह्मण विरोधी आदोलन की नीव पर सन १९४१ मे द्रविड कजगम की स्थापना हुई जिसने द्रविड लोगा का आह्वान किया कि वह अंग्रेजो के हाथ से सत्ता आर्यो के हाथ में न जाने दें। उसने भारत स एकदम अलग द्रविडस्थान की स्थापना की माग की। [२८]

लेकिन १९५४ तक राजनैतिक अधिकार ब्राह्मणा के हाथ से निकल कर अब्राह्मण तमिल नेताआ के हाथ में आ गये और राजगोपालचारी के स्थान पर कामराज नाडार मुख्यमत्री बने। तब द्र० क० ने काग्रेस मत्रिमडल का समथन किया। इस नीति से असतुष्ट लोगा ने तब अलग होकर द्रविड मुन्नेत्र कजगम की स्थापना की।

२६ देखें–बलेश्वरान नायर–'लैंग्वेज प्लानिंग इन इन्डिया' (न्यूयार्क १९६९)।
२७ सेलिग हैरिसन–'इन्डिया–द मोस्ट डैंजरस डिकेड्स' (प्रिंसटन १९६०)।
२८ राबर्ट एल हाडग्रेव–'द द्रविडियन मूवमेंट' (बबई १९६)।

इसने द्रविडस्तान का आदोलन जारी रखने का प्रण किया। लेकिन एक ओर काग्रेस में तमिल (अब्राह्मण) प्रभाव बढा और दूसरी ओर द्र० मु० क० की शक्ति बढी। १९५९ मे द्र० मु० क० ने मद्रास कारपोरेशन और अन्य नगरो की शासन सस्थाओ पर कब्जा कर लिया और १९६२ के चुनाव म यह सब से बडे विरोधी दल के रूप में आया। सत्ता के स्वाद ने द्र० मु० क० की उग्रता को कुछ नरम कर दिया। इसने आदोलन का मार्ग छोडकर चुनाव जीत कर सत्ता प्राप्त करने की नीति अपनायी।[29] इस पर ई० वी० के सम्पत के नेतत्व मे एक पथक्तावादी गुट इससे अलग हो गया। अन्नादुरै के नेतत्व म द्र० मु० क० की शक्ति बढी और इसका प्रभाव गावो में फैला। इसने पथक्ता के बजाय आर्थिक और जाति-पाति की विषमता को दूर करने और भाषा के मामले मे स्वतत्रता का नारा लगाया और अत में १९६७ के चुनाव में मद्रास राज्य मे विजयी हुई। द्र० म० क० सरकार ने भाषा के मामले में केद्र से भिन्न रुख अपनाया है, किन्तु मद्रास (जिसका नाम बदल कर तामिलनाडु हो गया है) सबसे व्यवस्थित, शात और भारत सघ का वफादार राज्य साबित हुआ है।[30]

सन १९६७ में सत्ता मे आने के बाद द्र० मु० क० के भीतर भी उसी प्रकार की गुटबदी प्रकट होने लगी जैसी काग्रेस मे थी। तमिलनाडु मे द्रमुक सत्ता मे है और काग्रेस प्रतिद्वद्वी दल के रूप में काम कर रही है। इस प्रकार जातीयता अथात् ब्राह्मण-अब्राम्हण की भावना ने राजनैतिक प्रतिद्वद्विता का रूप धारण कर लिया[31] और प्रदेश या प्रात की भावना पर आधारित प्रतिद्वद्वी दल ने देश की लोकतत्री सघीय पद्धती को चलाने में योग ही दिया। प्रादेशिक निष्ठा का इस प्रकार सगठन और बाद में उसका राष्ट्रीय राजनैतिक व्यवस्था का अग बनना, राजनैतिक सगठन और मोरचेबदी की ही प्रक्रिया सिद्ध हुई।

दूसरी ओर यह भी ध्यान रहे कि पथक्ता की भावना उन मे ज्यादा बलवान और खतरनाक है, जहा ऐसी आर्येतर जातिया है, जो भारतीय सस्कृति की धारा में पूरी

२९ देश के दूसरे भागों के जनमत ने भी द्रमुक के रुख पर प्रभाव डाला। पृथक्ता की प्रवृत्ति को रोकने के लिए राष्ट्रीय एकता परिषद की उपसमिति की सिफारिश पर सविधान में सशोधन किया गया। इसका उद्देश्य प्रातीयता और भाषा की कट्टरता से देश की एकता, अखण्डता और प्रभुता की रक्षा करना था। इस सशोधन ने भी द्रमुक को अपनी नीति बदलने को बाध्य किया, जिससे वह देश के सविधान के दायरे में रहकर काम कर सके।

३० सन १९७१ के मध्यावधि चुनाव में द्र मु क ने इदिरा गाधी की काग्रेस से समझौता किया और राज्य में पहले से भी अधिक बहुमत से पुन सत्तारूढ हुई। केन्द्रीय ससद में और राष्ट्रीय राजनीति में द्र मु क सामान्य रूप से इदिरा गाधी के साथ रही है।

३१ हार्ग्रेव-'द डी एम के ऐंड द पालिटिक्स आफ तमिल नेशनलिज्म पसि अफे', मैंताम न ४, १९६४-६५।

तरह मिल नहा पाई ह। जैसे उत्तरपूर्व की आदिम जातियो का इलाका।[३२]यहा भी भारतीय लोकतत्री व्यवस्था और सरकारी विकास कार्यक्रमो का प्रभाव पडा है और धीमे धीमे इन क्षेत्रो के नाग भी देश की राजनीति में भाग लेने लगे ह। पर राजनैतिकीकरण की यह प्रवत्ति अभी शुरू हुई ह। दूसरी ओर आनुतिकता के प्रसार से अपने पथक अस्तित्व की भावना उभरती भी है। इसलिए इनको सभालने के लिए विशेष व्यवस्था करनी पडती है। इस प्रकार की व्यवस्था की भी जा रही है। इसी उद्देश्य से नागालैंड का अलग राज्य बनाया गया और नागा विद्रोहियो के प्रति नरमी का रुख अपनाया गया। इसी तरह आसाम के अतगत पहाडी इलाको का मेघालय नामक उपराज्य स्थापित किया गया। जम्मू-काश्मीर को विशेष दर्जा भी इसी उद्देश्य से दिया गया था।

कुछ क्षेत्रो में अभी भी असन्तोष है जैसे-उत्तरपूर्व में मीजो जाति, बिहार में छोटा नागपुर तथा मध्यप्रदेश के आदिवासी इलाके और गुजरात व ओडिसा में आदिवासियो का स्वायत्तता का आदोलन। राजनैतिक गतिविधि बढने और शिक्षा तथा आर्थिक विकास के फलस्वरूप छोटे समूहो में जो अब तक दबे या पिछडे हुए थे, अधिकार और स्वायत्ता की आकाक्षाओ का उठना स्वाभाविक है। समस्या इस बात स उलझ गयी है कि कुछ आदिवासी इलाके चीन और पाकिस्तान से लगे हुए है और वहा से असन्तुष्ट तत्वो को छापामार युद्ध की ट्रेनिंग देने की कोशिश की गई ह। यह खतरा काफी दिनो तक रहने वाला है और सीमान्त इलाकों की राजनैतिक समस्या के समाधान के लिए विशेष प्रयत्न करना पडेगा। गृहमत्रालय इस मामले में समझदारी से काम ले रहा है, परतु यह समस्या-सीमात इलाको में असन्तोष और सीमा पार से इस असन्तोष को प्रोत्साहन-ऐसी नही, जिसका हल आनन फानन निकल आए।[३३]

इस प्रकार देश के एकीकरण की समस्या अभी बनी है। राज्यो के भीतर विशिष्ट क्षेत्रो के अलगाव के आदोलन उठ रहे हैं। दबे हुए वर्गों और समूहो के

---

३२ इस विषय के सम्यक अध्ययन के लिए-आर्थर जे डोनोवन का लेख 'सेपरेटिस्ट टेंडेंसीज इन इस्टर्न इंडिया'-एशियन सर्वे-साल्यूम १०, अक्टूबर १९६७।

३३ गर आदिवासी इलाकों के अलावा भी राज्यों के अदर कुछ क्षेत्रों में पृथकता की मांग उठी है। जैसे आध्रप्रदेश में तेलगाना के अलगाव का आदोलन। आध्रप्रदेश की स्थापना के समय किए हुए वायदो के पूरा न किए जाने और काग्रेस के भीतर की गुटबन्दी को रोकने में मुख्यमत्री की विफलता के कारण तेलगाना के कुछ नेताओं ने १९६९ में अलगाव का आदोलन किया। इस आदोलन ने काफी उग्र रूप धारण किया। अभी तक तेलगाना के पृथकतावादियों को सन्तुष्ट नहीं किया जा सका है। सम्भवत उनको काफी रियायतें देनी पड़ें और मुख्यमत्री को बदलना पड़े। १९७१ के मध्यावधि चुनाव में तेलगाना पृथकतावादियों को उस क्षेत्र में अधिकांश सीटें मिलीं। महाराष्ट्र और मैसूर में भी इसी प्रकार के आदोलन हुए हैं यद्यपि वे इतने उग्र नहीं थे।

राजनैतिक क्षेत्र में आने से अधिकार के लिए उनकी आकांक्षा से नयी समस्याएं खड़ी हो रही है तथा केंद्रीय सरकार को इन समस्याओं से निपटने के लिए नयी नीति और उपाय निकालने पडते है।

अल्पसंख्यकों का सवाल

एक समस्या राज्यों के भीतर भाषागत अल्पसंख्यकों और अल्पसंख्यक संप्रदायों की है। औसतन राज्य में १८ प्र० श० लोग ऐसे है, जिनकी मातृभाषा राज्य की भाषा से भिन्न है। केरल में यह संख्या केवल ५ प्र० श० है तो मैसूर में ३५ प्र० श० और आसाम में ४४ प्र० श०। जहाँ शासन या उद्योग व्यापार में इस प्रकार के 'बाहरी' लोगों की प्रधानता होती है वहां इससे काफी असंतोष होता है और इन लोगों को शोषक समझा जाता है जैसे महाराष्ट्र में गुजराती और दक्षिणियों को, आसाम व ओडिसा में बंगालियों को और बंगाल में मारवाड़ियों को। इनके खिलाफ शहरों में शिवसेना (महाराष्ट्र) और लचित सेना (आसाम) जैसे उग्र आंदोलन उठ खड़े हुए है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के महाराष्ट्री तत्त्वों ने भी इस प्रकार की भावना को उभाड़ा है। पश्चिम बंगाल में और तामिलनाडु के कुछ हिस्सों में मारवाड़ियों के खिलाफ भावना जोर पकड़ रही है। शिवसेना जैसे उग्र संगठन खतरनाक है, ये फासिस्ट मनोवृत्ति के द्योतक हैं। ये मध्यमवर्ग की निराशाओं और कुंठाओं का दुरुपयोग करके बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक वर्गों में स्वाभाविक प्रतिद्वंद्विता को स्थायी शत्रुता और हिंसा में बदलने का प्रयत्न करते हैं। इनके खिलाफ सरकार को कड़ी कारवाई करना आवश्यक है।

इसी प्रकार स्थानीय झगडों के कारण हिंदू–मुस्लिम विद्वेष भी भड़क उठता है। १९६७ में उत्तर प्रदेश के छोटे छोटे नगरों में हिंदू–मुसलमानों में झगड़े हुए। १९६९ में इनसे ज्यादा गंभीर दंगे अहमदाबाद और गुजरात में हुए, जिनमें कई सौ आदमी मारे गए और काफी लूटपाट व आगजनी हुई। यह समस्या स्थायी रूप से तब हल होगी जब सभी वर्गों में धर्मनिरपेक्षता की भावना का विकास होगा, लेकिन तात्कालिक रूप से न केवल सरकार को कड़ाई और सावधानी बरतनी होगी, अपितु राजनैतिक दलों और शिक्षा तथा सांस्कृतिक संगठनों को भी सांप्रदायिक भावनाओं को निर्मूल करने की कोशिश करनी होगी (अलीगढ़ में विश्वविद्यालय में ही सांप्रदायिक झगड़े हुए है)। राजनैतिक दल इस डर से सांप्रदायिकता से बचने की कोशिश करते है कि वे दूसरे संप्रदायों के वोट खो देंगे परंतु उनके स्थानीय संगठन स्थानीय झगडों का लाभ उठाने के प्रलोभन में पड जाते है। सांप्रदायिक झगडे भले ही छिटपुट और स्थानीय हों, लेकिन उनसे देश की बदनामी होती है और उसका लोकतंत्री धर्मनिरपेक्ष स्वरूप कलंकित होता है।

है, उसमे पता चलेगा कि लोकतत्री तरीके से विविध तत्त्वा का लेकर सघीय व्यवस्था के विकास म क्या समस्याएँ उठती है। इनस पता चलता है कि केन्द्रीय राजनैतिक सत्ता के विकास में केन्द्रगामी और केन्द्रघाती दोनो प्रवृत्तिया किस प्रकार सामने आती ह।

भारत की राजनीति मे प्रातीय और वगगत मागो ने राष्ट्रीय राज्यव्यवस्था के सामने नई समस्याएँ खडी की हैं। राष्ट्रीय एकता की भावना का विकास कोई आसान बात नही। जैसा कहा जा चुका है भारतीयता का रूप व्यापक होगा। इसमे अनेक प्रकार की पद्धतिया आपस में गुथी होगी। इस सबध शखला के निमाण मे राजनैतिक व्यवस्था का मुख्य हाथ होगा। इसमें जनता को राजनैतिक गतिविधि मे खीचना होगा आर राजनैतिक सस्थाओ को जनता मे फैलाना होगा विशेष प्रश्नो व समस्याओ को सुलझाने की कोशिश करनी होगी और सत्ता का विकेन्द्रीकरण करना होगा। इससे जनता के विभिन्न वर्गों की आकाक्षाए बढेंगी और उनको सतुष्ट करने में राजनैतिक व्यवस्था की कडी परीक्षा होगी।

इस अध्याय मे आर पूरी पुस्तक मे हमारा कहना यही है कि भारत जैस विशाल देश मे जहा इतने विविध प्रकार के लोग रहते ह, एकता की स्थापन इसी स हो सकती ह कि सब तत्त्वो को राजनतिक सत्ता व अधिकार में भाग दिया जाए और सब का साथ लेकर चला जाए (नई दिल्ली से सारे भारत का शासन करना असभव है)। इसके लिए जरूरी है कि समाज के सब वर्गो मे राजनैतिक सस्था का प्रवेश हो। राजनीति की इस रचनात्मक भूमिका से ही एकीकरण की प्रवत्तिया को बल मिलता ह।

[पिछले पृष्ठ से]

'इकनॉमिक ऐण्ड पोलिटिकल वीकली, अक्टूबर १९६०। १९६७ में नई दिल्ली में इडियन इस्टिट्यूट ऑफ एडवास्ड स्टडी और इण्टरनेशनल सोशल साइस काउसिल की ओर से प्रादेशिक और सामाजिक विषमता के विषय म एक सम्मेलन हुआ था। इस में पठित निबध इन्डियन इस्टी (?) के प्रो रामकृष्ण मुकर्जी से मिल सकते है।

विकास की राजनीतिमूलक अर्थनीति

राजनैतिक व्यवस्था के संस्थापन में सामाजिक और आर्थिक लक्ष्य बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। इन्हीं की पूर्ति पर व्यवस्था की सफलता निर्भर होती है। यह व्यवस्था जैसे जैसे जनता में प्रवेश करती है, आर्थिक और सामाजिक प्रश्न स्पष्ट होते हैं और जनता की आकांक्षाओं को जन्म देते हैं। स्वतन्त्र भारत में जहाँ नागरिकों और जनता की उन्नति का लक्ष्य अपनाया गया है। राष्ट्रीय एकता और जनता का सहयोग प्राप्त करने पर यहाँ जो जोर दिया गया है उससे आर्थिक विकास और महत्त्वपूर्ण बन गया है।

आर्थिक विकास और राजनैतिक विकास में पारस्परिक संबंध का प्रश्न कोई सरल नहीं है। जो राजनैतिक प्रणाली गरीबी और अभाव की समस्या को सुलझाने का सुनियोजित ढंग से प्रयत्न नहीं करती वह स्थिर व सशक्त नहीं कही जा सकती। विख्यात अर्थशास्त्री आर्थिक विकास में राजनैतिक प्रक्रियाओं का महत्त्व समझने लगे हैं और उसे आर्थिक विकास की राजनीति का नाम देते हैं। इसी तरह राजनीति शास्त्री भी राजनैतिक व्यवस्था के आर्थिक पहलू का महत्त्व अनुभव करते और राजनैतिक विकास को अर्थनीति का नाम देते हैं। वास्तव में ये दोनों क्षेत्र एक दूसरे से मिले हुए हैं और इन पर वातावरण, जनसंख्या, समाजीकरण आदि कई और बातों का प्रभाव पड़ता है। इसलिए इस विषय को विकास की राजनैतिक अर्थनीति का नाम देना उचित होगा।

आर्थिक विकास की साधारण स्थिति

इस समय भारत बड़ी कठिन स्थिति से गुजर रहा है। १९६४ से १९६७ तक खाद्यान्न का भाव बहुत अस्थिर रहा और इसके कारण औद्योगिक [illegible] भी, पाकिस्तान से लड़ाई के कारण [illegible] आर्थिक [illegible] ही। १९६७ के चुनाव के बाद [illegible] का वातावरण [illegible] और [illegible] हुए कि विकास के [illegible] पर पुनर्विचार हो रहा है और

सके प्रवध के ढाचे को वदलने की कोशिश की जा रही है। इन सबके फलस्वरूप विकास की गति एक सी गई है और कही कही पीछे हटी है। १९६७–६९ के बीच कुछ प्रगति होती दीख पडी है और विकास का काम फिर चल पडा है, मगर हम यहाँ दस पाच वर्ष के काम पर ही विचार करने नही बैठे है। प्राकृतिक आपदाए भारत में आती ही रहती हैं और हमें यह मान कर चलना चाहिए कि यह साधारण बात है। इसके साथ ही हाल में आर्थिक नीति और राजनतिक ढाचे में जो परिवतन किए गए हैं उनसे भविष्य का कुछ सकेत मिल सकता है और हम आर्थिक क्षेत्र में भारत के काय का कुछ कामचलाऊ मूल्याकन कर सकते हैं।

आर्थिक विकास के राजनतिक पहलू से सबधित सबसे बडा सवाल है सामाजिक न्याय का–एक ओर उत्पादन और सचय और दूसरी ओर न्यायपूर्ण और समान रूप से वितरण का। ये दोनो पहलू एक दूसरे के विरोधी नहीं है ये दोनो ही लक्ष्य एक साथ सिद्ध होने चाहिएँ। पहले कहा जा चुका है कि नव स्वतन्त्र देशो को एक साथ कई काम करने है। शुरू से ही भारत के सामने चार निश्चित लक्ष्य रहे हैं। विदेशो से बुनियादी वस्तुओ के आयात और विदेशी सहायता पर निभरता को दूर करना (स्वय सपोषित विकास), साधनो और पूजी को जुटाना, जिससे ज्यादा पूजी बचाकर उत्पादन व विकास में लगायी जा सके (विकास की दर बढाना), समाज के विभिन्न वर्गों में विषमता घटाना (समता), जीवननिर्वाह के लिए न्यूनतम साधन प्रस्तुत करना (न्याय), इन लक्ष्यो के साथ साथ देश में एकता बढाना, झगडो को रोकना और विविध वर्गों को राष्ट्रीय व्यवस्था में शामिल करना।

इन लक्ष्यो की पुष्टि राष्ट्रीय आदोलन में और स्वतन्त्रता के बाद काग्रेस के प्रस्तावो में बार बार की गयी थी। काग्रेस सरकार इनके लिए प्रतिबद्ध थी। इनकी दिशा में कई कदम उठाए गए। गावो में अधिक न्यायपूर्ण व्यवस्था कायम करने के लिए जमीदारी और सामती पद्धति का अत किया गया। विकास के लिए साधन जुटाने और नियोजित प्रयत्न करने के लिए योजना सगठन कायम किया गया। गावो की उन्नति के लिए और सहकारी प्रयत्न को बढावा देने के लिए सामुदायिक विकास और सहकार के विकास का कायक्रम शुरू किया गया। सन ५० के दशक के मध्य तक विकास कार्यों को चलाने का प्रशासनिक ढाचा तैयार हो गया, और भारी उद्योगो में रुपया लगाने तथा बुनियादी मशीनो व सामान के आयात को वरीयता देकर स्वावलबी विकास की तयारी की गयी। लेकिन भारी उद्योगो को चालू करने में एक तो समय लगता है दूसरे जो कारखाने लगे वे पूरी क्षमता से काम न कर सके, इस कारण एक ओर तो विकास की गति मद पडी, दूसरी ओर उपभोग्य वस्तुओ की कमी पडी जिससे जनता को कष्ट हुआ। परतु

इस नीति के पक्ष मे यह कहा गया कि औद्योगिक माल के लिए विदेशो पर निभरता देश की स्वतन्त्रता को कमजोर करेगी। इसलिए आयात की जाने वाली चीजो के बदले देश के माल से काम चलाने और मशीन बनाने की मशीनो को ही आयात करने पर जोर दिया गया।

पर यह नीति यथार्थवादी न थी। कलपुर्जो का आयात बद करने के प्रयत्न में हमें सबसे बुनियादी आवश्यक चीज अन्न का आयात करने की जिल्लत उठानी पडी। इस नीति की विफलता के कारणो पर हम बाद में विचार करेंगे। यहा इतना ही कहना काफी है कि आयोजको ने आर्थिक स्वतन्त्रता और अपने बल पर विकास करने और देश में जल्दी से जल्दी मशीन या पूजीगत माल बनाने पर सबसे ज्यादा जोर दिया।

अपने बल पर विकास

प्राय एक दशक तक आयोजको को वितरण और लोककल्याण पर विशेष ध्यान देने की जरूरत न पडी। उन्हे पूजी जुटाने और भारी उद्योगो में उसे लगाने का पूरा समय मिला। केवल बीच बीच मे गावो की उन्नति के और सूखे या बाढ़ की आपत्ति में कुछ सहायता कर देने के अलावा समाजवाद के समान वितरण के लक्ष्य की सिद्धि के लिए कुछ करने की जरूरत न पडी। यद्यपि अभी भी भारी उद्योगो से पूरा उत्पादन नही मिल पाया है फिर भी विकास की गति बुरी नही रही। यदि सूखे और अकाल के दो वर्षों को छोड दिया जाए तो १९५१ (पहली योजना का आरभ) और १९६५ (तीसरी योजना का चौथा साल) के बीच (१९६०-६१) के स्थिर मूल्य पर राष्ट्रीय आय कुल ६९ प्र श बढी। वार्षिक मिश्र दर से यह वृद्धि ३ ८ प्र श होती है। वृद्धि की दर हर योजना में कुछ बढी है। पहली योजना की अवधि मे ३ ४ प्र श दूसरी योजना में ४ प्र श और तीसरी योजना के चार वर्षों मे यह ४ २ प्र श रही। तीसरी योजना काल में अनेक बाधाएँ आइ — दो वर्ष फसल खराब हुई, दो युद्ध हुए और विदेशी मुद्रा की गहरी कमी पडी। प्र श औसत वृद्धि कोई बडी बात नही, पर इसके मुकाबले यह याद रहे कि इसके पहले के ५० वर्षों मे देश की आर्थिक उन्नति प्राय रुकी रही (शून्य से करीब ५ से १ प्रतिशत कुल वृद्धि) फिर भी जो उन्नति हुई है भारत जैसा गरीब देश उस पर सताप नही कर सकता। इस बीच जनसख्या में जो बेतहाशा वृद्धि हुई है उसको भी ध्यान म रखना होगा। (सन १९५१ से १९६१ के बीच दस वर्षों में जनसख्या मे २१ ५ प्र श वृद्धि हुई) इस प्रकार प्रति व्यक्ति आय में करीब २ प्र श वार्षिक वृद्धि हुई।

इस अवधि म अन्न-उत्पादन मे ५० प्र० श० वृद्धि हुई अर्थात औसत ३ ५ प्र० श० प्रति वर्ष। इस बात को ध्यान म रखते हुए कि इसके पूर्व ५० वर्षों में न केवल

उत्पादन नही बढा, वल्कि प्रति व्यक्ति हिसाब से घट गया,[1] यह वद्धि अच्छी है। पर भारत की गरीबी और जनसख्या के विस्फोट को देखते हुए, यह सताप-जनक नही कही जा सकती। योजनाओ के फलस्वरूप उद्योगो मे उन्नति ज्यादा हुई। इन १४ वर्षों म औद्योगिक उत्पादन का सूचक अक १९५१ में ७४ स बढ कर १९६/ मे १८७ हो गया (१९५६ को आधार मान कर) जो १५२ प्र० श० से अधिक होता ह। (यह सूचक अक महत्त्वपूर्ण उद्योगो मे हुई चमत्कारी उन्नति को शूचित नहीं करता)। इस अवधि में कोयले म १०० प्र० श०, इस्पात मे ४०० प्र० श० और विजली के उत्पादन में ६०० प्र० श० की वद्धि हुई। पहले यहा मशीनी औजार विलकुल नही बनते थे, अब इनका बहुत अच्छा उद्योग चालू हो गया है। इसी तरह औद्योगिक उपयोग के और माल, मोटर ट्रक और पट्रोल के उद्योग में भी उल्लेखनीय प्रगति हुई। इस अवधि मे भारत रेल की पटरी बनाने में तीसर, कपडा बनाने में तीसरे, कोयले की खुदाई में सातवे, लोह में नौव, सीमेट में नौव, कोव में दसव और विजली म वाहरव नबर पर आ गया। कुल राष्ट्रीय उत्पादन में यह ससार में आठवे नवर पर था। यहा दुनिया म सबसे बडा लोह का खनिज भाडार है, मैंगनीज भाडार मे तीसरे नवर और कोयले में सातव नवर पर है। यहा ४१० लाख किलोवाट पनविजली बन सकती है। (६० प्रतिशत लाड पर)।

देश की इस क्षमता का उपयोग अभी शुरू ही हुआ है। भारत सरकार ने सर-कारी क्षेत्र में बुनियादी उद्योग शुरू किए है जो किसी निजी उद्योग की सामर्थ्य के वाहर थे।[2] *पहली योजना में सरकारी क्षेत्र में ५५ करोड की पूजी लगी थी* जो तीसरी योजना में ५२० करोड हो गई। निजी उद्योग मे इसी अवधि में पूजी नियोजन २३३ करोड से बढकर १०२० करोड हो गया। १९५१–५२ म शुद्ध बचत राष्ट्रीय आय की ५ ३ प्र० श० हुई जो १९६५–६६ मे १० ८ प्र० श० हो गयी और विनियोग ५ ३ प्र० श० से बढकर १४ प्र० श०।[3] इसके साथ ही मूल्या

---

१ के मुसरा 'लेवेल्स आफ इकनामिक ऐक्टिविटी ऐंड पब्लिक एक्सपेंडिचर इन इन्डिया (न्यूयार्क १९६५)। १९०० के मुकाबले स्वतत्रता के समय खेती के उत्पादन का सूचक अक ६ प्र श ऊचा था और १९३६–३७ के सबसे अच्छा फसल के वर्ष से १२ प्र श कम। इसी अवधि में अन्न के बजाय नकदी फसलों की खेती बढी और प्रति व्यक्ति खाद्य की उपलब्धि घट गयी।

२ इन सरकारी उद्योगों में उल्लेखनीय है भारत एलेक्ट्रानिक्स, हिंदुस्तान मशीन टूल्स, हिंदुस्तान केबुल्स चित्तरजन वाराणसी और पेराम्बूर के रेल इजन कारखाने राउरकेला, भिलाइ, दुर्गापुर और बोकारो में विदेशी सहयोग से स्थापित इस्पात कारखाने। यहा निजी उद्योगो का राष्ट्रीयकरण करने के बजाय, जो उद्योग नहीं थे, उन्हें स्थापित किया गया।

३ ये आकडे चौथी योजना के मसौदे पर आधारित हैं। वर्तमान विनिमय दर– १ करोड रु = १३,३३,३३३ डालर या ३ करोड रु = ४० लाख डा।

की वृद्धि १४ वर्षों में कुल ४० प्र० श० हुई। जबकि इस अवधि में चीन से युद्ध के कारण सेना का खर्च बढा और सरकार को घाटे की वित्तव्यवस्था करनी पडी। कर राष्ट्रीय आय के ७ प्र० श० से बढ कर १४ प्र० श० हो गए। इन सबके फल स्वरूप एक साल को छोड कर जब फसल खराब हो गई थी, सारी अवधि में राष्ट्रीय आय में लगातार, चाहे थोडी ही, वृद्धि होती रही।

यह देखते हुए कि भूमि में भारत का नबर विश्व में सातवा और जनसख्या में दूसरा है, यह प्रगति अधिक नही। मगर जिस पिछडी हुई हालत में भारत था उसको देखते हुए, इसकी प्रगति बुरी नही, खासकर उद्योगो में। पूजी एकत्र करने, और उसे उत्पादन म लगाने, उत्पादन बढाने और महत्वपूण सामान का आयात घटाने मे काफी सफलता मिली, यद्यपि योजना के लक्ष्य पूरे नही हो सके।

खोए अवसर

लेकिन अवसर का पूरा उपयोग नही किया गया। जमीदारी का उन्मूलन किया गया, लेकिन भूमि का उचित वितरण नही किया गया। इसी तरह सिंचाई के साधनो का उपयोग बजाय उपजाऊ क्षेत्रो में करने के सूखाग्रस्त क्षेत्रो में ज्यादा किया गया। निजी और सरकारी उद्योग सबधी विवाद में उवरक उत्पादन की योजनाएँ रुकी रही। अन्न की कमी से खेती की उपज बढाने की प्रेरणा ग्रहण करने के बजाय विदेशो से अन्न मगाने का आसान रास्ता चुना गया।

औद्योगिक क्षेत्र में आयात का विकल्प निकालने की नीति का दुरुपयोग देश में घटिया उद्योगो को सरक्षण देने में किया गया। बहुत शीघ्रता से बहुत-सी चीजो के कारखाने खडे करने का नतीजा यह हुआ कि साधन बिखर गए और पूरी अर्थ-व्यवस्था में लागत बढ गयी।[४] साधनो को सार्थक उद्योगो मे लगाने और नयी विधिया निकालने की प्रेरणा न रही। निहित स्वार्थों के दबाव के कारण साधनो को नए या आवश्यक कामो में न लगाया जा सका। मूल्यवृद्धि या मुद्रास्फीति से अनावश्यक रूप से डर कर यह कोशिश न की गयी कि मूल्यवृद्धि को उत्पादन बढाने का औजार बनाया जाए। जबकि खेती की लागत अधिक पड रही थी, पैदावार का दाम नीचा रहा। इससे खेती की प्रगति रुक गई। सूखे के कारण जब मूल्यो के बढने की स्थिति पैदा हुई तब सरकार ने घबडा कर अपनी योजनाओ में धन का नियोजन घटा दिया। इस [illegible] और [illegible]

जिस माल की माग हो उसी के उत्पा[illegible] का कि मशीनी औजारो का उत्पादन होता रह[illegible] में

४ [illegible]क बरनसन-'मैनुफेक्चरिंग प्राबलम्स इन ई[illegible] बयून १९६७) में इस पर [illegible] है कि बनाने में क्या सम[illegible]

क्योंकि उद्योगों के लिए कच्चे माल तथा अन्य आवश्यक सामान की कमी थी। इस कारण मशीनी औजारों की मांग न रही। हि० म० टू० के माल के ग्राहक भी नहीं मिलते थे। अस्तु यद्यपि तीन योजनाओं के दौरान काफी तरक्की हुई, परंतु सबसे जरूरी चीजों को प्राथमिकता नहीं दी गई, और कुछ चुने हुए क्षेत्रों में पूरे साधन और जोर नहीं लगाया गया। दिखावे के चक्कर में जो योजनाएं चालू की गईं उनमें साधनों की काफी बरबादी भी हुई।

अधिक चिंता की बात थी खेती और उद्योगों के विकास में असंतुलन। खेती में देश की तीन चौथाई जनसंख्या लगी है, और इससे राष्ट्रीय आय का आधा भाग प्राप्त होता है तथा इसी से उद्योगों के लिए कच्चा माल भी मिलता है। इस पर पूरा ध्यान नहीं दिया गया, जिसका असर पूरी अर्थव्यवस्था पर बुरा पड़ा।

इसका असर दिखाई पड़ा जब दो साल तक लगातार सूखा पड़ा, निर्यात की आमदनी घट गयी, पाकिस्तान से युद्ध के बाद बाहरी सहायता रुक गयी और कारखाना के लिए कच्चे माल और कलपुर्जों की कमी पड़ गयी। इससे दाम बढ़े और मंदी आयी, राजनैतिक अस्थिरता और चारों ओर कष्ट बढ़ा। तब उद्योगों के मुकाबले खेती की उपेक्षा करने का परिणाम सामने आया। इसके फलस्वरूप आर्थिक नीति पर पुनर्विचार हुआ, योजनाओं की प्राथमिकता बदली गई, प्रशासनिक तौर तरीके सुधारे गए तथा पूरी रीति नीति में परिवर्तन हुआ।

किंतु असंतुलित विकास से हिम्मत हारने की जरूरत नहीं।[५] इससे जो संकट आता है उससे आंख खुल जाती हैं और अपने तरीके बदलने का अवसर मिलता है। इससे जो धक्का लगता है, उससे नेतृत्व की गफलत दूर होती है और आगे बढ़ने के लिए नया बल मिलता है। जिन चीजों को पहले असंभव समझा जाता था, वे अब संभव लगने लगती हैं और सभी दल उन्हें स्वीकार करने लगते हैं। जिस देश को आलस और अकर्मण्यता की आदत पड़ जाती है, उसे इस प्रकार के धक्के लाभ पहुंचाते हैं और काम में लगाते हैं।

१९६६–६७ में भारत में जो खाद्य संकट आया उसके कारण सरकार के विकास कार्यक्रम की दिशा बदल गई। खेती के विकास की नई नीति अपनाई गई। सिंचाई की छोटी योजनाओं पर जोर दिया गया। उपजाऊ जमीन में उन्नत बीज और उर्वरक का प्रयोग करने पर जोर दिया गया। जमीन की जांच पड़ताल करके उसका वर्गीकरण करने पर जोर दिया गया। योजना की प्राथमिकताओं में फेर-बदल किया गया। नियंत्रणों को ढीला किया गया। आयात को विकल्प निकालने के बजाय निर्यात बढ़ाने पर ध्यान दिया गया और बहुत-सी नई नई योजनाओं

[५] देखिए, एल्बर्ट ओ हर्शमान 'स्ट्रेटेजी आफ इकनामिक डेवलपमेंट' (न्यू हेवन १९६४) तथा 'जर्नी टुवर्ड्स प्रोग्रेस' (न्यूयार्क १९६३)। इसमें लेखक ने यह तर्क रखा है कि असंतुलित विकास से भी विकास में मदद मिलती है।

को शुरू करने के बजाय वर्तमान उत्पादन क्षमता का पूरा-पूरा उपयोग करने पर जोर दिया गया।

तरीका में इन परिवर्तनों से ज्यादा महत्वपूर्ण था रुख में परिवर्तन। अनुभव किया गया कि सिर्फ उपदेश देने और हुक्म जारी करने से काम नहीं चलेगा। इसके बजाय किसान और उत्पादक को मालूम होना चाहिए कि उत्पादन बढ़ाने से उसको लाभ होगा। भाषण देने के बजाय किसान को खेती के लिए आवश्यक सामान उपलब्ध कराना जरूरी है। सीमित साधनों को बहुत बड़े क्षेत्र में छितराने की बजाय उनका प्रयोग उपजाऊ क्षेत्रों में करना चाहिए जिससे उपज तुरंत बढ़े। दामों को स्थिर रखने की बहुत ज्यादा चिंता न करनी चाहिए। जिससे दाम बढ़ने से उत्पादक का फायदा हो और वह ज्यादा मेहनत करे। सबसे बड़ी बात यह हुई कि कागजी घोड़े दौड़ाने के बजाय खेती को आर्थिक समस्या के रूप में देखा गया। और विशेषज्ञों तथा सरकारी अधिकारियों पर भरोसा करने के बजाय गांव के कार्यकर्ताओं और नेताओं को आगे आने दिया गया। गांव के इन नेताओं को भारत के प्रगतिशील किसानों के दृष्टिकोण की ज्यादा जानकारी है और उन्होंने योजना कमीशन के कागजी योजना बनाने वालों को प्रभावित किया।

शासन अधिकारियों ने भी नई लगन और क्षमता दिखाई। सूखाग्रस्त इलाकों में राहत पहुँचाने में राज्य और केंद्र के खाद्य मंत्रालय के अधिकारियों ने जो तत्परता दिखाई वह इसका प्रमाण है। और क्षेत्रों में भी किताबी या कागजी बहस करने के बजाय व्यावहारिक समस्याओं पर ध्यान दिया गया। इस नई नीति और काम करने के नए तरीके की सफलता में अच्छी वर्षा और अच्छे मौसम ने भी योग दिया और इससे अनाज के उत्पादन में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई। पहली बार सरकार में आत्मविश्वास पैदा हुआ और उसने घोषित किया कि १९७० से उसे बाहर से अन्न मंगाने की जरूरत न पड़ेगी। यदि ऐसा न भी हो सके, तो इसकी पूरी आशा है कि कुछ ही वर्षों में यह लक्ष्य पूरा हो जाएगा और हम अपने बल पर विकास कर सकेंगे। खेती का पिछड़ापन दूर होने के साथ साथ पहले की औद्योगिक योजनाएं भी आरंभिक बाधाओं को पार करके फल देने लगेंगी।

राजनैतिक प्रश्न

वास्तव में सूखा पड़ने से पहले ही विकास की रीति नीति बदलने की शुरुआत हो गयी थी। लेकिन जब खाद्य संकट उपस्थित हुआ तब सरकार में सोच विचार या हिचकिचाहट का अंत हो गया और दृढ़ता से कदम उठाए गए। सरकार पर एक ओर उन राज्यों का दबाव था, जहाँ खाद्य की अधिकता थी और दूसरी ओर उसे कमी वाले राज्यों की मांग की पूर्ति करनी थी। सौभाग्य से इस समय चि० सुब्रह्मण्यम जैसा कुशल प्रशासक और राजनीतिज्ञ खाद्य मंत्री था। खाद्यसंकट,

पाकिस्तान युद्ध और अमरिका द्वारा सहायता बद करने से जो स्थिति उत्पन्न हुई उसका लाभ उठा कर उन्होंने लाभकारी निर्णय कराने में सफलता पाई। यहा हमें खाद्य की कमी की तात्कालिक समस्या और खेती की उपज बढाने की लवे समय की समस्या में भेद करना चाहिए। खेती की उपज बढाने की समस्या तात्कालिक समस्या से कम कठिन थी। उसके लिए केन्द्रीय सरकार की ओर से ज्यादा सक्रिय कदम की जरूरत थी तत्कालिक समस्या वितरण की थी जिसमें राज्यो सहयोग की आवश्यकता थी। इस सबध मे जो फैसले किए गए वे राज्यो की सहमति से और उन्ही की सस्था राष्ट्रीय खाद्य कौसिल द्वारा हुए, जिसमे सभी राज्यो के मुख्य मत्री और केन्द्रीय वित्त, खाद्य और योजना मत्री सदस्य थे और प्रधान मत्री अध्यक्ष।

अभी अनेक प्रश्न हल नही हुए। राज्यो के स्वार्थ इसमें आडे आते है। उदाहरण के लिए अधिकतर मुख्यमत्री खाद्य क्षेत्रो की प्रणाली को खतम करने को तैयार नही है। इस प्रणाली मे एक राज्य या एक क्षेत्र से दूसरे में अन्न नही ले जाया जा सकता। इससे मूल्य और वितरण की ठीक नीति निर्धारित करने मे बाधा होती है। १९६५–६६ के सूखे के समय (किंतु १९६६–६७ म नही) यह कहा गया कि क्षेत्रीय प्रणाली भी खाद्य सकट का एक कारण है। सरकार द्वारा अन्न की खरीद के लिए ऊँचा दाम देने का भी विरोध उन दलो द्वारा किया गया जो शहरवालो को सस्ता अन्न दिलाना चाहते थे। इसी तरह उवरक और सिंचाई की योजनाओ के बारे मे भी सरकार असमजस में पडी है। कारखाने निजी क्षेत्र में हो या सरकारी क्षेत्र मे, इस विवाद के कारण उवरक उत्पादन और आयात की योजनाए खटाई में पडी है।

परतु खतरा इस बात का है कि खेती म मिली इस सफलता स आश्वस्त होकर भविष्य में उठने वाली कठिनाइयो की उपेक्षा कर दी जाय।[६] दूसरी आशका यह है कि खेती पर अधिक ध्यान देने में उद्योगो की अपेक्षा हो जाए। यदि ऐसा हुआ तो इससे खेती के लिए आवश्यक सामान की सप्लाइ मे भी बाधा पड सकती है।[७] १९६९ में बढे ढोल–ढमाके से बैंको का जो राष्ट्रीयकरण किया गया, उसका उद्देश्य भी किसानो और छोटे दूकानदारो का मदद देना अधिक है, बजाय उद्योगो में बचत का धन लगाना। सकट स सबक लेने की जो क्रिया शुरू हुई थी, वह अभी भी जारी है और आशा है कि उससे अनेक त्रुटिया दूर हो जाएगी पर नीति और अमल के सभी क्षेत्रो में ऐसा सुधार होगा यह नही कहा जा सकता। फिर भी आर्थिक

६ देखिए-कमलेश मार 'प्लानिंग फार फेल्योर इन एग्रिकल्चर' इकनामिक ऐंड पोलिटिकल वीकली वार्षिक अक जन १९६८।

७ मनमथ मिलिकन ने यह आशका प्रकट की है-'इंडिया इन ट्रानिशन इकनामिक डेवलपमेंट-परफार्मेंस ऐंड प्रास्पेक्ट्स फारेन अफेयस, ४६, न ३ अप्रैल १९६८।

नीति में मोटे तौर पर जो परिवर्तन हुआ है, वह शुभ है। हो सकता है कि भारत की सरकार फिर सुस्त पड जाए और फिर सकट पड़ें। यदि ऐसा होगा, तो इससे देश में फिर सजगता आएगी। यहा हम विदेशी मुद्रा और विदेशी सहायता की कमी जैसी बाहरी बातो पर विचार नही कर रहे है। यह अगले अध्याय का विषय है।

न्याययुक्त वितरण

आर्थिक विकास सबधी नीति पर विचार करने के बाद अब हम महत्त्व के प्रश्न पर आते है कि किसको क्या मिला। इस प्रश्न के भी दो पहलू हैं। एक तो यह कि स्वय नेतावर्ग का यह लक्ष्य है कि वितरण न्याययुक्त हो अर्थात विकास का लाभ गरीब तबके को मिले। दूसरा पहलू है विकास के लाभ के विषम वितरण के कारण वंचित और गरीब तबके का असतोष और उसकी इस लाभ में उचित हिस्सा बटाने की माग।

भारत म वितरण का प्रश्न 'गाव बनाम शहर' का सवाल बन गया है। अन्य बहुत से प्रश्न – बेकारी, जनसख्या का दबाव, मूल्यनीति, करनीति, यहा तक कि शिक्षानीति भी इसी दष्टिकोण से देखे जाते है। गावो में भी विभिन्न वर्गों में जो विषमता है उसकी भी उपेक्षा कर दी गयी है। राष्ट्रीय आदोलन से लेकर काग्रेस के अनेको प्रस्तावो और सविधान के नीति निर्देशक सिद्धान्त, सब में गावो की उन्नति, और जागृति पर खास जोर दिया गया है। योजनाओ में साधारण और भारी उद्योगो के विकास के कार्यक्रम शुरू किए जाने के बाद 'ग्रामोत्थान' पर जोर कम नही हुआ।

जैसा कि आम तौर पर होता है, भारत में भी योजना में औद्योगीकरण और श्रमिक शक्ति को खेती से हटा कर शहरो में (उद्योगो में) लगाने का कार्यक्रम बनाया गया। यह उचित भी था, क्योंकि भूमि या खेती पर भार बहुत हो गया था और खेती के बजाय उद्योगधधो में श्रम और साधन लगाने से ज्यादा और जल्दी लाभ मिलता है। परतु जनगणना से पता चलता है कि जनशक्ति को खेती के बजाय उद्योगो में लगाने का लक्ष्य सफल न हो सका। १९५१ और १९६१ दोनो बार की गणना में खेती में ७२ प्र श जनसख्या लगी थी (यदि केवल पुरुषो को लें तो अनुपात कुछ घटा, अर्थात ६९ प्र श से ६८ प्र श हो गया।) पूजी की भी यही स्थिति रही। १९५०–५१ में देश की ४० प्र श उत्पादक सपदा खेती में लगी थी और १९६०–६१ में भी यही स्थिति थी, जबकि राष्ट्रीय आय में खेती की आय का अश ४९ प्र श से घटकर ४६ प्र श हो गया। यह कमी भी खेती की गिरावट का द्योतक है। इस प्रकार श्रमशक्ति, आय और पूजी के खेती से उद्योग में जाने की आशा पूरी नही हुई (स्मरण रहे कि प्रतिशत न बढने पर भी कल–

कारखानो में लगे श्रमिका की सख्या और उनमें बनने वाले माल मे बहुत वद्धि हुई)।

गावा को अधिक

शुरू से ही सरकार गावा में ज्यादा धन लगा रही ह। १९५१–६१ के दशक में गावो से कर की आय ८० प्र श बढी, लेकिन उसी दशक मे करो से प्राप्त आय जो गावा में लगायी गयी, १८० प्र श बढी। मूल्यवद्धि आर रहन सहन के सूचक अक का हिसाब लगाने के बाद गाव में लगी करो से प्राप्त शुद्ध आय में १५० प्र श की वद्धि हुई। दूसरी ओर शहरी क्षेत्रा से करो से जितनी आय हुई, उससे कम उनमें खर्च किया गया। इन दोनो वर्षो मे यह रकम २०० करोड रही। योजना के परिव्यय के हिसाब से भी प्रथम दो योजनाआ में ४५ प्र श और तीसरी योजना में ४० प्र श गावा में व्यय हुआ।[८] इस प्रकार यद्यपि सब मिला कर खेती पर अधिक ध्यान नही दिया गया (पहली योजना को छोडकर) परतु अय क्षेत्रो पर गावों में काफी रुपया खच किया गया।

दूसरी ओर कल-कारखानो और खेती से इतर क्षेत्रा मे उत्पादकता अधिक होने के कारण बढती हुई राष्ट्रीय आय का ज्यादा लाभ, प्रति व्यक्ति और प्रति कामगार शहरो मे ज्यादा हुआ। लेकिन शहरी क्षेत्रा पर कर का बोझ भी ज्यादा रहा। सरकार कृषक वर्ग पर प्रत्यक्ष कर लगाने से हिचकती हे। खेती पर प्रत्यक्ष कर, भूमिकर हा है। द्वितीय महायुद्ध के बाद से इसकी दर नही बढायी गयी हे। इस लिए इसका वास्तविक बोझ काफी घट गया है। इसी बात को ध्यान मे रख कर अनेक राज्या ने भूमिकर एकदम समाप्त कर दिया। अप्रत्यक्ष करो का भार भी गावो के मुकाबले शहरा पर ज्यादा है।

इधर खेती के धधे में मुनाफा बढ गया हे। इसलिए अब व्यवसायकुशल और साधनसपन्न लाग भी इस मे आ रहे है, और अच्छे बीज, खाद, सिंचाई और उन्नत औजारा व यत्रा में रुपया लगा कर खेती को उद्योग की भाति चलाने में तत्पर ह। पचायती राज, सहकारी सगठन और राष्ट्रीयकृत बका से ऋण आदि की सुविधाआ के कारण इस प्रवृत्ति को और बढावा मिला है। पुराने राजा व जमींदार, आर काग्रेसी नेता जो पहले शहरो में ही छाये रहते थे अब गावो में काम बना रहे है।[९] सरकारी और फौजी अधिकारी और ऊची जातियो के लोग जब खेती के

[८] इसम खेता तथा सामाजिक सेवा, सडक सचार और पुनवास आदि पर व्यय शामिल है। ये आकडे सरकारी प्रकाशनों से लिए गए हैं – जैसे – सेंसस आफ इडिया १९६१– फाइनल पापुलेशन टोटल (नइ दिल्ली १९६२)। तीसरी योजना के परिशिष्ट (नइ दिल्ली १९६१) बेसिक स्टैटिस्टिक्स रिलेटिंग टु इडियन इकानमी १९५०–५१ से १९६५–६६ (नइ दिल्ली १९६६) तथा जान रोजन 'डिमोक्रेसी ऐंड इकानामिक चेंज इन इडिया' (बर्कले १९६७)।

[९] टामस आर मेटकाफ 'लैंडलार्ड्स विदाउट लैंड द यू पी जमींदार्स टुडे' (पैसिफिक अफेयर्स १८२, १९६७)।

आर्थिक और राजनैतिक लाभों का अनुभव कर रहे हैं। भारतीय राजनीति में सबसे नया शक्तिशाली वर्ग बड़े किसानों, 'कुलकों' का है, जो समाज के सभी वर्गों से आए है। ये खूब मुनाफे की खेती कर रहे हैं और राजनीति में भी प्रवेश कर रहे हैं।[10] ये लोग अपना पूरा जोर इसी बात पर लगाएंगे कि खेती पर कर न लगाने और ग्रामीण क्षेत्रों को तरजीह देने की नीति जारी रहे।

इस प्रकार भारत के नेताओं की साधारण नीति यही रही है कि गावों के विकास पर ज्यादा ध्यान दिया जाए। राजनैतिक शक्ति भी गावों के नेताओं के हाथ में होने के कारण इसी नीति की पुष्टि हुई है। इस नीति का औचित्य भी है, क्योंकि सदियों से भारत के गाव उपेक्षित रहे हैं। दूसरे, खेती और गावों के विकास पर ज्यादा ध्यान देने से भारत की गरीबी की समस्या सुलझाने की भी अधिक आशा है।[11]

शहरीकरण की प्रवृत्ति

भारत के विकास का एक और रोचक पहलू है नगरीकरण की मद गति। यह कुछ हद तक गावों के विकास पर अधिक ध्यान देने का परिणाम है। आलोच्य दशक में शहरों में रहने वाली जनसख्या का अनुपात प्राय ज्यों का त्यों रहा। १९५१ में १७ २९ प्र श जनसख्या शहरों में रहती थी। १९६१ में यह १७ ९७ प्र श थी। यद्यपि नगरों की जनसख्या में १ करोड ६५ लाख की वद्धि हुई (नगरों की पुन परिभाषा के फलस्वरूप यह वद्धि २ करोड १२ लाख हो गयी) परतु कुल जनसख्या में उसका अनुपात केवल ० ६८ प्र श ही बढा (पुन परिभाषा के बाद १ ७६ प्र श)। शहरीकरण की दर पहले दशक के मुकाबले धीमी पड गयी। पिछले दशक में यह २४ ८ प्र श थी, जबकि इस दशक में यह सिर्फ ३ ९ प्र श रही।[13] जैसा कि सारणी नौ १ से पता चलेगा, १९२१ के बाद के दशकों में यह सबसे मद रही।

यह मद गति अधिकारियों की आशा के विपरीत रही और इस धारणा के भी

---

१० इस वर्ग में किस प्रकार के लोग आ रहे हैं, इसके लिए देखिए – डेनियल थार्नर, 'न्यू फ्लाम राइजेज इन रूरल इंडिया' द स्टेट्समैन (नई दिल्ली-कलकत्ता) १-४-१९६७।

११ चार्ल्स इ लिंडब्लम, 'पोलिटी डेमोक्रेसी ऐंड डिसिप्लिंड डेवलपमेंट द केस आफ इंडिया और इंडियाज इकनामिक प्रास्पेक्ट्स' – वेंचस (येल ग्रेजुएट स्कूल की पत्रिका) खंड-स १ स्प्रिंग १९६८।

१३ आशीष बोस 'सिक्स डिकेड्स आफ अर्बनाइजेशन इन इंडिया १९०१-१९६१' –द इंडि इकनामिक ऐंड सोशल हिस्ट्री रिव्यू दो स १ जन १९६५। १९४१–५१ का दशक असाधारण था। इसमें विश्वयुद्ध हुआ भारत के विभाजन के बाद लाखों आदमी बेघर हुए और स्वतत्रता के बाद लोगों की बड़ी आशाएं बधी।

विपरीत कि आधुनिकीकरण के साथ नगरीकरण की दर बढती है।[१४] १९५१ ६५ ६५ के बीच भारत का तेजी से आधुनिकीकरण हुआ और शिक्षा, उद्योग व शिल्प का विकास हुआ। यद्यपि विकास के क्रम मे शहरो मे काम करने वाले श्रमिको की सख्यावृद्धि स्वाभाविक थी, किंतु इसका अर्थ यह नही था कि जनसख्या की गति गावो से शहरो की ओर हो।[१५] ऐसा प्रतीत होता है कि खेती के धधे मे लाभ बढने से, गावो के आधुनिकीकरण से और राजनीति के विकेन्द्रीकरण से नगरीकरण की गति मद रही। (सारणी नौ–१)

नगरो की जनसख्या बढने मे दो कारण होते है। एक प्राकृतिक वृद्धि, दूसरा गावो से नगरो मे आगमन। सारणी नौ २ और ३ मे इस दशक मे गावो से नगरो मे आगमन का विवरण है। सारणी नौ २ से पता चलेगा कि बहुत कम खेतिहर या किसान नगरो मे आए (आकडे बडे नगरो के है, पर छोटे नगरो मे भी स्थिति यही थी)। सारणी नौ ३ से इस धारणा का खडन होता है कि जहा जन सख्या का घनत्व ज्यादा होता है, वही से सबसे ज्यादा लोग नगरो मे आते है। इसके विपरीत देखने मे यह आया कि उन्ही क्षेत्रो से ज्यादा लोग नगरो मे आए जहा आबादी कम घनी थी (मद्रास, पश्चिम बगाल और राजस्थान इसके अप वाद है)।[१६]

इस प्रसग म दो बातें ध्यान योग्य है। एक तो जैसा आशीश बोस ने कहा है भारत में आवाजाही लगी रहती है, लोग शहरो को जाते है और फिर गाव लौट जाते है। जबकि १९५१–६१ के दशक में शुद्ध आगमन या प्रवास ६० लाख रहा,

---

१४ यह धारणा इतनी बद्धमूल है कि जब भारत में इसके विपरीत प्रवृत्ति दिखाई पडी तो किंग्स ले डेविस ने इसका कारण यह बताया कि यहां आर्थिक विकास की गति अपेक्षाकृत मद रही। किंग्सले डेविस, 'अर्बनाइजेशन इन इंडिया पास्ट ऐंड फ्यूचर' (बर्कले १९६२) इसके विपरीत देखें, आशीश बोस 'अर्बनाइजेशन इन फेस आफ रैपिड पापुलेशन ग्रोथ एंड सरप्लस लेबर द केस आफ इंडिया, इंडियन पापुलेशन बुलेटिन न ३–१९६४।

१५ बडे नगरों में नगरीकरण ज्यादा तेज रहा (प्रथम द्वितीय और तृतीय श्रेणी अर्थात् २० ००० से ज्यादा आबादी वाले नगर) इनमें वृद्धि ४२ २ प्र श रही (पिछले दशक म ५७ ६ प्र श)। मध्यम और छोटे नगरों म ७ २ प्र श की कमी हुई (जबकि पिछले दशक में २७ ८ प्र श की वृद्धि हुई थी)। इससे पता चलता है कि बडे औद्योगिक नगरों में वृद्धि अधिक होती है और गावों की पकड अभी भी कमजोर नहीं हुई।

१६ सबसे ज्यादा चलान देहात से देहात को ही होता है। १९०१ से १९६१ के बीच २७ ५१ प्र श देहात से देहात में गए १३ ७१ प्र श शहर से शहर को ६ १० प्र श शहर से देहात और केवल ५ ४६ प्र श देहात से शहर में गए। ध्यान रहे कि गाव में गमन ज्यादातर ब्याहता स्त्रियों का होता है। सेंसस आफ इंडिया १९६१,१ भाग २ सी माइग्रेशन टेबुल्स न दि १९६७) तथा – इन्टर्नल माइग्रेशन इन इंडिया (एन एस एस रिपोर्ट न ५३, १९६३)।

वर्ष प्रतिवर्ष गिनती २४० लाख पहुँच जाती है। दूसरी बात यह है कि यहा गमन गावा से शहरा का नही, बल्कि छोटे नगरा या कस्बा से बडे नगरा का होना है।

अत में एक बात यह भी ध्यान योग्य है कि जहाँ १९५१–६१ के बीच गावा की जनसंख्या २० प्र श बढी, वहा खेती करने वाला की ४३ प्र श बढी। सन १९५१ म कृषका का प्र न ७४४० था जबकि १९६१ मे ७६४४ प्र न हो गया।[17] इस प्रकार नगर देहात अनुपात में एक स्थिरता रही। यह प्रवत्ति ऐसे समय रही, जब राजनैतिक शक्ति शहरा से निकल कर गावा में जा रही है।[18] (सारणी नौ–२ और नौ–३)।

मगर इस स्थिति में भी खतरे हैं। शहरा में जनसख्या की स्वाभाविक वृद्धि के कारण गावा के लोगा को उनमें स्थान मिलना कठिन हो जाता है। इसके फल स्वरूप गावा में भूमि पर भार बढ जाएगा और विषमता और सघर्ष पैदा होगा। दूसरी ओर शहरा में विशेषकर शिक्षित वर्ग में बेकारी बढेगी। इससे शहर और गाव के बेरोजगार और विपन्न वर्गों का सयुक्त मोरचा बन सकता है और वर्ग-सघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो सकती है।

क्षेत्र के अदर विषमता

कृषक वर्ग में भी व्यापक विषमता है।[19] यह सही है कि जमीदारी के उन्मूलन और भूमि सुधारा के कारण, सामती वर्ग के हाथ से अधिकार छिने हैं और जमीन किसाना के स्वामित्व में गयी है। १९६१ की जनगणना के अनुसार ७७ प्र श कृषक परिवार अपनी जमीन के मालिक थे, ८ प्र श पक्के शिकमी थे और १५ प्र श मिश्रित वर्ग के शिकमी या दर शिकमी। लेकिन काग्रेस को बडे किसाना के समर्थन की जरूरत थी इसलिए भूमि सुधार (जोत की सीमाबदी, भूमिहीना को जमीन वितरण) ठीक ढग से लागू नही किए गए, और विकास कार्य का लाभ भी बडे और धनी किसानो को ज्यादा मिला। रिजर्व बैंक की एक पडताल से पता

१७ जनगणना और योजना कमीशन के अलावा भारत के बदलते हुए व्यावसायिक ढांचे के और कई अध्ययन हुए। इनके साराश के लिए देखें–के कृष्णमूर्ति 'सेकुलर चेंजेज इन आकुपेशनल स्ट्रक्चर आफ द इडियन यूनियन १९०१–६१ (द इडियन इकनामिक ऐंड सोशल हिस्ट्री रिव्यू, दो–स १, जून १९६५)।

१८ देहात के अतर्गत १०० आदमियों से लेकर १००० तक की आबादी के गाँव आ जाते हैं। ये गाव जिलों में वर्गीकृत होते हैं और ये जिले राजनैतिक सत्ता और आर्थिक शक्ति के तथा अनेक प्रकार की प्रशासनिक सुविधा के केन्द्र होते हैं। नगर या कस्बे में भी देहात के अनेक तत्त्व होते हैं। नगरी और देहाती क्षेत्रों में सत्ताकेन्द्र जिले के मुख्यालय और राज्य की राजधानियाँ होती हैं।

१९ देखें–पी सी जोशी 'फार्म्स ऐंड फूड – द प्राबलम' सेमिनार स ८१, मई १९६६ तथा रिजर्व बैंक और योजना कमीशन के *मूल्याकन सगठन की रिपोर्टें।*

चलता है कि २५ प्र श सबसे धनी किसानो के पास ७५ प्र श जमीन है। इन धनी किसाना ने ही विकास कार्यों से सबसे अधिक लाभ उठाया है।[20] अनेक पडताला से पता चला है कि अपने प्रभाव, शिक्षा और प्रबधकुशलता के कारण इसी वग का दक्ष व सहकारिया से सबसे अधिक ऋण मिला और इसी ने कृषि विस्तार सेवा आर सामुदायिक विकास कायक्रम से भी सबसे अधिक लाभ उठाया।[21] इधर उपज बढाने के लिए जो वज्ञानिक साधन, सिंचाई उवरक, बीज आदि खेती में लगाए गए, व भी अधिकाश इसी वग को मिले। खेती की पैदावार के मूल्या को ऊचा रखने और सरकारी खरीद की नीति से भी इसी वग को ज्यादा लाभ है।

ध्यान रहे कि जब तक समाज में यह भावना रहती है कि बडे लोग या बडी जाति हमेशा बडी रहगी और छोटी जाति छोटी, तब तक असतोष दबा रहता ह। लेकिन जब एक बार छाटी समझी जानेवाली जाति या वग के लाग सरकारी विकास कायक्रम और जमीदारी उन्मूलन आदि कारवाइया का फायदा उठा कर ऊचे चढ जात हैं, तब औरा की आकाक्षा भी जागती है और सघष पैदा होता ह।[22] यदि सपन्नता से छोटे किसाना और भूमिहीनो को भी लाभ नही पहुँचता ता सामाजिक और राजनीतिक विक्षोभ की स्थिति पैदा होगी। १९६९ में केन्द्रीय गहमत्रालय की एक विशेष रिपोर्ट में यह चेतावनी दी गई कि उपजाऊ क्षेत्रा मे भूस्वामी लोग बटाईदारो को हटाकर उनकी जगह खेत मजदूरो को रोजाना मजूरी पर रख रह हैं इससे गावा में बेरोजगारी और असतोष बढ रहा है। इस प्रकार बुनियादी भूमि सुधार न हुए ता हरी क्राति से विषमता और बढेगी। कहा जा सकता है कि विकास के साथ विषमता अक्सर बढती ही ह[23] लेकिन विष-

२० यह पडताल था–आल इडिया डेट एड इनवेस्टमेंट सर्वे–रिजर्व बैंक बुले जून ६५ और अगस्त १९६६। हर राज्य में भी अतर था। वितरण की विषमता सबसे कम था जम्मू कश्मीर में, ०४८ प्र श और सबसे ज्यादा था आंध्र में, ०७३ प्र श। भूमि सुधार और आर्थिक विकास के सबध के विश्लेषण के लिए देख, राजकृष्ण का लेख–'सम पेसेक्ट्स आफ लैंड रिफाम एन्ड इक डेव आफ इडिया –वाल्टर फ्रोलिख सपादित– लैंड टेन्योर, इडस्ट्रियलाइजेशन ऐंड सोशल स्टैबिलिटी एक्सपारियस ऐंड प्रासपेक्ट्स इन एशिया' (मिल्वाकी १९६१)।

२१ रिजव बक क्रेडिट फाल्गेअप सर्वे, १९५८–१९५९ (बबइ १९६१)। एस सी दुबे –'इन्डियाज चेंजिंग विलेजिज' (इथाका १९५८)। डी और ए थानर–'लैंड ऐंड लेबर इन इडिया' (बबई १९६२)। डा के एन राज सम फाचस आफ द रट ग्रोथ आफ द लास्ट डिकेड इन इडिया–द इक वीकली १३, एनुअल नबर १९६१।

२२ खेती म मुनाफा होने देख कर हर वर्ग के लोग–व्यापारी, महाजन, रिटायड शासन और फौजी अधिकारियों ने इसमें प्रवेश किया है। कुछ तो काफी नाची जाति के हैं, जिनसे वे ईर्ष्या के पात्र बने ह।

२३ अल्बर्ट ओ हर्शमैन–'स्ट्रेटेजी आफ इकनामिक डेवलपमेंट'।

मना नहुत वढेगी तो न केवल इससे विकास रुकेगा वल्कि राजनैतिक विक्षोभ और अस्थिरता भी बढ़ सकती है।

यदि हम गावा के लोगा का बडे और मध्यम श्रेणी के किसान, छोटे किसान और भूमिहीन (जिसम भूमिहीन मजूर भी है) में बाट तो पहले वग को ऊपर बताये गए कारणा से सबसे ज्यादा लाभ हुआ। दूसर वग का भी भूमिसुधार और खेती के विकास की योजनाओ से लाभ हुआ। १९६१ की जनगणना के अनुसार किसाना की सख्या में ४३ प्र० श० की जो वृद्धि हुई, उसका कारण भूमिसुधार, विशेषकर जाता की सीमा बाधना है। यद्यपि इन सुधारा पर अमल मे काफी ढील दी गई। १९५०-५१ मे १९५६-५७ मे हुई दा जाचा मे पता चला कि यद्यपि खेत – मजदूरा की आम हालत मे सुधार नही हुआ, किंतु सख्या घट गई।[२४] ऐसा जान पडता ह कि इन मजदूरो में जा कुछ अच्छे थे (जिनके पास कुछ जमीन थी) वे कुछ और जमीन प्राप्त करके किसान बन गए। १९६१ की जनगणना म पता चलता ह कि खेत–मजदूरा की सख्या बढने क बावजूद उसमें तुलनात्मक ह्रास हुआ है। जब कि गावो की जनसख्या करीब २० प्र० श० और कृषका की ४३ प्र० श० बढी, खेत मजदूरो का प्र० श० २० स घट कर १७ हो गया। पजाब, गुजरात और आध्र ऐस सपन्न खेती के इलाको में तो खेत मजदूरा की कमी पड गई, खास कर कटाई आदि के समय। चूकि आधुनिक तरीका के कारण खेती की उपज बढी है इसलिए भूस्वामी बटाई पर खेती कराने के बजाय स्थायी मजदूर रख कर खेती करात ह, इससे गावा की सबसे नीची जातिया का कुछ फायदा हुआ ह।

लेकिन जनसख्या बढने के कारण, मजदूरी चाहने वाला की सख्या भी बढी और खेत मजदूरो की मजूरी या अन्य फायदो में कोई इजाफा नही हुआ। खेत मजदूरो सबधी जाचा से ज्ञात हुआ कि उनकी आमदनी १० प्र० श० घट गई है। यद्यपि ये आकडे भराम के नही है फिर भी इसमें सदेह नही की खेत मजदूरा की हालत खस्ता ह।[२५] महत्त्व की बात यह है कि इनमें स कुछ की हालत सुधरी है इसलिए दूसरो की आकाक्षाए जगी हैं। खेत मजदूरा से निकट का वग है, छोटे किसाना का। उनकी हालत भी सुधरी है और इज्जत बढी है। क्राति का यह सुनिश्चित सिद्धान्त है कि जब तक कोई वग लगातार कष्ट में रहता है, जिसस उठन की कोई आशा नही दीखती तब तक वह क्राति के लिए उद्यत नही होता। क्राति की चिनगी तब सुलगती है, जब उस उन्नति की आशा और सभावना दीख जाती

---

२४ रिपोर्ट आन द सेकेन्ड एग्रि लेबर एनक्वायरी १९५६-५७ (शिमला १९६०)। विभिन्न कृषक वर्गों के लाभ हानि की तुलना के लिए देखें वाज होजेन, पूर्वोक्त, पृ १६५ १७८।

२५ देखें–डा वि क र राव सपादित 'एग्रि लेबर इन इडिया (बबई १९६५) में ज्ञाता और डा के एन राज के लेख और डी तथा ए थार्नर ऑड मेड लेबर इन इडिया'।

है।[२६] अगले १०–१५ वर्षों में संभवतः भारत के गांवों में परिवर्तन की मांग तेज होगी। धनी किसानों को बटाईदारों तथा खेत मजदूरों दोनों से संघर्ष करना होगा यद्यपि कभी कभी बटाईदार और मजदूर वर्गों में भी विरोध हो सकता है। तब हो सकता है कि भूमि सुधार और खेती की आय पर कर लगाने की जो योजनाएं सरकारी दफ्तरों में धूल खा रही हों अमल में लाई जाएं।

सारांश यह है कि शुरू में जब नई जमीन तोड़ी जाती है और भूमिसुधार द्वारा खेती करने वालों को मालिकाना हक दिए जाते हैं तब पैदावार बढ़ती है। उत्पादन की ओर वृद्धि नए तरीकों पर और ऋण आदि की सुविधाओं पर निर्भर होती है जिसके लिए राजनैतिक और सरकारी नौकरों तक पहुंच सहायक होती है, इस कारण उच्चवर्ग या बड़े लोग सबसे ज्यादा फायदा उठाते हैं, और आर्थिक विकास के साथ साथ विषमता बढ़ती है। इससे उत्पादन और वितरण दोनों पर बुरा असर पड़ता है। इसे दूर करने के लिए ऊपर के नेता पंचायती राज आदि संस्थाओं को शुरू करके देहाती जनता को उत्साहित करने और लाभ का भागीदार बनाने की कोशिश करते है। इसमें विफलता होने पर सरकार के विरुद्ध असंतोष बढ़ता है और चुनाव में सरकारी दल की हार होती है। इसके कारण आमूल परिवर्तन के लिए राजनैतिक दबाव बढ़ता है।

परंतु वर्तमान व्यवस्था के प्रति गांववालों का आम विरोध संभावित नहीं। क्योंकि पैदावार के मुकाबले खपत और मांग बढ़ने के कारण अभी कई वर्षों तक अनाज के भाव ऊंचे बने रहेंगे। जनसंख्या की वृद्धि और विदेश से अन्न का आयात घटने के कारण भी भाव ऊंचे बने रहेंगे। शहरवालों की ओर से सस्ते अनाज की मांग उठेगी, लेकिन गांववालों के राजनैतिक जोर के कारण इसके माने जाने की आशा नहीं। इसलिए खतरा यह नहीं है कि गांववालों को सरकार व व्यवस्था से असंतोष हो, बल्कि यह है कि गांवों में ही वर्गसंघर्ष की नौबत आ जाए। (नक्सलवादियों का आंदोलन इसी प्रवृत्ति का द्योतक है।)

शहरों की स्थिति मोटे तौर पर यह है। कंपनी और कारखाने वालों का मुनाफा बढ़ा है। कारखाने में काम करने वालों का वास्तविक वेतन भी बढ़ा है। निजी क्षेत्र के ऊंची श्रेणी के कर्मचारियों की असल आमदनी भी बढ़ी है, और ऐसे पदों की संख्या भी बढ़ रही है। दूसरे वर्ग के कर्मचारियों की आमदनी तो नहीं बढ़ी लेकिन जगहें बढ़ी हैं। थोक और खुदरा व्यापारियों की आमदनी भी बढ़ी है। दूसरी ओर ऊंची और निचली श्रेणी के सरकारी नौकरों की वास्तविक

---

२६ अलेक्सिस द तोकविल ने फ्रांस की राज्यक्रांति पर अपने प्रसिद्ध ग्रंथ में लिखा है कि सदियों तक कष्ट में रहने पर भी लोगों ने अनुभव नहीं किया कि जिस व्यवस्था में वे पिस रहे हैं वह कितनी अत्याचारी है। उन्होंने यह अनुभव तब किया जब आर्थिक उन्नति होने लगी। यही बात अन्य देशों में भी दीख पड़ी।

आय घटी है। सरकारी प्रतिष्ठानो के श्रमिको की आमदनी मे घट-बढ नही हुई, क्योकि वेतन कमिशन की सिफारिश के अनुसार इनका महगाई के साथ उनका मुआवजा बढता जाता है। इनकी संख्या भी काफी बढी है। शायद सबसे अधिक कष्ट विश्वविद्यालय कालेज और स्कूलो के अध्यापको को है, यद्यपि इनकी संख्या मे भी बहुत वृद्धि हुई है।

निम्न मध्यम श्रेणी की नौकरियो में लगातार बढती विकास का एक ठास लाभ है। लेकिन दूसरी ओर यह वर्ग मेहनतमजूरी करने वाले वर्ग के निकट आता जा रहा है और ऊपर के वर्गसे इसकी दूरी बढती जा रही है। इस प्रकार निम्न मध्यम वर्ग नीचे और ऊंचे दोनो वर्गों की तुलना में घाटे में रहा। ऊंची आय वाले वर्ग से यह ईर्ष्या करता है और उसके मुकाबले नीचे जा रहा है। दूसरी ओर यह निचले वर्ग के स्तर पर जा रहा है जिससे यह ऊपर रहना चाहता है। शहरो में सबसे अधिक असंतोष इसी वर्ग में है। तरह बौद्धिक श्रेणियो और सरकारी नौकरी की मान मर्यादा में भी काफी घटी हुई है और उनमें भी क्षोभ और विरोध है। इस प्रकार भारत में कारखाने के मजदूरो की ओर से वर्गसंघर्ष का खतरा कम है और निम्न मध्यम वर्ग की ओर से अधिक, इनके साथ असंतुष्ट बौद्धिक वर्ग भी हो गया है।

बेरोजगारी की समस्या

बढती हुई बरोजगारी को देखते हुए, खासकर शहरो मे शिक्षित बेरोजगारो की बढी संख्या को इस प्रकार के मोरचे की संभावना और बढ गयी है। सरकारी अनुमान के अनुसार १९५१-१९६१ के बीच श्रमिक संख्या में २१० लाख की वृद्धि हुई, जबकि बारोजगार लोगो की संख्या में केवल १७० लाख की वृद्धि हुई। द्वितीय योजना के अंत तक अनुमान है कि बेरोजगारो की संख्या ७० लाख थी। तीसरी योजना में काम करने योग्य लोगो की संख्या में १७८ लाख की बढती हुई जबकि काम मे लगे लोगो की संख्या केवल १४८ लाख बढी। इस प्रकार तीसरी योजना के अंत तक १०० लाख लोगो को काम नही मिल सका था, जिनमें २५ लाख शहरो में थे।[२७] (कुछ लोगो का ख्याल है कि बेरोजगारो की संख्या और अधिक, १५० लाख थी) अनुमान है कि चौथी योजना के अंत तक बेरोजगारो की संख्या १४० लाख (सरकारी अनुमान) से २०० लाख के बीच हो जाएगी। बेरोजगारी में इस वृद्धि का कारण कुछ तो जनसंख्या की अत्यधिक बढती है कुछ अर्थव्यवस्था को स्वावलंबी बनाने के लिए पूंजीगत सामान बढाने का अधिक

२७ बेरोजगारी की इस संख्या के अलावा करीब १००-२०० लाख ऐसे हैं, जिनको पूरा काम नही मिला है।

नीति है, और कुछ कच्चे माल की कमी आदि के कारण स्थापित उत्पादनक्षमता का पूरा काम न करना है।

रोजगार बढ़ाने के तीन उपाय हो सकते हैं – एक, पूजी – श्रम अनुपात को घटा देना, दूसरा, कारखानो में ज्यादा आदमियो को रखना और तीसरा, बेकारक्षमता का पूरा उपयोग करना। पहला कठिन है क्योंकि इस समय पूजी का नियोजन कुछ खास आर्थिक और प्रौद्योगिक लक्ष्यो को सिद्ध करने के लिए हो रहा है। दूसरे उपाय से श्रम की उत्पादकता घटेगी। १९५१–६१ में उत्पादनवृद्धि का ६५ प्र श श्रमिको की उत्पादकता बढ़ने से आया और ३५ प्र श श्रमिको की सख्या बढ़ाने से। इसलिए एक रास्ता यही रह जाता है कि वतमान उद्योग पूरी क्षमता से काम कर। इसके लिए विदेशो से जरूरी पुर्जे और सामान मगाना होगा, और यह तभी हो सकता है जब निर्यात की जाय बढे। यद्यपि बेरोजगारी की समस्या विशाल है, पर देश के आयोजको ने शीघ्रता से उत्पादन और उत्पादकता बढ़ाने को प्राथमिकता दी है, और उन्हें आशा है कि इससे रोजगार भी बढ़ेगा।[२८] इस बीच गावो में सावजनिक निर्माण के काम चालू करके कुछ हद तक बेरोजगारो को काम देने की कोशिश की जा रही है।

इधर हाल में इदिरा गाधी ने आर्थिक नीति को राजनतिक रुख दिया है और गरीबी तथा विषमता हटाने की समस्या पर जोर दिया है। इससे शहरो में कारीगरो और शिल्पिको की तथा गावो मे बटाईदारो और भूमिहीन मजदूरो की बेरोजगारी और अध – बेकारी दूर होने मे कुछ मदद मिलेगी।

भारत की अशिक्षित जनता मे कष्ट सहने की बेहद क्षमता है। यहाँ परिवार और नाते रिश्तेदार भी बेकार की मदद करते हैं। बहुत से ग्रामीण मजदूर बीच बीच में काम मिल जाने से और निर्वाहयोग्य मजदूरी मिलने से ही सन्तोष कर लेते हैं, इसलिए यहा सामाजिक विस्फोट नही हुआ। पर वास्तविक खतरा शहरो मे शिक्षित बेरोजगारो से है। मगर शिक्षितो को काम देने का प्रबन्ध नही हो पा रहा है। सारणी नौ – ४ से पता चलेगा कि अनेक राज्यो मे बेरोजगार शिक्षितो की सख्या अशिक्षितो और कम शिक्षितो से ज्यादा है। उदाहरण के लिए पजाब, आध्र मैसूर, केरल और दिल्ली जसे अधिक उन्नत क्षेत्रो में। गुजरात और

---

२८ आय और सपत्ति की विषमता की जाच करने के लिए भारत सरकार ने एक कमेटी नियुक्त की थी। पर इसकी रिपोर्ट से इस समस्या पर कोई खास प्रकाश नहीं पड़ा, क्योंकि कमेटी को आवश्यक आकड़े नहीं मिल पाए। इसलिए हमने इस प्रश्न पर यहा विचार नहीं किया है। 'इसके सिवा हमें यह समस्या राजनैतिक दृष्टि से ज्यादा महत्त्व की नहीं प्रतीत हुई। फिर भी देखें – रिपोर्ट आफ द कमेटी आन डिस्ट्रीब्यूशन आफ इनकम ऐंड लेवेल्स आफ लिविंग' (महालनवीस कमेटी रिपोर्ट) दिल्ली १९६४ तथा आर के हजारी – द 'स्ट्रक्चर आफ कार्पोरेट प्राइवेट सेक्टर' (बबई – न्यूयार्क, १९६६)।

अधिकांश लोग पंद्रह से चौंतीस वर्ष की आयु के होते हैं (सारणी नौ–६) इसके साथ ही यह ध्यान में रहे कि सबसे ज्यादा बेकारी कम आयु के लोगों में है (सारणी नौ–७)। इससे पता चलता है कि नई पीढ़ी का असंतोष राजनीति पर गहरा प्रभाव डालेगा। हमने देखा है कि भारत में पश्चिम की तरह नई पीढ़ी अपने बड़े-बूढ़ों का निरादर नहीं करती। इसके अलावा भारत के नौजवान प्रस्तुत व्यवस्था को उलटने के बजाय, केवल अपने लिए काम और स्थान चाहते हैं।[29] खेती में लाभ बढ़ने के कारण हो सकता है कि बहुत से नौजवान शहरों में काम तलाशने के बजाय खेती में लग जायें। यह भी प्रतीत होता है कि स्वतन्त्रता के बाद जन्मी पीढ़ी ज्यादा यथार्थवादी है, बजाय पहले की पीढ़ी के जिनका लालन पालन लम्बे चौड़े आदर्श और सिद्धान्त के बीच हुआ था।[30]

मगर यह याद रहे कि आजकल की शिक्षा और अखबार, किताब, फिल्म और रेडियो आदि पुराने मूल्यों की जड़ काट रहे हैं। नई पीढ़ी ज्यादा व्यावहारिक और यथार्थवादी है इसका अर्थ यह भी है कि उसे खयाली पुलावों से बहलाया नहीं जा सकता और वह ठोस चीजें चाहती है – नौकरी और अच्छी आमदनी। यदि इस वर्ग की आशाएं पूरी न हुईं तो इसका क्षोभ वर्तमान व्यवस्था को ढहा सकता है। इसलिए अधिक से अधिक आदमियों के लिए रोजगार या काम के लिए साधन प्रस्तुत करना बहुत जरूरी है।

इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखते हुए भारत सरकार ने जनसंख्या की वृद्धि का नियमन करने के लिए बहुत बड़े पैमाने पर परिवार नियोजन का कार्य चलाया है। इसका उद्देश्य जनसंख्या की वृद्धि की दर को चालीस प्रति हजार से घटाकर पचीस प्रति हजार करना है। इस कार्यक्रम के लिए तीसरी योजना में सत्ताईस करोड़ रुपये रखे गए थे जबकि चौथी योजना में ३०० करोड़ रुपये रखे गए हैं। (१) इस कार्यक्रम में लोगों में इस बात का प्रचार किया जा रहा है कि छोटा परिवार अच्छा होता है। (२) लोगों को परिवार नियोजन की विधि बताई जा रही है (३) इसका सामान दिया जा रहा है तथा डाक्टरी सहायता दी जा रही है। (४) परिवार नियोजन कार्य के विशेषज्ञ बड़ी संख्या में तैयार किये जा रहे हैं। पर अभी यह कार्यक्रम बिल्कुल प्रारंभिक अवस्था में है और इसका असर केवल शहरों

---

२९ जोसफ लेलीवेल्ड–'इंडियान स्टुडेन्ट डिमांड ए सेफ जाब इन एस्टेब्लिशमेंट' द न्यूयार्क टाइम्स मैगजीन मई १२, १९६८। इसका कहना है कि भारतीय विद्यार्थी पुरानी व्यवस्था को उलटना नहीं चाहता, वह उसमें स्थान पाना चाहता है।

३० जोसफ डब्लू. एल्डर ने पुरानी पीढ़ी के राष्ट्रवादियों और स्वतन्त्रता के बाद की पीढ़ी के देशभक्तों में अन्तर किया है। देखें उनकी–'नेशनल लायल्टीज इन ए न्यूली इंडिपेन्डेंट नेशन'–डविड ऐप्टर सपा 'आइडियोलाजी ऐंड डिसकन्टेन्ट' (न्यूयार्क १९६४)।

महानगरों में उच्च शिक्षित लोगों की स्थिति अच्छी है पर मध्यम दर्जे के शिक्षित लोगों में बहुत बेरोजगारी है। देश भर के रोजगार दफ्तरों में दर्ज काम चाहने वालों की संख्या १९५५ में [illegible] लाख थी जबकि १९६१ में [illegible] लाख हो गई। ये भी आंकड़े [illegible] कि बराबर आए हुए आदमी इन दफ्तरों में नाम लिखाते हैं। इससे अंदाज है कि १९६१ में दस लाख से अधिक शिक्षित बेरोजगार थे और यह संख्या तेजी से बराबर बढ़ती ही जा रही है। [illegible] में रोजगार दफ्तरों में दर्ज लोगों की पड़ताल करने पर यह पता चला कि इनमें से [illegible] थे जो व्यावसायिक और प्राविधिक योग्यता प्राप्त थे, [illegible] से अधिक हाईस्कूल पास थे और [illegible] से अधिक विश्वविद्यालय के डिग्रीधारी थे (देखिए सारणी नौ-८)।

भारत में अपनी स्थिति का पता प्रतिशत आंकड़ों से नहीं लगता। प्रतिशत के हिसाब से इस बेरोजगारी का हिस्सा [illegible] जनसंख्या की चार प्र० श० से अधिक न होगा। यह स्थिति अन्य औद्योगिक देशों की तुलना में बुरी नहीं है परन्तु प्र०श० [illegible] काफी बहुत ज्यादा होती है। भारत की जनसंख्या का आधा प्रतिशत भी पच्चीस लाख होता है। बेरोजगारों की केवल एक चौथाई संख्या शहरों में रहती है। इससे स्थिति विस्फोटक नहीं होने पाई। दूसरी तरफ शहरों में बेकारी और भीड़भाड़ के कारण गांव के लोगों का शहर में आकर रोजगार पाने में दिक्कत होती है। शहरों में शिक्षित बेरोजगार बन्द और पेशाव में भाग रहे हैं। पर अभी विरोध के ये आन्दोलन असंगठित हैं और सरकार का शान्तिव्यवस्था कायम रखने का प्रबन्ध भी मजबूत है। इसलिए स्थिति हाथ से बाहर नहीं गई। खेती की प्रधानता, गांव और शहर को जोड़ने वाली कुटुंब व्यवस्था और रोजगार के अवसरों में धीमे धीमे बढ़ती के कारण अभी हालत बहुत बुरी नहीं हुई है। पर जब तक कि कारखानों की क्षमता का पूरा उपयोग नहीं होता और आर्थिक स्थिति पूरी तरह नहीं सुधरती स्थिति खतरनाक बनी रहेगी।

इधर बैंकों के राष्ट्रीयकरण और एकाधिकार की प्रवृत्तियों को रोकने तथा गरीब वर्ग को लाभ पहुंचाने की कार्रवाई की गई है उससे आर्थिक नीति में परिवर्तन की संभावना है। मगर निर्धन और वंचित वर्ग की मांगों को संतुष्ट करने का परिणाम यह न होना चाहिए कि निजी उद्यम का उत्साह मारा जाय। जिस हद तक सरकार प्रत्येक क्षेत्र के उन्नतिकामी लोगों को उत्पादक कार्यों में लगा सकेगी उस हद तक आर्थिक समस्या सुलझाने में मदद मिलेगी।

स्थिति आगे क्या होगी यह बहुत कुछ नौजवान वर्ग पर निर्भर है। सन् १९६१ में ५७.७ प्रतिशत जनसंख्या चौबीस वर्ष और उससे कम आयु की थी, ४१ प्रतिशत चौदह साल से कम आयु की थी। इसी वर्ग की शिक्षा का बेतहाशा विस्तार हुआ है। हर सात वर्ष में माध्यमिक स्कूलों के विद्यार्थियों की और हर छः वर्ष में उच्चतर स्कूलों के विद्यार्थियों की संख्या दूनी हो जाती है। शहर में आने वाले

अधिकांश लोग पन्द्रह से चौतीस वर्ष की आयु के होते है (सारणी नौ–६) इसके साथ ही यह ध्यान में रहे कि सबसे ज्यादा बेकारी कम आयु के लोगो में है (सारणी नौ–७)। इससे पता चलता है कि नई पीढ़ी का असंतोष राजनीति पर गहरा प्रभाव डालेगा। हमने देखा है कि भारत में पश्चिम की तरह नई पीढ़ी अपने बड़े-बूढ़ो का निरादर नहीं करती। इसके अलावा भारत के नौजवान प्रस्तुत व्यवस्था को उलटने के बजाय, केवल अपने लिए काम और स्थान चाहते है।[29] खेती में लाभ बढ़ने के कारण हो सकता है कि बहुत से नौजवान शहरो में काम तलाशने के बजाय खेती में लग जाये। यह भी प्रतीत होता है कि स्वतंत्रता के बाद जन्मी पीढ़ी ज्यादा यथार्थवादी है, बजाय पहले की पीढ़ी के जिनका लालन-पालन लम्बे-चौड़े आदर्श और सिद्धान्त के बीच हुआ था।[30]

मगर यह याद रहे कि आजकल की शिक्षा और अखबार, किताब फिल्म और रेडियो आदि पुराने मूल्यो की जड़ काट रहे है। नई पीढ़ी ज्यादा व्यावहारिक और यथार्थवादी है इसका अर्थ यह भी है कि उसे खयाली पुलावो से बहकाया नही जा सकता और वह ठोस चीजे चाहती है – नौकरी और अच्छी आमदनी। यदि इस वर्ग की आशाए पूरी न हुई तो इसका क्षोभ वर्तमान व्यवस्था को ढहा सकता है। इसलिए अधिक से अधिक आदमियो के लिए रोजगार या काम के लिए साधन प्रस्तुत करना बहुत जरूरी है।

इन्ही सब बातो को ध्यान में रखते हुए भारत सरकार ने जनसख्या की वृद्धि का नियमन करने के लिए बहुत बड़े पैमाने पर परिवार नियोजन का कार्य चलाया है। इसका उद्देश्य जनसख्या की वृद्धि की दर को चालीस प्रति हजार से घटाकर पचीस प्रति हजार करना है। इस कार्यक्रम के लिए तीसरी योजना में सताईस करोड़ रुपये रखे गए थे जबकि चौथी योजना में ३०० करोड़ रुपये रखे गए है। (१) इस कार्यक्रम में लोगो में इस बात का प्रचार किया जा रहा है कि छोटा परिवार अच्छा होता है। (२) लोगो को परिवार नियोजन की विधि बताई जा रही है (३) इसका सामान दिया जा रहा है तथा डाक्टरी सहायता दी जा रही है। (४) परिवार नियोजन कार्य के विशेषज्ञ बड़ी सख्या में तैयार किये जा रहे है। पर अभी यह कार्यक्रम बिल्कुल प्रारम्भिक अवस्था में है और इसका असर केवल शहरो

---

२९ नीमक लेलाफेल्ड– इडियान स्टुडेन्ट डिमाड ए सेफ जाब इन एस्टैब्लिशमेंट' द न्यूयार्क टाइम्स मैगजीन मई १२, १९६८। इसका कहना है कि भारतीय विद्यार्थी पुरानी व्यवस्था को बदलना नहीं चाहता, वह उसमें स्थान पाना चहता है।

३० नेमक टक्कू एल्डर ने पुरानी पीढ़ी के राष्ट्रवादियो और स्वतत्रता के बाद की पीढ़ी के देशभक्तों में अन्तर किया है। देखें उनकी–'नेशनल लायल्टीज इन ए न्यूली इंडिपेन्डेन्ट नेशन'–डेविड ऐप्टर मपा 'आइडियोलाजी ऐंड डिसकन्टेन्ट (न्यूयार्क १९६४)।

में और उन जिला में पडा है जहा जोरो से काम किया गया है।[31] कायक्रम की जाच पडताल से पता चला है कि अभी भी इसमें वहुत सी त्रुटिया हैं। लोगा को परिवार नियोजन की सामग्री ठीक ढग से नही मिल रही है और अच्छे कायकर्ता भी कम है। राजनीतिक नेताओ से इसे उत्साहपूवक समयन भी नही मिला है। इसका असर देर में होगा जबकि तात्कालिक समस्या का तत्काल समाधान जरूरी है।

शिक्षा का प्रभाव

आधुनिक युग में शिक्षा का महत्त्व सामाजिक और आर्थिक विकास में बहुत अधिक है। शिक्षा मनुष्य के जीवन, आकाक्षा और रुख को बदल देती है। एक तरफ यह मनुष्य को सामाजिक जीवन के लिए तैयार करती है तो दूसरी तरफ यह पुरानी परम्परा पर भी प्रहार करती है। शिक्षा से जो आकाक्षाए पदा हो जाती हैं, वे जब सतुष्ट नही होती तो समाज में निराशा का वातावरण बढता है और परिवर्तन की माग उठती है।

लोकतन्त्र की यह एक बडी समस्या है कि यह अपने सब लोगा को शिक्षा का मुक्त अवसर देने के लिए वचनबद्ध है। साथ ही उसे यह ध्यान भी रखना है कि विभिन्न प्रकार के व्यवसायो में जितने आदमी खप सकें उससे ज्यादा न प्रशिक्षित किए जावे। लेकिन शिक्षा अच्छी नौकरी और व्यवसाय पाने का साधन है। इसी लिए हर आदमी की यह आकाक्षा होती है कि वह शिक्षा प्राप्त करे और जब शिक्षा प्राप्त करने के बाद काम नही मिलता तो निराशा और क्षाभ बढता है। भारत मे यही सब देखने में आ रहा है।

भारत की मुख्य समस्या शिक्षा का धीमा विकास नही, बहुत तेज विकास ह। यह सही है कि अभी भी साक्षरता कम है (१९६१ मे २४ प्रतिशत) परन्तु १९५१ और १९६१ के बीच पढने वाले लडका की सख्या दुगुनी और लडकियो की तिगुनी हो गई।[32] माध्यमिक और उच्चतर स्कूलो मे भी हर सात और हर छ वष के बाद विद्यार्थियो की सख्या दुगुनी हो जाती है। अनुमान है कि इस गति स १९८० तक माध्यमिक स्कूला मे ८० प्र श लडके लडकिया दाखिल हो जायेंगे और कालेज या विश्वविद्यालयो मे विद्यार्थियो की सख्या कुल जनसख्या की दस प्रतिशत हो जाएगी। पढाई जारी रखने की प्रवृत्ति भी बढती जा रही। अनुमान है कि अगले दस-पन्द्रह वर्षों मे मिडिल कक्षाए पास करने वाले अधिकाश विद्यार्थी ऊची कक्षाओ मे

---

३१ महाराष्ट्र में परिवार नियोजन कार्यक्रम में बडी सफलता मिली है और वह ज्यादा सतानोत्पत्ति को निरुत्साहित करने के कई उपाय सोच रही है जैसे जिसे तीन से ज्यादा सन्तान हों उस मुफ्त या सस्ती चिकित्सा शिक्षा आदि सुविधाओं से वचित कर देना।

३२ ये सारे आंकडे, शिक्षा कमीशन १९६४-६६ की रिपोर्ट से लिए गए हैं - 'एजुकेशन ऐंड नेशनल डेवलपमेंट' (दिल्ली, १९६६)।

भरती होंगे और हाईस्कूल पास करने वाले साठ प्र श विद्यार्थी कालेजो मे नाम लिखाएंगे। जिन लोगो को एक श्रेणी की पढाई समाप्त करने पर काम नही मिलता वे आगे की श्रेणी की पढाई मे लग जाते हैं। लडकियो में शिक्षा के अत्यधिक प्रसार का यही कारण है। यदि निचले स्तर की शिक्षा समाप्त करने पर लडका को रोजगार मिलने लगेगा तो उच्च शिक्षा म भीड कम हो सकती है। लेकिन इसके खिलाफ नियोजक वग की प्रवृत्ति यह है कि वह जहा जरूरी नही है वहा भी उच्च शिक्षा या डीग्री वालो को रखना पसन्द करता है। उसका नतीजा यह होगा कि अगले तीस वर्षों म हर स्तर पर—प्रारभिक, माध्यमिक और उच्च—शिक्षा शत-प्रतिशत हो जाएगी।

शिक्षा के बेतहाशा विस्तार का नतीजा यह भी हुआ है कि उसका स्तर गिरा है और उसके व्यावसायिक बनाने पर ध्यान नही दिया जा सका है।[३३] साधारण शिक्षाप्राप्त लोगो की सख्या बहुत बढी है लेकिन विशेषज्ञा की अब भी कमी है। इसका एक नतीजा यह भी हुआ है कि लडकियो की शिक्षा पर रुपया बर्बाद हो रहा है क्योकि बहुत कम लडकिया काम-धन्धा करती है।[३४]

फिर भी दो एक क्षेत्रा मे विशेषज्ञा की भले ही कमी हो, साधारणत प्रत्येक विषय मे जरूरत से ज्यादा शिक्षित उपलब्ध है। शिक्षा-कमीशन ने इसलिए यह सिफारिश की है कि हाईस्कूल और कालेज मे भर्ती कम की जाय। फिर भी अनुमान है कि १९८६ तक हाईस्कूल पास ४० लाख और डिग्रीधारी पन्द्रह लाख विद्यार्थी फालतू होंगे। उस समय तक अनुमान है कि कालेजा मे भी ७०-८० लाख विद्यार्थी होंगे जो जरूरत से दुगुने होगे।

शिक्षा का यह विकास सही ढग से नही हुआ है। सारणी नौ-८ से पता चलेगा कि १९५०-५१ मे सबधित वय वग के जहा ६ ५ प्र श लडके मिडिल कक्षाओ

---

३३ इस विस्तार से गरीब और ग्रामीण वग को कम लाभ हुआ है और सबसे मेहनती व अच्छे विद्यार्थी इसी तबके के होते हैं। गाव के लडकों को व्यावसायिक और टेकनिकल सस्थाओं में केवल ४१ ४ प्र श स्थान मिलते हैं जबकि वे ८० प्र श हैं। इसी तरह १५० रु से कम आय के वर्ग के छात्रों को इन सस्थाओं में केवल ३० ५ प्र श स्थान मिले जबकि वे भी जन सख्या के ८० प्र श हैं।

३४ प्राइमरी में दाखिला लेने वाली लडकियों का अनुपात प्रति १०० लडके १९०१ में १२, १९५० में ३९ और १९६५ में ५१ हो गया। माध्यमिक स्तर पर ये आकडे हैं ४, १५, और २६। उच्च शिक्षा में लडकियों की प्रगति अत्यधिक है, १९०१ में इस स्तर में केवल २६४ लडकिया थीं जो १९५० में ४०,००० और १९६५ में २,४०,००० हो गइ। दूसरी तरफ, शिक्षित लडकियों को काम बहुत कम मिला। १९६१ में वैज्ञानिक और टेकनिकल कर्मचारियों की पडताल से ज्ञात हुआ कि स्त्रियों म बेरोजगारी (३१ प्र श) पुरुषों से (८ ७ प्र श) बहुत अधिक ह। मानविकी में यह अतर और भी अधिक होगा क्योंकि इस पढाई का उद्देश्य मुख्यत शादी है काम नहीं।

सरकार स्थिति को सभालने का उपाय कर रही ह। गावो के गरीबो को ज्यादा दाखिला, व्यावसायिक और शिल्पक स्कूलो मे ज्यादा भर्ती, विभिन्न प्रदेशो और गावो और शहरो में भिन्न भिन्न प्रकार की शिक्षा और उद्योगधधो की आवश्यकता के मुताबिक शिक्षा। पता चला है कि किसानो के लडके अब पढ कर गावो मे खेती व कामधधा करने में प्रवृत्त हो रहे हैं। इस प्रवृत्ति में कृषि विश्वविद्यालय का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। वर्तमान उद्योगो की पूरी क्षमता का उपयोग करने से भी शिक्षितो को काम मिलेगा। सामाजिक सेवाओ के विस्तार से (जिनमे गावो में स्कूलो का खुलना भी शामिल है) बहुत से निम्न मध्यम वर्ग के विज्ञान और मानविकी विधाओ के स्नातको को काम मिलेगा। बडे पैमाने पर गावो में स्थापत्य कार्य चालू होने से इजीनियरो का रोजगार मिलेगा। इसके अलावा बहुत से लोगो को लगन या मौसम के समय जो काम मिल जाता है, और बहुत से कामगार शहर में थोडे समय काम करके गाव लौट जाते हैं, तथा कमाई और आय परिवार की समझी जाती है एक आदमी की नही इससे भी बेकारी का दबाव कुछ कम हो जाता है। फिर भी शिक्षितो की बढती हुई सख्या (स्त्रिया भी इनमें शामिल हैं) के राजनैतिक प्रभाव की उपेक्षा नही की जानी चाहिए।[३६]

खेद है कि अभी तक शिक्षित बेरोजगारी के राजनैतिक खतरे को नही समझा गया, न इस शिक्षित जनशक्ति का विकासकार्य के लिए उपयोग किया गया, न आर्थिक योजना में ऐसे परिवर्तन किए गए, जिससे बेरोजगारी घटे। विश्वविद्यालयो का पाठ्यक्रम, अध्यापन और प्रशासन का ढाचा भी दकियानूसी चला आ रहा है। इससे नवयुवक सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन में अपना स्थान लेने के लिए तयार नही हो रहे है।

निष्कर्ष

जिन समस्याओ पर यहा विचार किया गया—उद्योगो की पूरी क्षमता का उपयोग, खेती के साधन जुटाना बेरोजगारी का उपाय करना, जनसख्या वद्धि को रोकना, और शिक्षित बेरोजगार नवयुवको को देश के विकास और परिवर्तन में लगाना—इन सबका धुधला आभास भारत सरकार को है और वह कुछ कर भी रही है। पर बहुत ढिलाई और सुस्ती से जो योजनाए स्वीकृत हो चुकी है, उनका काम भी सुस्त है। अभी अव्यवहृत क्षमता के उपयोग की बहुत गुजाइश ह। खाली बैठे शिक्षित युवको के लिए विशेष कार्यक्रम बनाए जा सकते हैं, जिससे विकास में तेजी आ सकती है। प्रशासन को पुराने सडे गले कायदो की कैद से छुडा कर उसमें तेजी लायी जा सकती है। विकास काय को चलाने वाली मशीनरी में हर

[३६] शिक्षा के प्रभाव के बारे में देखें—अलेक्स इकेल्स 'पार्टिसिपेंट सिटिजनशिप इन डेवलपिंग कट्रीज' अमे पोलि साइस रिव्यू। इसमें भारत पर भी विचार किया गया है।

मे पढते थे वहा १९६५-६६ म उनकी सख्या तिगुनी अर्थात १६ १ प्रतिशत हो गई। मगर निचली माध्यमिक व्यावसायिक कक्षाओ मे दाखिला १९५०-५१ में ३ प्र श से गिर कर १९६५-६६ में २ २ प्र श हो गया। उच्चतर माध्यमिक व्यावसायिक स्कूलो म दाखिला १९५०-५१ में ४४ प्र श से घटकर १९६५-६६ में ४० प्र श हो गया। यदि शिक्षा कमीशन की यह आशा पूरी हो भी जाए कि १९८६ तक निम्न माध्यमिक व्यावसायिक शिक्षा में २० प्र श और उच्चतर माध्यमिक कक्षाओ में ५० प्र श विद्यार्थी दाखिल होगे, तब भी व्यावसायिक शिक्षा में कुल दाखिला विद्यार्थियो के पूरे दाखिले का केवल १० प्र श ही होगा, जो कि एक औद्योगिक व्यवस्था के लिए बहुत कम है। पश्चिम जर्मनी में स्कूल में व्यावसायिक और सामान्य शिक्षा का अनुपात ७० और ३० है, जबकि जापान में ६० और ४०। भारत में विश्वविद्यालय स्तर पर व्यावसायिक शिक्षा का अनुपात १९६५-६६ मे कुल दाखिले का २३ प्र श था जो जरूरत से कम है।

लेकिन सख्या के हिसाब से उच्च व्यावसायिक शिक्षा मे भारत में उल्लेखनीय उन्नति हुई है—सन १९५०-५१ मे ५४००० से १९६५-६६ में २४६०००अर्थात १५ वर्ष में साढे चार गुनी वृद्धि। (सारणी नौ-८)। परतु समस्या यह है कि अनेक प्रकार के व्यवसाय की शिक्षा की आवश्यकता होते हुए भी, प्रशिक्षित लोगो का काम नही मिलता हाल में ४०,००० इजीनियर बेकार थे। इससे विज्ञान और इजीनियरी कालेजो मे विद्यार्थियो म घबराहट पैदा हुई और उन्होने हडताल व प्रदर्शन किए। कुछ तो बात यह थी कि दो वर्षों के सूखे के कारण १९६७ में उद्योगो में मदी आई। मगर मुख्य बात यह है कि बिना यह सोचे कि कितने जीनियरो को काम दिया जा सकता है, अधाधुध इजीनियरिंग कालेज खोल दिए गए। सितबर १९६९ तक खाली बैठे इजीनियरो की सख्या ६०,००० हो गई और अनुमान है कि दाखिला घटा देने पर भी यह सख्या १,००,००० पहुँच जाएगी। सरकार ने उच्च स्तर के टेक्निकल इस्टीट्यूट, कृषि विश्वविद्यालय शोधशालाए और सस्थान चालू किए है। शिक्षा कमीशन की सिफारिश के मुताबिक विभिन्न विषयो में ऊचे दर्जे के सस्थान भी खोले जा रहे हैं। मगर समस्या यह है कि इन सस्थानो से निकलने वालो को काम कहा से दिया जाएगा।

शिक्षा पर इतना जोर देने के बाद, उसमें कमी करना तो सभव नही। लेकिन शिक्षा के विस्तार के साथ साथ काम देने का प्रबध नही हुआ तो राजनैतिक स्थिरता खतरे में पड जाएगी। यह समस्या बडी गभीर है और इसके कारण शहरो में असतोष फैलना अवश्यभावी है।[३५]

३ सारणी नौ ४ ६ और ७ से प्रकट होगा कि शिक्षा, कम आयु वर्ग, बेकारी और शहरों का प्रभाव में ज्यादा असर है।

सरकार स्थिति को सभालने का उपाय कर रही है। गावो के गरीबो का ज्यादा दाखिला, व्यावसायिक और शिल्प स्कूलो में ज्यादा भर्ती, विभिन्न प्रदेशो और गावो और शहरो में भिन्न भिन्न प्रकार की शिक्षा और उद्योगधधो की आवश्यकता के मुताबिक शिक्षा। पता चला है कि किसानो के लडके अब पढ कर गावो में खेती व कामधधा करने में प्रवृत्त हो रहे हैं। इस प्रवृत्ति में कृषि विश्वविद्यालय का महत्व पूर्ण योग रहा है। वर्तमान उद्योगो की पूरी क्षमता का उपयोग करने से भी शिक्षितो को काम मिलेगा। सामाजिक सेवाओ के विस्तार से (जिनमे गावो में स्कूलो का खुलना भी शामिल है) बहुत से निम्न मध्यम वर्ग के विज्ञान और मानविकी शिक्षको के रोजगार का काम मिलेगा। बडे पैमाने पर गावो में स्थापत्य काम चालू होने से दस्तकारो को रोजगार मिलेगा। इसके अलावा बहुत से लोगो को फसल या मौसम के समय जो काम मिल जाता है, और बहुत से कामगार शहर में थोडे समय काम करके गाव लौट जाते हैं तथा कमाई और आय परिवार की समझी जाती है, एक आदमी की नही, इससे भी बेकारी का दबाव कुछ कम हो जाता है। फिर भी शिक्षितो की बढती हुई संख्या (स्त्रियाँ भी इसमें शामिल हैं) के राजनैतिक प्रभाव की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए।[२९]

खेद है कि अभी तक शिक्षित बेरोजगारी के राजनैतिक खतरे को नही समझा गया, न इस शिक्षित जनशक्ति का विकासकार्य के लिए उपयोग किया गया, न आर्थिक योजना में ऐसे परिवर्तन किए गए जिनसे बेरोजगारी घटे। विश्वविद्यालयो का पाठ्यक्रम, अध्यापन और प्रशासन का ढाचा भी दकियानूसी चला आ रहा है। इससे नवयुवक सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन में अपना स्थान लेने के लिए तैयार नहीं हो रहे हैं।

निष्कर्ष

जिन समस्याओ पर यहां विचार किया गया—उद्योगो की पूरी क्षमता का उपयोग, खेती के साधन जुटाना, बेरोजगारी का उपाय करना, जनसंख्या वृद्धि को रोकना और शिक्षित बेरोजगार नवयुवको का देश के विकास और परिवर्तन में लगाना—इन सबका धुधला आभास भारत सरकार को है और वह कुछ कर भी रही है। पर बहुत ढिलाई और सुस्ती से जो योजनाए स्वीकृत हो चुकी है, उनका काम भी सुस्त है। अभी अव्यवहृत क्षमता के उपयोग की बहुत गुजाइश है। खाली बैठे शिक्षित युवको के लिए विशेष कार्यक्रम बनाए जा सकते हैं, जिससे विकास में तेजी आ सकती है। प्रशासन को पुराने सडे गले कायदो की कैद से छुडा कर उसमें तेजी लायी जा सकती है। विकास कार्य को चलाने वाली मशीनरी में हर

२९ शिक्षा के प्रभाव के बारे में देखें—अलेक्स इकेल्स 'पार्टिसिपेंट सिटिजनशिप इन डेवलपिंग कंट्रीज' अमेरिकन पोलिटिकल साइंस रिव्यु। इसमें भारत पर भी विचार किया गया है।

श्रेणी पर ज्यादा योग्य आदमी लाए जाने चाहिए। पर इस ओर ध्यान भी नही दिया जा रहा है।

ऐसा लगता है कि जैसे कृषि क्राति के लिए खाद्यसकट जरूरी था, उसी तरह आगे कोई गहरा सकट आने पर ही सरकार चेतेगी। पर खतरा यह है कि मूल्य-वृद्धि से मध्यम वर्ग और श्रमिकों की वास्तविक आय बहुत घट जाए, निर्यात का माल महगा हो जाए और निर्यात घटने से, औद्योगिक उत्पादन के लिए अनिवार्य सामान का आयात न हो सके, इससे कल कारखाना का उत्पादन घटे, परिणाम स्वरूप बेकारी बढे और शहरो में असतोष व उपद्रव हो और स्थिति इतनी बिगड जाए कि वर्तमान व्यवस्था ठप हो जाए।

भारत ने अब तक हर प्रकार के सकटो का सामना करने की विलक्षण क्षमता दिखाई है, परतु इस सबक को हमेशा याद नही रखा है और सस्थापित नही किया है। तत्त्व की बात यह है कि हमारे नेतावर्ग में कितनी समझदारी और स्थिति के अनुसार अपना रवैया बदल सकने की क्षमता है।

अतरराष्ट्रीय स्थिति

अब तक हमने मुख्यत भारत की आतरिक स्थिति का ही विवेचन किया है। अब हमें अतरराष्ट्रीय सदभ में भारत की स्थिति पर भी विचार करना चाहिए क्योंकि द्वितीय युद्ध के बाद दो महाशक्तियो मे जो स्पर्धा चली और उसके कारण जो अतरराष्ट्रीय गुटबदी शुरू हुई उसका प्रभाव राष्ट्र की नीति पर पडना अनिवाय था। प्रश्न यह था कि देश कहा तक गुटो मे शामिल होने के दबाव का सामना कर सकता था और अपनी स्वतत्र नीति पर चल सकता था। इधर ससार का दो गुटो मे विभाजन भी टूटा है और भारत जैसे देशो को अपनी नीतियो पर पुनर्विचार करना पडा है।

यहा हम भारत के अतरराष्ट्रीय सबधो पर मोटे तौर पर विचार करेंगे। भारत पर विदेशी सत्ता की स्थापना के फलस्वरूप इस पर बाहरी ससार की विचारधाराओ, औद्योगिक विधियो और सस्थाओ का प्रभाव पडा और कुछ हद तक इसका भी बाहरी दुनिया पर प्रभाव पडा और वतमान म भी यह प्रक्रिया जारी है। इसके अलावा पडोस के देशो की शत्रुता और ससार मे महाशक्तियो की मोरचेबदी को देखते हुए देश की रक्षा का भी प्रश्न है। अत मे देश के आर्थिक विकास और आर्थिक नीति पर विदेशी आर्थिक सहायता और विदेश से आर्थिक सबधो का प्रभाव पडता है। इन अतरराष्ट्रीय सबधो का प्रभाव देश की आतरिक नीतियो पर भी पडता है। जैसे राजनीति मे सेना का स्थान, बाहरी देशो से लडाई का देश की एकता पर प्रभाव, रक्षा और आर्थिक विकास मे सबध, और विदेशी सहायता का केवल देश के आर्थिक विकास पर ही नहीं, राजनतिक रुख और परराष्ट्रनीति पर प्रभाव। इसके अलावा राष्ट्रीय अस्मिता, स्वाभिमान और मनोबल के बुनियादी प्रश्न भी उठते है। एक ओर हम अपनी राजनैतिक स्वतत्रता को बनाये रखना चाहते है और अतरराष्ट्रीय समाज में प्रतिष्ठा और अग्रता प्राप्त करना चाहते है, और दूसरी ओर हमें अपनी कमजोर औद्योगिक स्थिति के कारण आर्थिक रूप से दूसरो पर निभर रहना पडता है। इस दृष्टि से हमारी परराष्ट्र नीति का मुख्य

लेकिन यह आदर्शवाद खोखला न था, न राष्ट्रीय हितो के विपरीत था। नेहरू ससार की बदली हुई स्थिति की ओर लोगो से ज्यादा सजग थे। उन्होने समझा था कि द्वितीय युद्ध ने ससार की व्यवस्था बदल दी है। उन्हे इसका भान था कि जिस समय उपनिवेशवाद के शिकार देश स्वतन्त्रता प्राप्त कर रहे हैं, उसी समय उनकी स्वतन्त्रता को सबसे अधिक खतरा है। न केवल नए देशो मे अपनी आजादी की रक्षा की शक्ति न थी, बल्कि खतरा यह था कि ससार मे बडे राष्ट्रो की गुटबदी में पड कर वे उनके पुछल्ले बन जाएगे। सयुक्त राष्ट्र सघ की रचना भी नए राष्ट्रो के लिहाज से सतोषजनक न थी। इसने ऐसी व्यवस्था नही स्थापित की जिसमे प्रत्येक राष्ट्र समान रूप से स्वतन्त्र था, बल्कि इसने ससार को दो श्रेणियो मे बाट दिया, एक बडे राष्ट्रो का वर्ग और दूसरा उनके अनुयायियो या पीछे चलने वालो का। भारत को ऐसा लगा कि बडे राष्ट्र (विशेषत सवशक्तिशाली स रा अमरीका) भूमध्यसागर से लेकर बगाल की खाडी और दक्षिणी चीन सागर तक के सारे क्षेत्रो पर हावी हो जाना चाहते हैं। इसका गहरा प्रभाव भारत पर पडता था।

नेहरू इसका प्रतिरोध करना चाहते थे। पर यह सैनिक ताकत के जोर से नही हो सकता था। यह प्रतिरोध वह वैचारिक स्तर पर करना चाहते थे। वह एक नया सिद्धात प्रस्तुत करके, ससार के जनमत को प्रभावित करना चाहते थे। उन्होने जो विदेशनीति प्रस्तुत की उसके तीन उद्देश्य थे – (१) उन देशो को एक हद तक स्वतन्त्रता दिलाना जो बडे राष्ट्रो का सामना करने में असमर्थ थे (इसी से उन्होने साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के विरोध पर जोर दिया)। (२) बडे राष्ट्रो की शक्तिस्पर्धा से उत्पन्न गुटबदी को रोकना जो स रा सघ व्यवस्था के कारण उत्पन्न हुई थी (इसीलिए उन्होने फौजी गुटो का डट कर निरतर विरोध किया)। (३) और उत्तरी अफ्रीका से लेकर इडोनेशिया तक के भूभाग को बडे राष्ट्रो के दबाव से मुक्त रखना (इसी उद्देश्य से उन्होने एशियन कानफरेंस बुलाई और अफ्रीका – एशिया के राष्ट्रो के सम्मेलन शुरू किए)। उनकी यह नीति अमरीका के विरुद्ध जाती थी, इसलिए अमरीका के प्रभाव को रोकने के लिए उन्होने इस क्षेत्र में एक प्रतिवारक शक्ति के रूपमें रूस के प्रवेश की कोशिश की और भारत की स्वतन्त्रता कायम रखने के लिए पूर्व (रूस) और पश्चिम (अमरीका) की कशमकश से लाभ उठाने की कोशिश की।

डलेस की नीति को विफल करने में नेहरू की सफलता उल्लेखनीय है। अतर राष्ट्रीय नीति का इतिहास जब निष्पक्ष होकर लिखा जाएगा, तो इसे स्वीकार किया जाएगा। उनकी बाद की विफलताओ के सामने इस सफलता को भुलाना नही चाहिए। नेहरू राजनैतिक स्वतन्त्रता को वास्तविक राष्ट्रीय स्वायत्तता या आत्म-

प्रश्न या प्रयोजन देश की रक्षा और परराष्ट्र संबंध ही नहीं, आर्थिक विच्छेदन या विकास की समस्या भी है, जिसके कारण संसार में हमारी स्थिति कमजोर होती है।

नीति का विकास

जिस समय हमें आजादी मिली उस समय संसार की स्थिति में यह स्वाभाविक था कि देश जवाहरलाल नेहरू की नीति अपनाए। संसार दो गुटों में बंटा हुआ था। एशिया और अफ्रीका में नए राष्ट्रों का उदय हो रहा था। हमारे सामने देश की राजनैतिक व्यवस्था को दृढ़ करने और परिवर्तन लाने की भारी समस्या थी। इसके लिए जरूरी था कि हम जहां तक हो सके बाहरी उलझनों से दूर रहें और अपने घर में दीया जलाकर मस्जिद में दीया जलाएं। हमारा लक्ष्य विश्वशांति, पराधीन राष्ट्रों की आजादी, पश्चिमी लोकतन्त्रों से संबंध और साथ ही अंतरराष्ट्रीय गुटबंदी और झगड़ों से दूर रहने का था। यद्यपि प्रथम विश्वयुद्ध के समय राष्ट्रीय कांग्रेस ने पश्चिमी राष्ट्रों का साथ दिया था और उसको सैनिक सहायता देने का समर्थन किया था, लेकिन दूसरे और तीसरे दशक में इस रुख में परिवर्तन हो गया। कांग्रेस ने अब खुलकर सब देशों की आजादी और आत्मनिर्णय के अधिकार का समर्थन किया। भारत का युवक वर्ग मार्क्सवाद और कम्युनिस्ट आंदोलन की ओर आकृष्ट हुआ। कुछ प्रमुख भारतीयों ने एशियाई देशों को कम्युनिस्ट इंटरनेशनल में शामिल करने का यत्न किया।[1] नेहरू ने एशिया और अफ्रीका के नव स्वतन्त्र देशों का नेतृत्व करने का भी प्रयत्न किया।

स्वतन्त्रता के पहले के दशकों में और बाद के वर्षों में भारत का रुख, १९वीं सदी के पुनर्जागरण और उदारता के आंदोलन से प्रभावित था। भारत का विश्व बंधुत्व जो अब तक दबा था अब प्रकट हो रहा था। नेहरू के शब्दों में भारत की स्वतन्त्रता का आगमन ऐसी घड़ी थी जो संसार में कभी कभी ही आती है। यह वह घड़ी थी, जब हम पुराने युग से नए युग में कदम रखते हैं, जब एक युग का अंत होता है और चिरकाल से रुद्ध राष्ट्र की आत्मा बोल पड़ती है। परिणाम स्वरूप भारत ने विश्व और उसकी समस्याओं के प्रति एक आदर्शवाद और आशावाद का रुख अपनाया, जो संसार की वास्तविकता और अंतरराष्ट्रीय संबंधों में व्याप्त अवसरवादिता और स्वार्थपरता के विपरीत था।

---

१ इनमें प्रमुख थे एम एन राय जो लेनिन के घनिष्ठ सहयोगी थे और एशिया में कम्युनिस्ट संगठन के कार्य थे। देखें—जान ट आवरस्ट्रीट ऐन्ड मार्शल विन्डमिलर—'कम्युनिज्म इन इण्डिया' (बर्कले १९५९)।

लेकिन यह भादशवाद खोखला न था, न राष्ट्रीय हितो के विपरीत था। नेहरू ससार की बदली हुई स्थिति की ओर लोगो से ज्यादा समझत थे। उन्होने समझा था कि द्वितीय युद्ध ने ससार की व्यवस्था बदल दी ह। उन्हे इसका भान था कि जिस समय उपनिवेशवाद के शिकार देश स्वतत्रता प्राप्त कर रहे हैं, उसी समय उनकी स्वतत्रता को सबस अधिक खतरा है। न केवल नए देशो मे अपनी आजादी की रक्षा की शक्ति न थी, बल्कि खतरा यह था कि ससार में बडे राष्ट्रो की गुट-बन्दी में पड कर वे उनके पुछल्ले बन जाएगे। सयुक्त राष्ट्र सघ की रचना भी नए राष्ट्रो के लिहाज से सतोषजनक न थी। इसने ऐसी व्यवस्था नही स्थापित की जिसमें प्रत्येक राष्ट्र समान रूप से स्वतत्र था, बल्कि इसने ससार को दो श्रेणियो म बाँट दिया, एक बडे राष्ट्रो का वग और दूसरा उनके अनुयायियो या पीछे चलने वालो का। भारत को ऐसा लगा कि बडे राष्ट्र (विशेषत सवशक्तिशाली स रा अमरीका) भूमध्यसागर से लेकर बगाल की खाडी और दक्षिणी चीन सागर तक के सारे क्षेत्रो पर हावी हो जाना चाहते हैं। इसका गहरा प्रभाव भारत पर पडता था।

नेहरू इसका प्रतिरोध करना चाहते थे। पर यह सैनिक ताकत के जोर से नही हो सकता था। यह प्रतिरोध वह वैचारिक स्तर पर करना चाहते थे। वह एक नया सिद्धात प्रस्तुत करके, ससार के जनमत को प्रभावित करना चाहते थे। उन्होने जो विदशनीति प्रस्तुत की उसके तीन उद्देश्य थे – (१) उन देशो को एक हद तक स्वतत्रता दिलाना जो बडे राष्ट्रो का सामना करने मे असमथ थे (इसी मे उन्होने साम्राज्यवाद और उपनिवशवाद के विरोध पर जोर दिया)। (२) बडे राष्ट्रो की शक्तिस्पधा मे उत्पन्न गुटबदी को रोकना जो स रा सघ व्यवस्था के कारण उत्पन्न हुई थी (इसीलिए उन्होने फौजी गुटो का डट कर निरतर विरोध किया)। (३) और उत्तरी अफ्रीका मे लेकर इडोनेशिया तक के भूभाग को बडे राष्ट्रो के दबाव से मुक्त रखना (इसी उद्देश्य से उन्होने एशियन कानफरेंस बुलाई और अफ्रीका – एशिया के राष्ट्रो के सम्मेलन शुरू किए)। उनकी यह नीति अमरीका के विरुद्ध जाती थी, इसलिए अमरीका के प्रभाव को रोकने के लिए उन्होने इस क्षेत्र में एक प्रतिकारक शक्ति के रूपमें रूस के प्रवेश की कोशिश की और भारत की स्वतत्रता कायम रखने के लिए पूव (रूस) आर पश्चिम (अमरीका) की कशमकश से लाभ उठाने की कोशिश की।

डलेस की नीति को विफल करने म नेहरू की सफलता उल्लेखनीय है। अतर-राष्ट्रीय नीति का इतिहास जब निष्पक्ष होकर लिखा जाएगा, तो इसे स्वीकार किया जाएगा। उनकी बाद की विफलताओ के सामने इस सफलता को भुलाना नही चाहिए। नेहरू राजनैतिक स्वतत्रता को वास्तविक राष्ट्रीय स्वायत्तता या आत्म-

निभरता में बदलना चाहते थे। यही उनका मुख्य लक्ष्य था। और अन्य आनुषागिक थे जैसे पडोस और देश मे शांति रखना तथा पश्चिम और पूर्व के देशों से आर्थिक सहायता प्राप्त करना।

नेहरू की यह नीति ससार की स्थिति मे उनकी गहरी पैठ पर आधारित थी। सबसे पहले नेहरू ने विश्व की बदली स्थिति का समझा और इस एतिहासिक सिद्धान्त का उदघोष किया कि, उपनिवेशवाद के दिन पूरे हो चुके है। नेहरू ही सबसे पहले गैर कम्युनिस्ट नेता थे जिन्होंने ससार का ध्यान सोवियत संघ की ठोस सफलताओ की ओर खींचा और १९२७ में ही सोवियत रूस की पहली यात्रा के के बाद इस तथ्य का उद्घोष किया कि तकनीकी प्रगति के साथ सोवियत रूस में यह माग उठेगी कि उसकी आतरिक नीति और व्यवस्था उदार बनायी जाए, दूसरे देशो के प्रति व्यावहारिक नीति अपनायी जाए और स० रा० अमरीका से मेल किया जाए। भारत ही पहला गैरकम्युनिस्ट देश था, जिसने सोवियत नेताओ का दूसरे देशों की यात्रा करने का निमत्रण दिया और यह यात्रा भारत से ही शुरू हुई। बाद में पश्चिमी देशों ने भी अनुकरण किया। इस बात में तथ्य है कि ख्रुश्चोफ ने दूसरे देशो की जो यात्रा की, उसी के फलस्वरूप रूस के रुख में नरमी आयी। इसी तरह दूसरो से बहुत पहले नेहरू ने इस बात को लक्ष्य किया कि सोवियत रूस और चीन के हितो में टक्कर अनिवार्य है, कम्युनिज्म से राष्ट्रवाद ज्यादा शक्तिशाली है और कम्युनिज्म के भी कई रूप हो सकते हैं। अपनी इन्हा धारणाओ के आधार पर नेहरू ने परस्पर विरोधी व्यवस्थाओ के शांतिपूर्ण सह अस्तित्व का सिद्धात प्रस्तुत किया, परमाणु शस्त्रो के निर्माण पर नियत्रण (यदि रोक सभव न हो तो) का आग्रह किया, गुटो से अलग रहने की नीति का प्रतिपादन किया और कहा कि विकसित देश अविकसित देशों की सहायता देने में राजनैतिक शर्त न लगाए।[2]

गुटो से पृथकता

नेहरू का कहना था कि उनकी गुटो से अलग रहने की नीति कोरी सैद्धांतिक या आदर्शवादी नीति नहीं थी, बल्कि राष्ट्र के हित पर आधारित थी। भारत को पूर्वी और पश्चिमी दोनो दलो की मित्रता की दरकार थी। वह नहीं चाहता था कि उसके घरेलू मामलो में बाहर से हस्तक्षेप हो और उसने यह अनुभव कर लिया था कि देश की राजनतिक स्वायत्तता और पुनर्निर्माण के लिए जरूरी है कि बाहरी शक्तियाँ इस प्रदेश में पैर न जमाने पाए। इसी नीति के अनुसार नेहरू ने भारत के आर्थिक विकास के लिए सपन्न देशो से सहायता हासिल करने का

२ माइकेल ब्रीचर - 'नेहरू ए पोलिटिकल बायोग्राफी' (यूपार्क १९५९)।

यत्न किया। अपने उत्तर की दो महाशक्तियों चीन और रूस से संघर्ष बचाया, नए देशों से मित्रता की और अंतरराष्ट्रीय परिषदों में उनकी पैरवी की।

इसी नीति के तहत भारत की स्वतंत्रता के थोड़े ही दिनों बाद सन १९४८ में नेहरू ने नई दिल्ली में प्रथम एशियाई सम्मेलन किया, जिसमें हॉलैंड की अधीनता से इंडोनेशिया की आजादी का समर्थन किया गया। १९५५ में बांडुंग सम्मेलन में भारत ने प्रमुख भाग लिया। १९५६ में चीन के साथ पंचशील संधि हुई। भारत ने १९५५ में स्वेज युद्ध के समय मिश्र का प्रबल समर्थन किया और फ्रांस के विरुद्ध अलजीरिया का पक्ष लिया, कोरिया में युद्धविराम और युद्धबंदियों की अदला बदली कराने में तथा हिंद चीन और लाओस के मामले में जिनेवा सम्मेलन कराने में प्रमुख भाग लिया। कांगो में गृहयुद्ध खतम करने के लिए संयुक्त राष्ट्रसेना में भारतीय दस्ते भेजे। सं० रा० संघ में चीन को स्थान दिलाने का निरंतर समर्थन किया। सन १९६१ में बेलग्राड में हुए गुटमुक्त देशों के सम्मेलन में भारत ने मिश्र और युगोस्लाविया के साथ मिल कर सम्मेलन को गुटबंदी से बचाया।[3]

तुरंत आजाद हुए देश के लिए विश्व के मामलों में इतना हिस्सा लेना मामूली बात नहीं। भारत ने गुटों से अलग रहने के साथ ही साम्राज्यवादविरोधी आंदोलन का सक्रिय समर्थन किया। पश्चिमी देशों के मुकाबले गुटमुक्त और समाजवादी देशों की ओर भारत का झुकाव ज्यादा रहा और उसकी भावनाओं का उसने अधिक ध्यान रखा, इसलिए उसकी नीति में कुछ दुरंगापन आ गया और कुछ देशों में गलतफहमी पैदा हुई[4]। बाद में जब सीमाओं पर खतरा पैदा हुआ और विदेशी ऋण का बोझ बढ़ा, तब इस नीति की कड़ी परीक्षा हुई। फिर भी भारत ने यही कोशिश की कि उसका पल्ला किसी एक गुट से न बंधने पाए। और अंत में जब नीति पर पुनर्विचार का समय आया, तब तक दुनिया की हालत बदल चुकी थी और पुरानी गुटबंदियां बहुत कुछ टूट चुकी थीं।

गुटों से अलग रहने की इस नीति से भारत को लाभ भी हुआ। इसके कारण उसे देश का एकीकरण करने, देशी रियासतों को मिलाने, नेपाल, भूटान, सिक्किम आदि के साथ संबंध मजबूत करने का समय मिला। वह कश्मीर को भी रख सका और पश्चिमी राष्ट्रों की आलोचना के बावजूद १९६१ में गोआ को पुर्तगाल

३ बेलग्राड सम्मेलन में इंडोनेशिया, माली, घाना और क्यूबा जैसे राष्ट्र बड़ी उग्र नीति के समर्थक थे और नरम रुख वाले देशों को अलग करना चाहते थे। नेहरू और कुछ अन्य लोग सम्मेलन को और व्यापक रूप देना चाहते थे और दुनिया भर के राष्ट्रों को स्थान देने के समर्थक थे। नेहरू के प्रभाव से मिस्र और युगोस्लाविया ने इस रुख का समर्थन किया और इसी की जीत हुई।

४ यह कहना पड़ेगा कि समाजवादी देशों ने गुटमुक्त नीति का पूरा समर्थन किया जबकि पश्चिमी राष्ट्रों का रुख उपहास और विरोध का रहा।

से मुक्त कर सका, कामनवेल्थ में भी बना रहा और नए देशों का पक्ष समर्थन करके उनका आदर पा सका, दोनों गुटों से आर्थिक सहायता पा सका और अपना फौजी खर्च कम रखकर, विकास के काम में रुपया लगा सका। सब मिला कर इस नीति के कारण उसे देश के साधनों का संगठन करने में काफी सुभीता हुआ।

राष्ट्रीय एकता को चुनौती

पर इस क्रम में चार कारणों से बाधा आयी। एक थी शीतयुद्ध की नीति, दूसरी सीमा का प्रश्न जो अंगरेजी जमाने की विरासत थी, तीसरी कश्मीर का समस्या और चौथी आर्थिक आयोजन की समस्या।[५]

सबसे पहली बाधा पड़ी संयुक्त राज्य अमरीका के विदेश मंत्री डलेस की कम्युनिस्ट शक्ति को रोकने के लिए दुनिया भर में फौजी अड्डे कायम करने के लिए फौजी संधि की नीति से। पाकिस्तान के सी टो और सेंटो फौजी संधि में शामिल होने से भारत के दोनों ओर फौजी अड्डे कायम हो गए और पाकिस्तान से खतरा पैदा हो गया।

शीतयुद्ध की लपेट

भारत ने डलेस की इस नीति का और पाकिस्तान को इसके अन्तर्गत हथियार देने का घोर विरोध किया, पर उसकी एक न सुनी गयी। फलस्वरूप पाकिस्तान की ओर से संभावित खतरे का मुकाबला करने के लिए भारत ने कई कदम उठाये। एक था फौजी तैयारी (१९५८ से पहले भारत का फौजी खर्च २०० करोड़ के आसपास रहता था, अब यह ५० प्र० श० बढ़ गया और आगे भी लगातार बढ़ता गया)। दूसरा कदम था रूससे संबंध बढ़ाना, इससे भारत की स्थिति मजबूत हुई आर्थिक सहायता का एक और स्रोत खुला, और कश्मीर के मामले में उसका समर्थन मिला। इससे भी महत्वपूर्ण और दूरगामी परिणाम का कदम था, चीन से समझौता, जिसके अंतर्गत तिब्बत पर चीन का अधिकार मानना पड़ा और वहां भारत के विशेष अधिकार छोड़ने पड़े। हथियारों में विदेशों पर निर्भरता घटाने के लिए भारत ने अपने यहां हथियारों का निर्माण बढ़ाया। इन सबके कारण भारत को रुख बदलना पड़ा। अमेरिकाने पाकिस्तान को हथियार देकर भारत के लिए जो खतरा उत्पन्न कर दिया था और इस क्षेत्र को शीतयुद्ध में लपेट दिया था, उसका बचाव करने के लिए भारत को सोवियत रूस और चीन, अपने दो शक्तिशाली पड़ोसी देशों, से साथ संबंध बढ़ाना पड़ा।

५ विलियम ज. बार्न्स—'इंडिया इन द्विनिशन प्रॉस्पेक्ट्स एंड नेबर्स' फा. अर ४६, ३, अप्रैल, १९६८।

सीमा युद्ध

दूसरी समस्या जो सबसे गभीर है आर जिसके कारण भारत का सबसे ज्यादा जिल्लत उठानी पडी है, उत्तरी और उत्तर पूर्वी सीमा की समस्या है । चीन का कहना है कि यह सीमा कभी स्पष्ट रूपस निर्धारित नही हुई और वह अग्रेजा के वक्त की साम्राज्यवादी सीमा सधियो का नही मानता ।[६] शीतयुद्ध के प्रतिकार के उद्देश्य से भारत ने चीन से मित्रता की नीति अपनायी थी । परतु एक ओर चीन का व्यवहार कुटिल था, और वह साफ साफ बात नही करता था, दूसरी ओर भारत की प्रवृत्ति अप्रिय या कटु यथाथ से आख चुराने की थी । इसलिए दोना में गलतफहमी बढ़ती गई ।

१६५६ म तिब्बत मे विद्रोह के बाद विरोध स्पष्ट हो गया । चीन से तिब्बत का सीधा रास्ता बडा दुगम था इसलिए उसे एक और रास्ते की जरूरत पडी (अक्साई चीन होकर लद्दाख से) । तिब्बत में चीन के अत्याचार के कारण भारत का जन मत चीन के खिलाफ हो गया था । सीमा के मामले में चीन का अब तक जो दुरगा व्यवहार रहा आर जिस प्रकार उसने नक्शा में भारतीय इलाका का अपनी ओर दिखाया, उससे उसके साथ सीमा के मामले म कोई रियायत भारत की ससद को स्वीकार न होती । चीन का कहना था कि तिब्बत के मामले में भारत अगरेजा की चाल चल रहा है । घटनाआ पर पुनर्विचार करने से अब ऐसा लगता है कि १६५४ में ही जब तिब्बत में चीन का प्रवेश हुआ या १६५०-५८ में जब चीन लद्दाख में अक्साई चीन के बदले उत्तरपूव में मैकमहान रखा को मानने को तैयार था समझौता हा सकता था । लेकिन चीन ने टेढी चाले चलनी शुरू कर दी, भारतीय प्रदेश को चीन के नक्शे मे दिखाना, चुपके चुपके अक्साई चीन से सडक निकालना और सीमा पर झडप करना । भारत ने जवाबी कारवाई देर से शुरू की । उसने धीमे धीमे सीमा पर फाजी प्रबध बढाना शुरू किया और १६६१-६२ में लद्दाख में अग्रिम चाकिया कायम की । अप्रैल १६६० मे दिल्ली में जब चाऊ एन लाई ने नेहरूजी से भेंट की, तभी उन्होने उपर्युक्त समझौते का (अक्साई चीन के बदले मैकमहान रेखा मानने का) प्रस्ताव किया पर तब तक समय निकल चुका था । सीमा पर झडपे हा चुकी थी और चीन ने (लद्दाख में भारत के बढाव) और नहरूजी के 'चीनिया का बाहर धकेल दो' वाले वक्तव्य से बिगड कर भारत पर भारी आक्रमण कर दिया । असभव नही है कि मित्रता के दिखावे और भाईचारे के नाटक ने भी व्यावहारिक समझौते के माग में बाधा डाली ।

इस अचानक आक्रमण में भारत की हार हुई और चीन से उसकी दुश्मनी हो गई । जिस प्रकार चीनी लद्दाख मे विवादग्रस्त सीमा के आगे के इलाके से हट गए

६ च्यांग काइ शेक और उनकी सरकार का भी यदा रख है ।

भारत-पाकिस्तान युद्ध

भारत का डर था कि अमेरिका से जो आधुनिक हथियार पाकिस्तान को मिले हैं उनका प्रयोग एक दिन भारत के विरुद्ध होगा। १९६३ मे चीन और पाकिस्तान में सीमा समझौता हुआ जो भारत के विरुद्ध गठबंधन का सूचक था। यह आशका १९६५ मे सत्य हुई। अप्रैल मे पहली घटना हुई। पाकिस्तान ने कच्छ-सिंध सीमा पर भारत की चौकियों पर हमला किया। उसने १६ बटालियन सेना और अमेरिका से मिले टैंक तथा अमेरिका और ब्रिटेन से मिले अन्य हथियारों का प्रयोग किया।[७] तीस जून को ब्रिटिश प्रधान मंत्री की मध्यस्थता से युद्ध-विराम हो गया और कच्छ की सीमा का विवाद तीन जजों की अंतरराष्ट्रीय पंचायत को सौंपने का समझौता हुआ। दोनों देशों ने इसका निर्णय स्वीकार करने का वचन दिया।[८]

पर पांच अगस्त १९६५ को कश्मीर में युद्ध विराम सीमा को पार करके पाकिस्तानी हथियारबंद उपद्रवियों ने घुस-पैठ की।[९] इसके बाद पाकिस्तानी सेना ने अन्तरराष्ट्रीय सीमा पार करके छम्ब पर आक्रमण किया, इसके जवाब में भारतीय सेनाओं ने पश्चिमी पाकिस्तान की सीमा के पार आक्रमण किया। भारतीय सैनिकों ने पाकिस्तानी अधिकृत कश्मीर में हाजीपीर दर्रा और अन्य पाकिस्तानी चौकियों पर भी कब्जा कर लिया। युद्ध पचास दिन चला। पाकिस्तान ने अमेरिकन ब्रिटिश और जर्मन हथियारों और टैंकों का प्रयोग किया पर भारतीयों ने आक्रमण को पीछे धकेल दिया। भारत की स्थल और हवाई सेना ने अपने से कहीं ज्यादा अच्छे अमेरिकन विमानों और टैंकों का मुकाबला भारत में बने हथियारों और लड़ाकू विमानों से किया और उन्हें गहरी मात दी। भारतीय सेनानायकों ने युद्ध-कुशलता दिखाई और लाहौर पर आक्रमण करके पाकिस्तान को अनचिक्के में डाल दिया।

भारत के नेताओं ने भी बड़ी हिम्मत और धीरज से काम लिया। १६ सितम्बर को चीन ने अल्टीमेटम दिया कि भारत सिक्किम की सीमा पर अपनी मोर्चेबंदी तीन दिन के अन्दर हटा दे वरना वह आक्रमण कर देगा। चीन ने यह भी आरोप

---

७ प्रे अयूब खा ने रेडियो से ४ मई १९६५ को स्वयं स्वीकार किया। घटनाओं के विवरण के लिए देखें इन्डिया १९६६ (दिल्ली १९६६)।

८ यह निर्णय घोषित हो गया और भारत ने इसे स्वीकार भी कर लिया यद्यपि दक्षिण पक्ष द्वारा इसका घोर विरोध किया गया। पाकिस्तान ने भी इसे स्वीकारा।

९ १९४७ में कश्मीर के भारत में मिलने के प्रश्न पर पाकिस्तान से भारत का संघर्ष हुआ। भारत ने इस विवाद को संयुक्त राष्ट्र संघ में पेश किया और उसकी मध्यस्थता में जन १९४९ को युद्ध विराम हुआ। युद्धविराम-रेखा ही तब से दोनों देशों के बीच कश्मीर की विभाजन-रेखा हो गयी। इस विषय के सविस्तर वर्णन के लिए देखें शिशिर गुप्त, 'कश्मीर ए स्टडी इन इन्डिया पाकि रिलेशन्स' (बंबई १९६६)।

और बाद म नेफा मे भी हट और इसके पहले सीमा के बारे में उन्होने प्रस्ताव किए थे, इससे पता चलता है कि चीन का इरादा सीमित था परतु इस आक्रमण के बाद निकट भविष्य में किसी सम्मानजनक समझौते की आशा न रही।

इस पराजय से भारत को गहरा धक्का लगा और उसकी आखें खुल गइ। जैसा कि नेहरू ने कहा भारत अब पहले जैसा कभी नही हो सकता।' भारत को अपनी रक्षा का प्रबध बढाना पडा। १९६२–६३ म उसकी रक्षा का बजट ३०० करोड रुपया था जो अगले वर्षों म ८००–९०० करोड रुपया हो गया। अब यह १००० करोड रुपया है जो कुल राष्ट्रीय उत्पादन का पाच प्रतिशत होता है। यद्यपि रक्षा सबधी व्यय से भी कारखानो के उत्पादन को कुछ प्रोत्साहन मिलता है परतु इसमें कोइ सन्देह नही कि देश की दो हजार मील लबी सीमा की रक्षा के नाम से दूसरे विकास कार्यों म बाधा पडी है और मुद्रास्फीति हुई है। इसके अलावा देश को चीन और पाकिस्तान की ओर से हमेशा खटका लगा रहता है और देश के अन्दर भी वामपथी कम्युनिस्टो और अनेक मुस्लिम दलो पर चीन और पाकिस्तान का समर्थक होने का सन्देह किया जाता है।

पर चीन के आक्रमण से लाभ भी हुआ। देश भर म देशप्रेम की लहर दौड गई। देश की रक्षा के लिए धन और जन देने की होड लग गई और राष्ट्र में एकता बढी। देश की परराष्ट्र नीति में वास्तविकता और व्यावहारिकता आई और रक्षा-व्यवस्था को मजबूत करने का सकल्प किया गया। देश में सकट की स्थिति की घोषणा कर दी गई। मालिको और मजदूरो में औद्योगिक शाति रखने का समझौता हुआ जिससे कारखाने जोरो से चल सकें। रक्षा के लिए बचत की योजनाए चालू की गइ और फौजी महत्व के कारखाने तजी से खोले गए।

बाहर भी लोकतत्रीय और गुटो से अलग देशो म (इडोनेशिया को छोडकर) भारत के प्रति सहानुभूति उत्पन्न हुई। भारत का सबसे जोरो से समर्थन मिस्र यूगोस्लाविया और मलाया ने किया। मलाया में लोकतत्र रक्षा कोष खोला गया। कोलम्बो देशो ने (लका, घाना बर्मा, इडोनेशिया और मिश्र) समझौते का प्रयत्न किया। भारत ने उनका प्रस्ताव पूरी तरह स्वीकार कर लिया, पर चीन ने केवल सिद्धात रूप म पश्चिमी देशो ने खासकर सयुक्त राज्य, ब्रिटेन और कनाडा ने भारत को तुरत अस्त्रशस्त्र की सहायता दी। इन देशो से और सोवियत रूस से भी हथियार और फौजी सहायता लेने के लिए दीर्घकालिक समझौते किए गए। आर्थिक सहायता की तरह फौजी सहायता भी दोनो गुटो से लेने की नीति अपनाई गई। भारत ने यह कोशिश की कि उसके विरुद्ध रूस और चीन का गुट न बनने पाए, साथ ही भारत में भी आधुनिक हथियार लडाकू विमान बेतार यन्त्र और राडार का निर्माण तेजी से बढाया गया और रक्षाउत्पादन का विभाग खोला गया। यह तैयारी १९६५ म पाकिस्तान से युद्ध के समय बहुत काम आई।

भारत–पाकिस्तान युद्ध

भारत का डर था कि अमेरिका से जो आधुनिक हथियार पाकिस्तान को मिले हैं उनका प्रयोग एक दिन भारत के विरुद्ध होगा। १९६३ मे चीन और पाकिस्तान में सीमा समझौता हुआ जो भारत के विरुद्ध गठबंधन का सूचक था। यह आशका १९६५ में सत्य हुई। अप्रैल में पहली घटना हुई। पाकिस्तान ने कच्छ-सिंध सीमा पर भारत की चौकियों पर हमला किया। उसने १६ बटालियन सेना और अमेरिका से मिले टैंक तथा अमेरिका और ब्रिटेन से मिले अन्य हथियारों का प्रयोग किया।[७] तीस जून को ब्रिटिश प्रधान मंत्री की मध्यस्थता में युद्ध–विराम हो गया और कच्छ की सीमा का विवाद तीन जजों की अन्तरराष्ट्रीय पंचायत को सौंपने का समझौता हुआ। दोनों देशों ने इसका निर्णय स्वीकार करने का वचन दिया।[८]

पर पांच अगस्त १९६५ को कश्मीर में युद्ध विराम सीमा को पार करके पाकिस्तानी हथियारबंद उपद्रवियों ने घुस–पैठ की।[९] इसके बाद पाकिस्तानी सेना ने *अन्तरराष्ट्रीय सीमा पार करके छम्ब पर आक्रमण किया, इसके जवाब में भारतीय* सेनाओं ने पश्चिमी पाकिस्तान की सीमा के पार आक्रमण किया। भारतीय सैनिकों ने पाकिस्तानी अधिकृत कश्मीर में हाजीपीर दर्रा और अन्य पाकिस्तानी चौकियों पर भी कब्जा कर लिया। युद्ध पचास दिन चला। पाकिस्तान ने अमेरिकन ब्रिटिश और जर्मन हथियारों और टैंकों का प्रयोग किया पर भारतीयों ने आक्रमण को पीछे धकेल दिया। भारत की स्थल और हवाई सेना ने अपने से कहीं ज्यादा अच्छे *अमेरिकन विमानों और टैंकों का मुकाबला भारत में बने हथियारों और लडाकू* विमानों से किया और उन्हें गहरी मात दी। भारतीय सेनानायकों ने युद्ध–कुशलता दिखाई और लाहौर पर आक्रमण करके पाकिस्तान को अनचिक्के में डाल दिया।

भारत के नेताओं ने भी बडी हिम्मत और धीरज से काम लिया। १६ सितम्बर को चीन ने अल्टीमेटम दिया कि भारत सिक्किम की सीमा पर अपनी मोर्चेबंदी तीन दिन के अन्दर हटा दे वरना वह आक्रमण कर देगा। चीन ने यह भी आरोप

७ प्रे अयूब खां ने इसे ४ मई १९६५ को स्वय स्वीकार किया। घटनाओं के विवरण के लिए देखें, इंडिया १९६६ (दिल्ली १९६६)।

८ यह निर्णय घोषित हो गया और भारत ने इसे स्वीकार भी कर लिया यद्यपि दक्षिण पक्ष द्वारा इसका घोर विरोध किया गया। पाकिस्तान ने भी इसे स्वीकारा।

९ १९४७ में कश्मीर के भारत में मिलने के प्रश्न पर पाकिस्तान से भारत का संघर्ष हुआ। भारत ने इस विवाद को संयुक्त राष्ट्र संघ में पेश किया और उसकी मध्यस्थता में जन १९४९ को युद्ध विराम हुआ। युद्धविराम-रेखा ही तब से दोनों देशों के बीच कश्मीर की विभाजन-रेखा हो गयी। इस विषय के सविस्तार वर्णन के लिए देखें शिशिर गुप्त कश्मीर ए स्टडी इन इंडिया पाकि रिलेशंस' (बंबई १९६६)।

लगाया कि भारत ने सीमा पार करके उसके कुछ नागरिकों और जानवरों का अपहरण किया है और उन्हें फौरन लौटा दिया जाये। प्रधानमंत्री लालबहादुर शास्त्री ने चीन की धमकी के आगे झुकने से इन्कार किया और कहा कि सीमा का संयुक्त निरीक्षण कर लिया जाय। चीन की यह कोरी धमकी थी और भारत की दृढ़ता से इसकी पोल खुल गई। नई दिल्ली की जनता ने चीन के दूतावास पर जाकर उस भेड़ों का एक झुण्ड पेश किया पर चीनी अधिकारियों ने भेंट को स्वीकार न किया।

अन्त में संयुक्त राष्ट्र के महामंत्री ऊ थांट की कोशिश और सोवियत रूस के बीच में पड़ने से और ताशकन्द में पाकिस्तान के सदर अयूब खां और भारत के प्रधानमंत्री की मुलाकात का प्रबन्ध करने के कारण २३ सितंबर १९६५ को दोनों देशों में युद्ध-विराम हो गया। इसे लेकर १० जनवरी तक ताशकन्द में दोनों नेताओं में बातचीत हुई और ताशकन्द समझौते पर दस्तखत हुए। इसमें यह तय हुआ कि दोनों पांच अगस्त के पहले की स्थिति पर वापस लौट जायेंगे, एक-दूसरे के मामले में हस्तक्षेप न करेंगे। आर्थिक और दूतसम्बन्ध फिर से कायम करेंगे और संयुक्त राष्ट्र के घोषणापत्र के सिद्धान्तों के अनुसार आपसी झगड़ों को बातचीत से हल करेंगे और हिंसा से काम न लेंगे। इस समझौते में रूस का मुख्य हाथ था। यद्यपि लालबहादुर शास्त्री का देहांत अचानक समझौते पर दस्तखत होने के दूसरे दिन हो गया पर समझौते पर अमल किया गया और पाकिस्तानी कब्जे के कश्मीर में हाजीपीर की चौकी छोड़ने का भारत में बहुत विरोध हुआ, फिर भी भारत ने इसे छोड़ दिया। इसी तरह भारत ने दक्षिणपंथी दलों के विरोध के बावजूद कच्छ निर्णय को स्वीकार किया यद्यपि यह उसके कुछ खिलाफ जाता था।

दोनों देशों की सीमाओं पर अब भी झड़पें हो जाती हैं, लेकिन स्थिति ज्यादा बिगड़ने नहीं दी जाती। संचार और व्यापार चालू करने के बारे में बातचीत हुई है। दोनों ओर के फौजी तथा अन्य अधिकारियों में बातचीत होती है। प्रधानमंत्री ने पाकिस्तानी अधिकृत इलाके में मंगला बांध का निर्माण पूरा होने पर सदर अयूब खां को बधाई भेजकर सद्भावना का हाथ बढ़ाया है। उनकी इस कारवाई की संसद में गहरी निंदा हुई, किंतु यह इस बात का इशारा है कि सरकार युद्ध विराम रेखा के आधार पर कश्मीर का बंटवारा मानने को तैयार है।

अंतरराष्ट्रीय स्थिति में परिवर्तन

पाकिस्तान से युद्ध में सफलता से भारत का हौसला काफी बढ़ा, क्योंकि अच्छे अमरीकी हथियारों और टैंकों के बावजूद भारत ने पाकिस्तान को पीछे ढकेल दिया लेकिन युद्ध का दाम भी भारी चुकाना पड़ा। पाकिस्तान से युद्ध के कारण

न केवल देश में हिंदूमुस्लिम तनाव बढता ह बल्कि इससे अतरराष्ट्रीय पेंच भी पदा होते हैं। इस युद्ध का प्रभाव न केवल भारत और पाकिस्तान पर ही पडा बल्कि अमरीका आर रूस को भी अपनी नीतियों में परिवतन करना पडा और काशिश करनी पडी कि भारत और पाकिस्तान का सतुलन बिगडने न पाए। अमेरिका ने लडाई के दौरान आर बाद म भी कुछ समय तक आर्थिक सहायता रोक दी। ताशकन्द सम्मेलन म तथा उसके बाद रूस ने भारत और पाकिस्तान के बीच ज्यादा तटस्थता का रुख अपनाया ताकि दोना दशा का सतुलन बना रह और चीन का प्रभाव पाकिस्तान पर न बढने पाव। कश्मीर और अय मामलो पर मोटे तार पर और बाता का समथन करते हुए भी सोवियत रूस पाकिस्तान के प्रति समान रूप से मित्रता का व्यवहार कर रहा है और उसे फौजी सामान दे रहा ह।

इस प्रकार १९६२ के चीन–युद्ध से भी अधिक पाकिस्तान युद्ध ने भारत की परराष्ट्र–नीति की स्वतन्त्रता को घटाया जिससे देश म दोना बडे दशा की तरफ से विरक्ति का भाव पैदा हुआ। इससे भारत म इस भावना ने जोर पकडा कि हमे दुनिया के झगडा मे दूर रहना चाहिए और युद्ध के बाद जा आर्थिक मदी और राजनीतिक समस्याए उत्पन हुइ उनसे भी उपयुक्त मनोवत्ति को बल मिला और भारत को अपनी स्थिति के बारे मे शका हुई।

पाकिस्तान युद्ध मे सफलता पान के बाद भी भारत की अतरराष्ट्रीय स्थिति बिगडी, यह बात नही। वास्तव म ससार की ही स्थिति बदल गयी है। शीतयुद्ध की स्थिति अब नही रही और दोना महाशक्तिया ने 'तीसरे विश्व' (गुटा से बाहर) देशा के झगडा में अपना रुख बदल दिया है और स्वय एक प्रकार की गुटो से तटस्थता अपना ली है। इस स्थिति मे भारत की तटस्थता का महत्त्व नही रहा। जब कोई बडा राष्ट्र नही चाहता कि भारत उसके गुट में शामिल हा और सभी तटस्थता की बात करते है तो भारत की तटस्थता का अथ क्या रहा। परतु भारत कोई दूसरी नीति नही निकाल पाया है।

यह बात नही कि भारत की बाहरी स्थिति कमजार हुई हो। प्रत्युत उसकी फौजी और औद्यागिक शक्ति बढी है, पर उसने अपने आदश और लक्ष्य मे विश्वास खो दिया है और उसका रुख विश्व की समस्याओ मे न उलझने का है। पर इसी समय भारत को विश्व – व्यवस्था के प्रति अपनी जिम्मेदारी स्वीकारने की जरूरत ह। अपने क्षेत्र और विश्व के बारे म भारत की नीति सही साबित हुई है। यह नीति न केवल उसकी स्वतन्त्रता का कायम रखने (आर दूसर नए देशा द्वारा उसकी नीति की स्वीकृति) म बल्कि उस के क्षेत्र की स्वतन्त्रता म भी सहायक हुई ह। इसलिए उसका वतमान उदासीनता का रुख अस्थायी और अवास्तविक है। इस रुख के दो कारण है, एक ता भारत को युद्ध का अनुभव न था। दोना महा-

लगाया कि भारत ने सीमा पार करके उसके कुछ नागरिकों और जानवरों का अपहरण किया है और उन्हें फौरन लौटा दिया जाये। प्रधानमंत्री लालबहादुर शास्त्री ने चीन की धमकी के आगे झुकने से इन्कार किया और कहा कि सीमा का संयुक्त निरीक्षण कर लिया जाय। चीन की यह कोरी धमकी थी और भारत की दृढ़ता से इसकी पोल खुल गई। नई दिल्ली की जनता ने चीन के दूतावास पर जाकर उसे भेड़ों का एक झुण्ड पेश किया पर चीनी अधिकारियों ने झेंप कर मारे इसे स्वीकार न किया।

अंत में संयुक्त राष्ट्र के महामंत्री ऊ थांट की कोशिश और सोवियत रूस के बीच में पड़ने से और ताशकन्द में पाकिस्तान के सदर अयूब खां और भारत के प्रधानमंत्री की मुलाकात का प्रबंध करने के कारण २३ सितंबर १९६५ को दोनों देशों में युद्ध–विराम हो गया। इसे लेकर १० जनवरी तक ताशकन्द में दोनों नेताओं में बातचीत हुई और ताशकन्द समझौते पर दस्तखत हुए। इसमें यह तय हुआ कि दोनों पांच अगस्त के पहले की स्थिति पर वापस लौट जायेंगे, एक–दूसरे के मामले में हस्तक्षेप न करेंगे। आर्थिक और दूतसम्बन्ध फिर से कायम करेंगे और संयुक्त राष्ट्र के घोषणापत्र के सिद्धांतों के अनुसार आपसी झगड़ों को बातचीत से हल करेंगे और हिंसा से काम न लेंगे। इस समझौते में रूस का मुख्य हाथ था। यद्यपि लालबहादुर शास्त्री का देहांत अचानक समझौते पर दस्तखत होने के दूसरे दिन हो गया, पर समझौते पर अमल किया गया और पाकिस्तानी कब्जे के कश्मीर में हाजीपीर की चौकी छोड़ने का भारत में बहुत विरोध हुआ, फिर भी भारत ने इन्हें छोड़ दिया। इसी तरह भारत ने दक्षिणपंथी दलों के विरोध के बावजूद कच्छ निर्णय को स्वीकार किया, यद्यपि यह उसके कुछ खिलाफ जाता था।

दोनों देशों की सीमाओं पर अब भी झड़पें हो जाती हैं, लेकिन स्थिति ज्यादा बिगड़ने नहीं दी जाती। संचार और व्यापार चालू करने के बारे में बातचीत हुई है। दोनों ओर के फौजी तथा अन्य अधिकारियों में बातचीत होती है। प्रधानमंत्री ने पाकिस्तानी अधिकृत इलाके में मंगला बांध का निर्माण पूरा होने पर सदर अयूब खां को बधाई भेज कर सदभावना का हाथ बढ़ाया है। उनकी इस कारवाई की संसद में गहरी निंदा हुई, किंतु यह इस बात का इशारा है कि सरकार युद्ध विराम रेखा के आधार पर कश्मीर का बटवारा मानने को तैयार है।

अंतरराष्ट्रीय स्थिति में परिवर्तन

पाकिस्तान से युद्ध में सफलता से भारत का हौसला काफी बढ़ा क्योंकि अच्छे अमरीकी हथियारों और टैंकों के बावजूद भारत ने पाकिस्तान को पीछे ढकेल दिया लेकिन युद्ध का दाम भी भारी चुकाना पड़ा। पाकिस्तान से युद्ध के कारण

न केवल देश मे हिंदूमुस्लिम तनाव बढता ह बल्कि इससे अतरराष्ट्रीय पेच भी पैदा होते है। इस युद्ध का प्रभाव न केवल भारत और पाकिस्तान पर ही पडा बल्कि अमरीका और रूस को भी अपनी नीतिया म परिवतन करना पडा और कोशिश करनी पडी कि भारत और पाकिस्तान का सतुलन बिगडने न पाए। अमेरिका ने लडाई के दौरान और बाद मे भी कुछ समय तक आर्थिक सहायता रोक दी। ताशकन्द सम्मेलन मे तथा उसके बाद रूस ने भारत और पाकिस्तान के बीच ज्यादा तटस्थता का रुख अपनाया ताकि दोना देशो का सतुलन बना रह और चीन का प्रभाव पाकिस्तान पर न बढने पाव। कश्मीर आर अय मामला पर मोटे तौर पर और बाता म समथन करते हुए भी सोवियत रूस पाकिस्तान के प्रति समान रूप से मित्रता का व्यवहार कर रहा है और उसे फौजी सामान द रहा ह।

इस प्रकार १९६२ के चीन–युद्ध से भी अधिक पाकिस्तान युद्ध ने भारत की परराष्ट्र–नीति की स्वतत्रता को घटाया जिससे देश मे दोना बडे देशा की तरफ से विरक्ति का भाव पैदा हुआ। इससे भारत म इस भावना ने जार पकडा कि हमें दुनिया के झगडा से दूर रहना चाहिए और युद्ध क बाद जा आर्थिक मदी और राजनीतिक समस्याए उत्पन्न हुईं उनसे भी उपर्युक्त मनोवृत्ति को बल मिला और भारत को अपनी स्थिति के बार में शका हुई।

पाकिस्तान युद्ध मे सफलता पान के बाद भी भारत की अतरराष्ट्रीय स्थिति बिगडी, यह बात नही। वास्तव मे ससार की ही स्थिति बदल गयी है। शीतयुद्ध की स्थिति अब नही रही और दोना महाशक्तिया ने 'तीसर विश्व' (गुटो से बाहर) देशा के झगडा में अपना रुख बदल दिया है आर स्वय एक प्रकार की गुटा से तटस्थता अपना ली है। इस स्थिति में भारत की तटस्थता का महत्त्व नही रहा। जब कोई बडा राष्ट्र नही चाहता कि भारत उसके गुट में शामिल हो और सभी तटस्थता की बात करते है तो भारत की तटस्थता का अथ क्या रहा। परतु भारत कोई दूसरी नीति नही निकाल पाया है।

यह बात नही कि भारत की बाहरी स्थिति कमजोर हुई हो। प्रत्युत उसकी फौजी और औद्योगिक शक्ति बढी है, पर उसने अपने आदश ओर लक्ष्य म विश्वास खो दिया है और उसका रुख विश्व की समस्याओ मे न उलझने का है। पर इसी समय भारत को विश्व – व्यवस्था के प्रति अपनी जिम्मेदारी स्वीकारने की जरूरत है। अपने क्षेत्र और विश्व के बार मे भारत की नीति सही साबित हुई है। यह नीति न केवल उसकी स्वतत्रता को कायम रखने (आर दूसर नए देशा द्वारा उसकी नीति की स्वीकृति) म, बल्कि उस के क्षेत्र की स्वतत्रता मे भी सहायक हुई है। इसलिए उसका वतमान उदासीनता का रुख अस्थायी और अवास्तविक है। इस रुख के दो कारण ह, एक तो भारत को युद्ध का अनुभव न था। दोनो महा

युद्धों की विभीषिका से वह बचा रहा, इसलिए इन दोनों युद्धों में उसको गहरा मानसिक धक्का लगा। दूसरे, भारत की आर्थिक स्थिति अभी भी कमजोर है। बड़े देशों की गिनती में आने की संभावना उसमें है, किंतु बड़े देश का पद उसे प्राप्त नहीं, साथ ही वह छोटे देश की सुविधा नहीं भोग सकता। इस कारण उसे अपने में अविश्वास और संदेह पैदा हो गया है जो उसे बाहरी दुनिया के प्रति एक प्रभावशाली रुख अपनाने में रोकता है। पर शीघ्र ही उसका आत्मविश्वास लौटेगा।

सैनिक दृष्टि से भारत ने लगातार तरक्की की है। उसकी फौजी व्यवस्था दुनिया की चौथी सबसे बड़ी है। और संभवतः वह पाकिस्तान और चीन दोनों के आक्रमण का एक साथ सामना कर सकता है। वह चाहे तो परमाणु अस्त्र भी बना सकता है। राजनैतिक दृष्टि से भी उसकी स्थिति पहले से अच्छी है। चीन सारे संसार से और एशिया के देशों से दूर होता जा रहा है। उसके एक समय के पक्के मित्र बर्मा और इंडोनेशिया और प्रायः सारे अफ्रीकी देश भी उसके खिलाफ हो गए हैं। पाकिस्तान भी प्रायः पूरी तरह चीन पर निर्भर हो गया है। पाकिस्तान के भीतर भी लोग सरकार की आलोचना कर रहे हैं कि उसकी भारत विरोधी नीति से उसको ठोस लाभ नहीं हुआ और उलटे उसकी आत्मनिर्भरता मारी गयी है।

भारत स्थिरता की शक्ति

अफ्रीकी–एशियाई देशों का भारत की नीति रीति, चीन के मुकाबले अधिक स्वीकार्य है। भारत का यही रुख है कि 'तीसरे विश्व' का सोवियत रूस और संयुक्त राज्य अमरीका दोनों से संबंध बनाए रखना चाहिए। अपनी सारी कठिनाइयों के बावजूद अंतरराष्ट्रीय मामलों में भारत की आवाज समझदारी की आवाज है।[10] उसने जिस प्रकार अपना लोकतंत्री ढांचा कायम रखते हुए अपनी आर्थिक कठिनाइयों और अन्य समस्याओं का सामना किया है उससे उसकी प्रतिष्ठा बढ़ी है। सोवियत रूस और अमरीका की परमाणु शस्त्र नियंत्रण संधि पर दस्तखत करने से इनकार करके उसने दिखा दिया है कि उसे दबाया नहीं जा सकता और जापान की तरह उसकी भी अंतरराष्ट्रीय मामलों में अपनी राय है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

किंतु भारत के सामने अनेक नयी कठिनाइयां आई हैं। एक तो यह कि भारत

---

१० कोरिया और हिंद-चीन में तथा कांगो में उसने शांति स्थापना में जो योग दिया उसे दूसरे देश मानते हैं। अमरीकी विदेश मंत्री डीन रस्क ने स्वीकार किया कि भारत ने कई बार संयुक्त राष्ट्रों की ऐसी सेवा की है, जो हम नहीं कर सकते थे। देखें-सेलिग्ज़ हैरिसन जूनियर, 'द एलिट्स ऐंड द मास' (न्यूयार्क १०६५)।

ऐसे प्रदेश में स्थिरता और शाति के लिए यत्न कर रहा है, जहा क्राति की आवाज जोर पर है। सारे एशिया के देश चीन से भयभीत है। वह हर जगह क्राति और मुक्ति के आदोलन को उकसा रहा है। इन मे भारत के सीमात की आदिम जातिया भी है। पाकिस्तान घरेलू मामला मे परिवतन और क्राति विरोधी है, लेकिन वह कश्मीर मे और सभवत सारे भारत मे गडबड करना चाहता है। कहा जाता है कि यदि भारत और चीन मे सीमा का विवाद न भी होता तो भी इन दोनो मे सघर्ष अनिवाय था।[11] इसी प्रकार यह भी कहा जाता है कि यदि कश्मीर का विवाद तै भी हो जाए तो भारत और पाकिस्तान मे मेल नही हो सकता, क्याकि पाकिस्तानकी बुनियाद ही भारत के विरोध पर ह।[12]

साम्राज्यवाद विरोधी हाते हुए भी भारत की नीति स्थिरतावादी है। इस विरोधाभास का कुछ प्रतिकार करने के लिए गुटा से तटस्थ होते हुए भी, व्यवहार मे भारत ने दक्षिण एशिया में सोवियत प्रभाव की वृद्धि का समथन किया है। लाक-तत्र में आस्था रखने वाले और पश्चिम से हथियारो पर काफी निभर भारत के लिए रूस का समथन करना आसान नही है, खास कर चेकोस्लोवाकिया और पूर्वी यूराप में साविएत नीति और पाकिस्तान को उससे हथियारा की सप्लाई को देखते हुए। भारत की तीसरी समस्या यह है कि वह आर्थिक विकास और जरूरी माल की सप्लाइ के लिए दूसरे देशा पर निभर ह। इस निभरता का मेल राजनैतिक स्वतत्रता से कैसे बिठाया जाये ?

इन सब कारणा मे और चीन व पाकिस्तान से समझौता न कर सकने के कारण अतरराष्ट्रीय मामला में भारत को दब कर और सभल सभल कर चलना पडता है। १९६६ मे अरब और इसरायल के सघष में उसे बाध्य होकर अरबा का पक्ष समर्थन करना पडा। जब कि वियतनाम में अमेरिका के युद्ध और चेकोस्लोवाकिया मे रूस की फाजी कारवाई का वह खुल कर विरोध न कर सका। वास्तव म तट स्थता की नीति अब स्पष्ट नीति के अभाव और फूक फूक कर कदम उठाने में ही रह गयी ह। दो युद्धा से और दोना बडे देशा से उसके सबध में तनाव आने से जो सबक मिला ह, उसको हृदयगम करने मे अभी कुछ समय लगेगा। साथ ही आत रिक स्थिति जब सुधरेगी तभी भारत का आत्मविश्वास बढ़ेगा। इस बीच सब से बडी समस्या आर्थिक स्वावलबन और स्वतत्रता प्राप्त करने की है।

आर्थिक स्वतत्रता

तजी से औद्योगीकरण के लिए मशीन और पूजीगत माल की दरकार होती है

११ लिओरोन- इडिया चायना ऐंड द अफ्रोएशियन 'लाक'-कटेंपोरेरी चायना, १९६७।

१२ देखिए, शिशिर गुप्त, इडियान रिलेश स विथ पाकिस्तान १९४७-६७ (न दि १९५८)। शिशिर गुप्त अतरराष्ट्रीय विषयों के प्रमुख आलोचक हैं।

और जब तक यह देश मे नहीं बनने लगते इन्हे बाहर से मगाना होता है। इसके लिए कई उपाय करने होते हैं। जैसे अनावश्यक सामान का आयात रोक कर जरूरी मशीन और कच्चा माल मगाना, जो चीजें आयात होती थीं, उन्हें देश में बनाना, अधिक निर्यात कर के विदेशी मुद्रा कमाना और आयात की अधिकता से होनेवाली विदेशी मुद्रा की कमी की पूर्ति के लिए विदेशों से ऋण और मदद लेना तथा विदेशी व्यवसाइयों को देश में पूजी लगाने को प्रेरित करना। भारत सरकार ने इन सभी उपायों से काम लिया है।

व्यापारिक घाटे की पूर्ति

औद्योगीकरण के क्रम में बाहर से आयात अधिक होने से विदेशी व्यापार का सतुलन प्रतिकूल हो जाता है। भारत में आयात-निर्यात का यह अतर औद्योगीकरण के पहले से ही चला आ रहा था और द्वितीय विश्व युद्ध के समय ब्रिटेन में हमारा जो पौंड पावना जमा हो गया था, वह खर्च होता जा रहा था। देश जब आजाद हुआ तो हमें अनाज और जूट व कपास जैसे औद्योगिक कच्चे माल की कमी पड़ी क्योंकि देश की काफी सब से उपजाऊ जमीन पाकिस्तान में चली गयी थी। दूसरी ओर १९५१-५२ मे कोरिया युद्ध की अवधि को छोड़ कर निर्यात में कोई बढ़ती नहीं हुई थी। पहली योजना में खेती की उपज बढ़ाने पर जोर दिया गया, जिससे अन्न के आयात का खर्च घटे। इस लक्ष्य में काफी सफलता भी मिली। इसके बाद भारी उद्योगों की स्थापना पर ध्यान दिया गया। इस कारण दूसरी योजना की शुरुआत से ही मशीन, यातायात का सामान, रसायन, धातु और धातु के सामान का आयात बहुत बढ़ गया। योजना के उत्तरार्ध में निर्यात भी कुछ बढ़ा, पर आयात और भी बढ़ गया और विदेशी विनिमय का घाटा १६८ करोड़ से बढ़ कर ४०० करोड़ रुपया हो गया।

तीसरी योजना में औद्योगीकरण और बड़े पैमाने पर चालू हुआ और देश में प्राविधिक क्षमता या मशीन बनाने वाली मशीनों के निर्माण का यत्न किया गया। इससे आयात और भी बढ़ा। इसी के साथ दो साल सूखा पड़ा और दो युद्ध लड़ने पड़े, जिनसे उत्पादन के लक्ष्य पूरे न हो सके। कारखानों के लिए जरूरी सामान बाहर से आयात न हो सकने के कारण, वे पूरी क्षमता से काम न कर सके। एक ओर निर्यात घटा और दूसरी ओर जरूरी और गैरजरूरी दोनों तरह का आयात बढ़ा। फौजी सामग्री का आयात भी बड़े पैमाने पर हुआ। जनसंख्या की वृद्धि के कारण सब तरह के माल की माग भी बढ़ी।

उपनिवेशी व्यवस्था में, अधीन देश केवल कच्चा और अर्द्ध निर्मित माल बनाते हैं और तैयार माल शासक देश से खरीदते हैं। यद्यपि भारत जैसे साधनसपन्न देश को, जहा औद्योगिक प्रतिभा की कमी न थी, अफ्रीका की तरह पूर्णत कच्चा

माल देने वाला देश न बनाया जा सका, फिर भी यहा का अधिकतर नियात चाय, मसाला, तबाकू, काफी, खनिज सूती वस्त्र, जूट और कायर के बने माल का था। इस प्रकार के प्राथमिक उत्पादना का निर्यात घाटे का सौदा होता है क्योकि तैयार माल बाहर स मगाना पडता है। साथ ही कच्चे माल का दाम भी गिरता गया है।

इसलिए भारत ने नए किस्म के इजीनियरी सामान मशीनी औजार, पेट्रोल पदाथ, लोहा, इस्पात का कुछ सामान, रसायन आदि का निर्यात बढाने का यत्न किया। आयात का माल भी देश म बनाने की कोशिश की गयी। मशीनी औजार, धातु का माल, खनिज इधन और परिवहन सामान और कपास, जूट, कागज दफ्ती, रगाई और चमडा कमाने की सामग्री का आयात घटा।[13] यह उल्लेखनीय है कि आबादी बढने से माग भी बढी, पर यह माग ज्यादातर देशी उत्पादन से ही पूरी हुई। अनुमान है कि चौथी याजना के अत तक मशीनी औजार की ७५ प्र० श० माग और विशेष इस्पात और अलमुनियम की शत प्रतिशत माग देश से पूरी होगी और शायद निर्यात के लिए भी कुछ बच जाए।[14]

नए बाजार

विकासमान देश को अपने नए औद्योगिक माल की बिक्री में कठिनाई होती है। एक ओर उसे औद्योगिक उन्नत देशो का मुकाबला करना पडता है, दूसरी ओर चुगी और टटक्र की बाधा का सामना करना पडता है। बने हुए माल की माग देश में भी काफी होती है और बाहरी आयात न होने से देशी उद्योग को सरक्षण मिल जाता है इसलिए नियात बढाने की गरज भी कम होती है। दूसरी ओर पुराने प्राथमिक उत्पादन का नियात भी दूसरे अविकसित देशो के माल के मुकाबले के कारण गिर जाता है। इन सब कारणो से भारत ने अपने माल के लिए नए बाजार खोजने पर विशेषकर पूर्वी यूरोप, दक्षिण पूव एशिया अफ्रीका और दक्षिण अम

१३ १९५०-१ में ९१ ६ प्र श मशीना औजार बाहर से मगाए गए थे। १९६४-६ में यह ४४ १ प्र श हो गया और कुछ माल नियात भी होने लगा। शकर बनाने की मशीन का आयात इसी प्रकार १०० प्र श से घट कर १ ४ प्र श हो गया, सूती वस्त्र मशीन का १०० से ५६ १ प्र श, ट्रका का ३५ ७ से ० ५ प्र श, पेट्रोल पदाथ (किरोसीन के अलावा) ०१ १ से १ ६ प्र श और अलमुनियम ७४ ८ प्र श से २९ ७ प्र श।

१४ धातु के मामले में आयात पर निर्भरता काफी घटा है। उदाहरण के लिए चौथी योजना के अन्त तक देशी उत्पादन का उपयोग नस्ते में ५ ८ प्र श से बढ कर ५३ ८, ब्लैक कार्बन का ५२ प्र श से ८९ ३ और तांबे का १२ १ से २१ ४ प्र श हो जाने का आशा है। धातु और इंजीनियरिंग माल का निर्यात एशिया अफ्रीका प यूरोप, रूस पूर्वी यूरोप और अमेरिकी देशों म बढा है और व्यापार का अन्तर कम हुआ है। स रा अमरीका को भी भारत बिजल क तार के खभे और कन्वेयर तथा अन्य चीजें भेज रहा है। स्टेट्समैन वीकली—जन १८, फरवरी १, १९६८।

रीका को माल वेचने का विशेष प्रयत्न किया है। सोवियत सघ, युगोस्लाविया, हगरी, चेकोस्लावाकिया, पोलड, पूर्वी जमनी, अर्जेटीना, चिली, सयुक्त अरब गण राज्य, ईराक, वर्मा और जापान से अलग अलग व्यापार करार किये गये है। युगोस्लाविया, चेकोस्लोवाकिया आदि से सरकारी स्तर पर मानेदारी में व्यापार की योजनाए बनाई गयी है।

विदेशी और भारतीय फर्मो की साझेदारी के उद्योग भी बढ रहे हैं और भारतीय फर्मो ने केनिया, तजानिया, ईरान, मलयेशिया, फिलीपीन, लका और आयरलैंड मे उन देशा के व्यवसाइया के साझे में उद्योग खोले है। अफ्रीका आदि पिछडे देशा मे भारतीय विशेषज्ञ, प्रशासन अधिकारी (नाइजीरिया पूर्वी अफ्रीका) और फौजी अधिकारी (इथियापिया) काम कर रहे है। काग्रेस मे दक्षिण और वामपक्ष के विवाद के बावजूद भारत में अधिक विदेशी पूजी लग रही है, खास कर उन उद्योगो मे जो अब तक आयात पर ज्यादा निभर रहे है। साधारणत यह पूजी भारतीया के साझे में लगी है।[१५] इस प्रकार देश की आर्थिक व्यवस्था को फैलाने का और नये नये उद्याग चालू करने का यत्न किया गया है। यद्यपि इनका पूरा फल कुछ समय बाद मिलेगा।

इस बीच औद्योगीकरण के लिए अभी भी बाहर से मशीन आदि का आयात जारी है। १९५०-५१ में मशीनरी का आयात कुल आयात का १४ प्र श था जो १९६५-६६ में ३० प्र श हो गया। पर सबसे भारी आयात अनाज का था, जो अब खेती का उत्पादन बढने से कम हुआ ह पर उवरक और खेती के लिए जरूरी और सामान का आयात भी हो रहा है। नए उद्यागा की मशीना और पुरानी मशीना को बदलने के लिए नई मशीना का आयात भी जरूरी है। देश में बनन वाली मशीनरी में लगने वाले विदेशी पुर्जों को घटाने की कोशिश की जा रही है, नए बाजार खोजने और नया माल निर्यात करने के साथ साथ यहा बनने वाले माल की क्वालिटी अच्छी रखने और उत्पादन खच घटाने की भी कोशिश हो रही है। नई विधियाँ निकाली जा रही ह (जस आयातित धातु के बदले देशी धातु का प्रयाग)।

बिक्री की कला मे, चाहे वह अपने पक्ष का प्रचार हो, चाहे अपने माल का, भारतीय कुछ कमजोर पडते हैं। दूसरे, योजनाकारा ने निर्यात बढाने के बजाय आयात घटाने और आत्मनिर्भर बनने पर ज्यादा जोर दिया था। मगर तीसरी

---

१५ विदेशी पूजी को आकृष्ट करने में कई बाधाए हैं। परस्पर सदेह, भारत में विदेशी पूजी की जोखिम का गलत प्रचार और सरकारी निर्णय में देर आदि के कारण विदेशी पूजी निरुत्साहित होती है। किंतु भारत की यह शर्त बिल्कुल ठीक है कि विदेशी पूजी ५० प्र श से ज्यादा न हो। देश की आर्थिक व्यवस्था पर विदेशी पूजीपतियों का आधिपत्य स्थापित नहीं हो सकेगा, जो अनेक देशों में देखने में आता है।

योजना मे विदेशी भुगतान के गहरे घाटे के कारण सरकार को नियात बढाने पर ध्यान देना पडा। हर माल के लिए निर्यात सवधन परिषदें बनायी गयी, जो बाहरी बाजार का अध्ययन करती है और माल की किस्म पर कट्रोल रखती है। स्टेट ट्रेडिंग कार्पोरेशन जैसे व्यापारिक सगठना के काम के नौकरशाही ढग को सुधारा जा रहा है। कट्रोल ढीले किए गए है। निर्यातकों को ऋण दिलाने और उनकी जोखिम की गारटी देने का प्रबध किया गया है, और विदेशा मे अपने माल के विज्ञापन व प्रचार के उपाय किए जा रहे है।[१६]

मुद्रा का अवमूल्यन

इन सब उपाया के अलावा एक महत्त्वपूण नीति निणय भी किया गया। यह था जून १९६६ में रुपये का अवमूल्यन। आशा की गई थी कि इससे नियात बढेगा और आयात घट जाएगा। इस कदम की देश मे तीव्र आलोचना की गई और कहा गया कि सरकार विदेशी दबाव के सामने झुक गयी। पर इस कारवाई का प्रत्याशित परिणाम नही निकला। कुछ इस कारण कि अभी भी हमारा ७० प्र ग निर्यात पुरानी प्राथमिक चीजा का था, जिनकी माग पर दाम का अधिक असर नही पडता। दूसरे नए उद्योगा को काफी सामान आयात करना पडता था और इनका दाम बढ गया। तीसरे, अवमूल्यन का ही काफी समझ कर सरकार ने नियात वृद्धि की अन्य योजनाए खतम कर दीं। मगर सबसे बडा कारण यह था कि सहायता देने वाले दशा ने और विश्व बैंक ने आसान शर्तों पर सहायता देने का अपना वादा पूरा नही किया। इन देशा से पहले से पक्की बात नहीं कर ली गई थी। नतीजा यह हुआ कि बाहर से जरूरी सामान न मिलने के कारण उद्योगो की क्षमता बढाई न जा सकी और अवमूल्यन का फायदा न उठाया जा सका।

सरकार का दावा है कि अवमूल्यन का असर हुआ है, और उन चीजा का निर्यात बढ रहा है जिनके बनाने में विदेशी सामान की कम जरूरत पडती है तथा देशी कच्चे और औद्योगिक माल की सप्लाई बढ रही है। लेकिन अथशास्त्री इससे सहमत नही है। जो हो, अवमूल्यन का निणय विदेशी दबाव से और बिना उनसे सौदा पटाए जल्दीबाजी में किया गया और उसके साथ और जो कारवाइया जरूरी थी, व नही की गयी। इसके विपरीत सी सुब्रमण्यम द्वारा 'नयी कृषि नीति' बनायी और मुस्तैदी से अमल मे लाई गयी।

१६ लेकिन अभी भा निर्यात के मामले में भारत बडी सुस्ती और कल्पना का अभाव दिखा रहा है। पश्चिमी और अमेरिका आदि सपन्न देशों में भारतीय और एशियाई माल की खपत की बेहद गुजाइश है। भारत में कला कौशल की कमी नहीं और कोई कारण नहीं कि वह और देशों से पीछे रहे। नेहरू जैकेट की माग दक्षिण कोरिया जापान और वेनेजुएला से पूरी हो, और भारत पीछे रह जाय, यह अजीब बात है।

देश की राजनैतिक व्यवस्था का निमाण उतना कठिन नही जितना उसकी आर्थिक व्यवस्था का निर्माण। राजनैतिक निमाण देश के लोगा की योग्यता, चरित्रबल, सस्था निर्माण की क्षमता पर निभर है, जबकि आर्थिक निर्माण के साधन पिछडे देश में दुलभ होत है और उन्ह बाहर से लेना पडता है। इस कारण विदेशी सहायता परराष्ट्र नीति की एक नयी शाखा बन गयी है। इसका राजनैतिक और आर्थिक प्रभाव केवल पिछडे देशा पर ही नही पूरी विश्वव्यवस्था पर पडता है।

विदेशी सहायता से एक बडा प्रश्न उठ खडा हुआ है। यह है राजनैनिक स्वतन्तता बनाम आर्थिक परनिर्भरता का। विकसित और अविकसित, या विकासमान देशा को स्वतत्र और परनिभर, दाता और गृहीता देश भी कहा गया ह।[१७] सीधा सवाल यह है कि राजनैतिक स्वतन्त्रता का सामजस्य आर्थिक निभरता से कैसे हो सकता है। विदेशी सहायता से होने वाले लाभ जाहिर है। इसमे अभाव की तात्कालिक समस्या मे राहत मिलती है, सरकार को मौका मिलता है कि वह राजनैनिक समस्याओ पर कुछ ध्यान दे सके, सामाजिक और आर्थिक सुधारो की योजनाए चालू कर सके और इस प्रकार जनता को धीरज और आश्वासन दे सके कि भविष्य में उसकी मागे पूरी हो सकगी। दूसरी ओर इससे होने वाले नुकसान भी स्पष्ट हैं। इससे आर्थिक प्राथमिकताए गडबड हो जाती है और बजाय उन कामो को उठाने के जो ज्यादा जरूरी हैं, वे काम शुरू कर दिये जाते है, जिनके लिए सहायता सुलभ होती है, बजाय मेहनत करके उत्पादन बढाने के, बाहरी सहायता से काम चलाने की प्रवत्ति पैदा होती है। इससे आर्थिक विपमता बढती ह और विशेष आर्थिक और राजनीतिक वर्गों को अधिक फायदा होता है, साधन विशेष कायक्रमो में फँस जाते ह और नये काम करने या नीति बदलने की गुजाइश कम हो जाती है और सबसे बडी बुराई यह है कि विदेशी सहायता का कभी भरोसा नही कि कितनी मिलेगी या न मिलेगी और उसके लिए गिडगिडाना व जिल्लत उठाना पडता है, जिससे राजनतिक सकट खडे हो सकते है। इस तरह विदेशी सहायता से लाभ हानि दोना है पर किसी भी नए देश का इसके बिना काम नही चलता।

भारत का भी विदेशी सहायता पर निभरता का कटु अनुभव हुआ है। फिर भी इसने इसे तब तक के लिए स्वीकार किया है जब तक उसकी आर्थिक व्यवस्था

---

१७ अल्बर्ट ओ हशमान 'अडरडेवलपमेंट आब्सटेकिल्स टु द पर्सेप्शन आफ चेंज ऐंड लीडरशिप' (डेडालस १९६८ पृ ९२५-३७)। हशमान स्वतन्त्र और निर्भर (परतत्र) शब्द का प्रयोग करता है, जो दक्षिण अमरीकी साहित्य से लिए गए ह। दाता और गृहीता शब्द के लिए देखें हशमान और रिचड एम बर्ड, 'फारेन एड ए क्रिटिक एंड ए प्रपोजल' (एसे इन इन्टरनेशनल फाइनेंस न ६९-प्रिंसटन, १९६८)।

अपने से विकास करने योग्य नहीं हो सकी। विदेशी आर्थिक सहायता लेने पर प्रायः सभी दल सहमत हैं। मतभेद केवल इस बात पर है कि सहायता पूर्वी देशों से भी ली जाय या पश्चिमी देशों से। और सहायता देने वाले देशों को किस हद तक उनके अपना या अन्य हित वाले मामलों की देखरेख करने दिया जाय।[18] भारत ने विदेशी सहायता को अपनी आर्थिक योजना और अपनी विदेश नीति का एक अंग समझा। सहायता देने वाले देशों की नीयत अलग अलग थी। कुछ हद तक यह अन्तरराष्ट्रीय व्यापार और विनिमय से प्रभावित थी तो कुछ हद तक शीत युद्ध से और कुछ हद तक तटस्थता की भावना से या अपनी विचारधारा का प्रभाव डालने के उद्देश्य से।

हमने देखा है कि किस प्रकार द्वितीय विश्वयुद्ध और कोरिया युद्ध के समय भारत ने जो पाउंड-पावना जमा किया था वह नये कारखाने खड़े करने के लिए बाहर से कलपुर्जे मंगाने में खर्च हो गया। द्वितीय योजना के मध्य में विदेशी मुद्रा की बहुत कमी पड़ी और काफी बहस-मुबाहसा हुआ कि किन योजनाओं को चालू रखा जाय और किन्हें छोड़ दिया जाय।[19] अन्त में यह तय हुआ कि देश में भारी कारखाने और मशीनें बनाने की क्षमता स्थापित करनी चाहिए और इसके लिए दूसरे देशों से सामान उधार पर और कर्ज लेना चाहिए। यह कर्ज बाद में निर्यात बढ़ा कर चुका दिया जायेगा।[20] तब से हिन्दुस्तान ने अधिकाधिक मात्रा में विदेशी सहायता ली है। पहली योजना में ३८२ करोड रुपये से बढ कर दूसरी योजना में यह २५३१ करोड और तीसरी योजना में २६३२ करोड रुपया हो गई। अनुमान है कि चौथी योजना में चार हजार करोड (नये विनिमय दर पर) की जरूरत पड़ेगी।

विदेशी सहायता का अधिकांश भाग भारत के सरकारी उद्योगों और प्रतिष्ठानों में लगा है। पहली, दूसरी और तीसरी योजनाओं में सरकारी क्षेत्रों में विदेशी

---

१८ १९४८ से १९६४ तक विभिन्न दलों के प्रस्तावों के विश्लेषण से पता चलता है कि विदेशी सहायता की चर्चा, विदेश नीति संबंधी कांग्रेस के केवल २ प्रतिशत प्रस्तावों में है, जनसंघ और स्वतन्त्र में बिल्कुल नहीं और कम्युनिस्ट पार्टी के केवल १२ प्रतिशत प्रस्तावों में मुख्यतः उन्हीं मुद्दों पर जिनकी चर्चा ऊपर है। देखें, वारेन एफ. इल्चमैन, 'द पोलिटिकल इकानमी आफ फारेन एड : द केस आफ इंडिया' (जर्नल आफ कामनवेल्थ पोलिटिकल स्टडीज—चार सं २ नव १९६६)

१९ देखें—योजना कमीशन के 'अप्रेजल एंड प्रास्पेक्ट्स आफ द सेकेंड फाइव ईयर प्लान' (मई १९५८) तथा 'रिअप्रेज़ल आफ द फाइव ईयर प्लान—ए रिज्यूम' (सित १९५८)।

२० इस नीति के समर्थन के लिए देखें के एन राज और ए. के सेन—'आल्टरनेटिव पैटर्न्स आफ ग्रोथ अंडर कंडिशन्स आफ स्टैगनेंट एक्सपोर्ट अर्निंग्स', आक्सफर्ड इकनामिक पेपर्स, बारह सं १, फर १९६१।

सहायता का अश क्रमश १२ ६, ३७ और ३६ प्र श रहा। देखिए सारणी दस १।

सारणी दस १ – विदेशी सहायता और सरकारी क्षेत्र

योजना काल	कुल खच	विदेशी सहायता	विदेशी सहायता
	करोड रु	करोड रु	कुल खच का प्रतिशत
प्रथम योजना	१७६०	१६६	१२ ६
द्वितीय योजना	३६५०	१३५२	३७
तृतीय योजना	६३००	२४७६	३६

भारत सरकार – इकनामिक सर्वे १९६५–६६

कुछ तटस्थता की नीति के खातिर और कुछ अमरिका के बढते हुए प्रभाव को राक करने के लिए विदेशी सहायता अनेक देशो से ली गई। सारणी दस २ से पता चलेगा कि पचास प्रतिशत सहायता सयुक्त राज्य अमरीका से मिली है और शेष सोवियत सघ तथा अन्य देशा तथा अन्तरराष्ट्रीय सस्थाआ से। जबकि पश्चिमी देशा की सहायता अनेक कायक्रमा में और शिक्षा आदि लोकहितकारी याजनाआ में लगी है। सोवियत सहायता इस्पात और बिजली जैसी विशेष योजनाआ में लगी। जब अमरीका ने बोकारो में इस्पात कारखाने के लिए सहायता के लिए इनकार किया तब सावियत रूस ने इसके लिए सहायता दी।[२१]

कर्ज का बोझ

इस सहायता से जहा योजनाआ को पूरा करने मे मदद मिली वहाँ इससे कज का भारी बोझ भी बढ गया। सहायता शब्द से भ्रम होता है कि यह दान है। वस्तुत इसका अधिकतर भाग उधार सामान या रुपये के रूप में है। (देखिए सारणी दस ३) इसलिए इस कर्ज की अदायगी की रकम भी बराबर बढती जा रही है। १९६०–६१ में यह निर्यात की आमदनी और विदेशी सहायता की राशि का ७ ८ प्रतिशत थी और १९६५–६६ में १८ ४ प्रतिशत तथा चौथी योजना में २८ प्रतिशत होगी। (चौथी योजना में जो विदेशी सहायता ली जायगी उसका

२१ पश्चिमी सहायता में भी प्रवृत्ति यह रही है कि अलग अलग देशों से सहायता की बातचीत के बजाय सभी पश्चिमी देशों और अन्तरराष्ट्रीय एजेंसियों द्वारा एक सम्मिलित समझौता हो। तदनुसार 'भारत सहायता क्लब' बना जिसकी नियमित बैठक होती है और इसमें भारत की समस्याओं और पिछली कारगुजारी की रोशनी में आगे सहायता देने पर विचार होता है। इससे विदेशी सहायता को एक सस्थागत रूप मिला है और अलग अलग देशों से राजनैतिक मोलभाव की जरूरत कम हो गयी।

२६ प्रतिशत कर्ज और सूद की अदायगी में लग जायेगा) भारत ने कर्ज या सूद की अदायगी में कभी आनाकानी नहीं की। उसने केवल यही सुविधा चाही है कि सूद की दर कम रहे और अदायगी के लिए अधिक समय दिया जाय।

बहुत दिनों तक विदेशी सहायता निर्दिष्ट कार्यक्रमों के लिए मिलती रही। इसके कारण बहुत से नये कार्य और उद्योग स्थापित हो सके लेकिन स्थापित उद्योगों के लिए कच्चा माल और कल-पुर्जे मगाने में दिक्कत पडती थी इस कारण जो उद्योग स्थापित हुए वे पूरी क्षमता से काम न कर पाए। फलत निर्यात यथेष्ट मात्रा में न बढ सका और विदेशी मुद्रा की कमी पडने के कारण और विदेशी सहायता लेनी पडी जिससे भारत सहायता देनेवाले देशों से बध गया। इधर दोनों ओर से इस कठिनाई का अनुभव किया गया है और विदेशी सहायता खास कार्यक्रमों के लिए बधी न होकर भारत की जरूरत के अनुसार खर्च करने के लिए मिल रही है।

मगर इससे एक नई समस्या खडी हो गई। पहले जब सहायता किसी खास कार्यक्रम के लिए दी जाती थी तो देने वाले देशों से उसी कार्यक्रम के बारे में विचार विमर्श होता था अब जो साधारण सहायता दी जाती है उसमें देश की पूरी नीति यहाँ तक कि सामाजिक और राजनतिक ढाचे पर भी बहस होती है।[२२] रूस और अमेरिका दोनों ने बहुत से मामलों में हस्तक्षेप किया है। रूसियों ने बोकारो-योजना में भारतीय इजिनीयरों को शामिल करने पर एतराज किया है और रुपये के अवमूल्यन में अमेरिका और विश्व बैंक के विशेषज्ञों का हाथ भी रहा है। इससे भी ज्यादा गभीर बात यह हुई कि १९६५ ६६ में भारत पाकिस्तान युद्ध के समय और बाद में भी अमेरीका ने विदेशी सहायता रोक दी जिससे बहुत-सी योजनाओं का काम रुक गया। आदमी और मशीनें बेकार हो गई जिससे आर्थिक मदी और कष्ट बढा। हाल में रूस ने ऐसे विमान बेचने की कोशिश की जो भारत के लिए उपयुक्त नहीं थे। इससे जाहिर होता है कि बाहरी सहायता लेने में, चाहे वह रूस से ली जाए या अमेरिका से कितना खतरा है।

सहायता का भविष्य

ऐसा जाना पडता है कि विदेशी सहायता के दिन बीत रहे हैं। रूस और अमेरिका में शीतयुद्ध प्राय बद हो गया है। उन्नत देशों को भी विदेशी मुद्रा की कठिनाई पड रही है। उन्हें दूसरी अतरराष्ट्रीय जिम्मेदारियाँ भी निभानी हैं और उनके देश के अन्दर यह माग हो रही है कि दूसरे देशों को सहायता देने के बजाय घर की समस्याओं पर ध्यान दिया जाये। सहायता देने वाले देशों में यह भावना भी है कि हम दूसरे की झझट में क्यों पडें। सहायता देने में जितनी [illegible]

---

२२ देखें-इकॉनॉमिस्ट मैन ऍण्ड बर्ड।

स्थाएँ सुलझती नहीं उतनी पैदा हो जाती है और सहायता के बदले कृतज्ञता मिलने के बजाय बुराई और विरोध मिलता है। मुख्य बात यह थी कि विदेशी सहायता दो गुटों की स्पर्धा का परिणाम थी जो इसके द्वारा दूसरे देशों को अपनी ओर लाना चाहते थे। इन देशों में भारत मुख्य था। अब शीतयुद्ध खतम हो जाने से भारत की तटस्थता की नीति का महत्त्व कम हो गया है। भारत में भी अब यह विचार जोर पकड़ रहा है कि विदेशी सहायता से असली काम करने में अर्थात् आत्मनिर्भरता के प्रयत्न में बाधा पड़ती है।

अब रुख क्षेत्रीय सहयोग का है। जापान और भारत दोनों एक एशिया नीति पर चलना चाहते हैं। (यद्यपि यहां भी रुख सहयोग से ज्यादा स्पर्धा का है।) विदेशी व्यापारियों को उद्योगों में पूंजी लगाने को प्रेरित किया जा रहा है (विश्व बैंक जैसी संस्थाएँ भी उसमें योग दे रही हैं) और देश के साधनों के उपयोग पर ज्यादा जोर दिया जा रहा है। भारत में यह भावना भी है कि बड़े पैमाने पर विदेशी सहायता से विदेशी प्रभाव बढ़ता है। विदेशी जासूसों की कारवाइयों से यह धारणा पुष्ट हुई और विदेशी संगठनों के प्रति संदेह बढ़ा है। राजनीतिक रूप से भी अमरीका और रूस दोनों से निराशा मिली है।

इस बीच देश की सैनिक और आर्थिक शक्ति बढ़ी है और आर्थिक व सामाजिक ढांचे का अनेक दिशाओं में विस्तार हुआ है। अगले कुछ वर्षों में भी विदेशी सहायता की दरकार होगी किंतु यह व्यापारिक सौदा होगा, राजनैतिक रियायत या मदद नहीं।

संक्रमण काल

अंतरराष्ट्रीय स्थिति भी बदली है। अब सवाल केवल दो गुटों का नहीं रहा। नए दलों का उदय हो रहा है। विभिन्न क्षेत्रों में संघर्ष पैदा हुए हैं। बड़े राष्ट्र भारत-पाकिस्तान चीन के क्षेत्र में यथास्थिति बनाए रखना चाहते हैं। भारत की परमाणु क्षमता भी बढ़ रही है। भारत ने बड़े राष्ट्रों के दबाव के बावजूद परमाणु अस्त्र बनाने पर रोक लगाने की संधि पर दस्तखत करने से इनकार कर दिया है, जब तक परमाणु अस्त्र की धमकी (विशेषकर चीन की) के खिलाफ पक्की गारंटी न दी जाए। भारत के सामने मुख्य प्रश्न यह होगा कि वह परमाणु अस्त्र बनाये या नहीं, उसमें इसकी क्षमता है। और इसकी आर्थिक और राजनैतिक सीमा क्या होगी।[२३] भारत को संसार के बजाय अपने क्षेत्र की ओर देखना होगा। जापान

---

२३ अब तक भारत [illegible] परमाणु बम बनाने से इनकार करता आ रहा है, [illegible] अभी [illegible] निर्णय नहीं लिया है। [illegible] और भारत की परमाणु [illegible] [illegible] क्षमता [illegible], [illegible] और [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] १९६७।

इडोनेशिया और आस्ट्रेलिया से समझौता करना होगा और चीन के प्रति नया रुख लेना होगा और इसी क्षेत्रीय सदर्भ मे परमाणु बम बनाने के प्रश्न पर विचार करना होगा। सबसे बडी जरूरत यह है कि भारत दोना महाशक्तिया के दबाव को सभालने और उनकी इस क्षेत्र में नीति को अपने हित के लिए इस्तेमाल करने का तरीका निकाले। ऐसा न होने से इन दोनो महाशक्तिया की इस क्षेत्र में उपस्थिति—यह उपस्थिति हमारे चाहने मात्र से नही दूर हो सकती, भारत के लिए एक बधन बन जाएगी।



भारत की भूमिका

इस समय सारे ससार में राजनैतिक और वचारिक स्थितिया बदल रही है। इससे भारत को कुछ समय मिला है जिसमें वह अपनी राजनैतिक और आर्थिक समस्याओ को सुलझा सके। आतरिक शक्ति बढने से उसका आत्मविश्वास बढेगा और वह अतरराष्ट्रीय राजनीति में अपनी भूमिका अदा कर सकेगा। यह भूमिका स्पष्ट है और नेहरू ने इसकी परिभाषा कर दी थी। नेहरू की नीतिया विश्व की बदली हुई स्थिति मे अनुपयुक्त हो सकती है किंतु इससे भारत की भूमिका नही बदलती। भारत एक बडा देश है, विचारधारा और भूगोल दोनो दष्टि से उसकी स्थिति महत्त्व की है, उसमें बडे राष्ट्र की सभावनाए है और उसकी जिम्मेदारिया भी उठानी है।

इस भूमिका को अदा करने के लिए औद्योगिक शक्ति और राजनैतिक स्थिरता और दृढता ही नही, बडे पन की ओर निशानिया भी जरूरी है अर्थात परमाण अस्त्र और सटेलाइट या अतरिक्ष कायक्रम अपने क्षेत्र में सक्रिय नीति और आत्म विश्वासी तथा निर्मल दृष्टि वाले नेता जो स्थिति को ठीक से समझकर उपयुक्त नीति निर्धारित कर सकें। यह स्थिति भारत की आतरिक सफलता से प्राप्त होगी, विदेश नीति के दाव पेंचा से नही। यद्यपि दोना ही क्षेत्रो में उसे कठिन काय करना है।

भविष्य

विभिन्न अध्यायों में हमने जो विवेचन किए हैं और निष्कर्ष निकाले हैं, उनका उपसंहार करते हुए हमें मुख्यतः इस प्रश्न का उत्तर देना है कि भविष्य की क्या संभावनाएं हैं। इस प्रश्न का उत्तर देने में हमें इस बात से मदद मिल सकती है कि भारत में जिस राज्यव्यवस्था का विकास हुआ है उसने कैसा काम किया है। किंतु इस में एक कठिनाई यह है कि हो सकता है कि आगे जो समस्याएं आएं वे अब तक की समस्याओं से भिन्न हों। वास्तव में राजनैतिक व्यवस्था ज्यों ज्यों संस्थापित होती है, समस्याओं का दायरा भी उतना ही बढ़ता जाता है।

दूसरे शब्दों में इस प्रश्न को कि समस्याओं को सुलझा सकने की क्षमता व्यवस्था में बढ़ रही है या घट रही है इस प्रश्न से जोड़ना होगा कि समस्याएं वही होंगी या भिन्न।

इस प्रश्न का उत्तर देने में हमें देखना होगा कि विकास का भारतीय ढांचा कैसा रहा है। भविष्य की समस्याएं क्या हो सकती हैं और इनका सामना करने में कौन-सी नीतियां कारगर हो सकती हैं।

भारतीय ढांचा

हमने देखा है कि सदियों से भारत की पद्धति यह रही है कि यहां एक प्रधान राजनैतिक सत्ता के अधीन अनेक प्रकार की व्यवस्थाएं चलती रही हैं। इसी आधार पर आधुनिक भारत का ढांचा खड़ा हुआ। इस प्रकार के राजनैतिक केंद्र के विकास में विदेशी शासन, राजनैतिक विचार तथा आधुनिक शिक्षा के प्रभाव ने भी हाथ बटाया, लेकिन इसकी स्थापना तभी हुई जब देश में एक ऐसे शिक्षित नेता या अगुआ वर्ग का उदय हुआ जो अपने को सारे भारत का प्रतिनिधि समझता था और इस सार्वदेशिक भावना को संस्थापित करने के लिए उसने एक देशव्यापी संगठन का निर्माण किया, जिसमें हर तरह के लोग शामिल हुए। स्वतंत्रता के बाद इस राजनैतिक केंद्र को और बल मिला। इस संविधान के द्वारा प्रतिष्ठित

किया गया और इसे एक स्तर तथा एक ढंग में समाविष्ट किया गया। इस प्रकार भारतीय राज्य-व्यवस्था का रूप निखरा।

तब से निरंतर विभिन्न विधियों, प्रक्रियाओं और कार्यों से देश के विभिन्न तत्त्वों को इस प्रधान या सर्वोपरी राजनैतिक केन्द्र में समाविष्ट करने का यत्न किया जा रहा है। इस में समाविष्ट होने वाले विभिन्न वर्गों और तत्त्वों की अपनी विशेषता या स्वायत्तता को मिटाने की नहीं, बल्कि उनको मिलाने की कोशिश की जाती है। केन्द्रीय सत्ता को उनके ऊपर बाहरी और विजातीय सत्ता के रूप में लादा नहीं जाता बल्कि यह कोशिश की जाती है कि विभिन्न वर्ग और लोग इस व्यवस्था में स्थान पा सकें। मुक्त या खुली राजनैतिक व्यवस्था का भारत में यही अर्थ है। यह व्यवस्था प्रतिद्वंद्विता और संघर्ष का अखाड़ा ही रही है, इसमें विभिन्न वर्ग एक दूसरे से गठजोड़ कर सकते हैं और सत्ताधारी तथा प्रतिपक्षी दोनों दल अपने अपने पक्ष का समर्थन कर सकते हैं।

राजनैतिक व्यवस्था में विविध तत्त्वों का स्थान

हमने विस्तार से बताया है कि दलीय प्रणाली और वयस्क मताधिकार का समाज के विभिन्न स्तरों को अनुप्राणित करने और उनके समावेशन में क्या हाथ रहा है। इसमें शिक्षा, नगरीकरण, अखबार, रेडियो आदि प्रचार के साधन आदि से भी अधिक मदद मिली है विभिन्न वर्गों और समूहों के राजनैतिक व्यवस्था में भाग लेने से। भारतीय समाज के विभिन्न तत्त्वों के एकीकरण में राजनैतिक नेता वर्ग का बड़ा हाथ रहा है। इसने विभिन्न समूहों और वर्गों में समझौते करके, उनके दावों को मान कर या आश्वासन देकर उन्हें राजनैतिक प्रक्रिया, चुनाव, शासन आदि में भाग लेने को प्रेरित किया है और इस प्रकार विभिन्न तत्त्वों को एक सूत्र में जोड़ा है। इस क्रिया में भारतीय संविधान की व्यवस्था ने बहुत योग दिया है। संघीय शासन और दलों की प्रणाली में एकीकरण और विकेन्द्रीकरण दोनों प्रवृत्तियों को काम करने की गुंजाइश है। प्रधानता या उच्च सत्ता की कल्पना केन्द्रीकरण या एक तंत्र से भिन्न है और इसमें मतभेद और भिन्नता को स्थान है। भारतीय समाज के एकीकरण और आधुनिकीकरण के असली साधक हैं, स्थानीय या मध्यम स्तर के नेता। वे सभी प्रतिद्वंद्वी दलों और गठबंधनों में काम करते हैं। हमने अध्याय ५ और ८ में बताया है कि किस प्रकार यह नेतवर्ग भारत में राजनैतिक दलों की खुली प्रणाली की सृष्टि करता है, जिसमें सत्ताधारी और विरोधी दोनों समूह एक शासक वर्ग में रूपांतरित हो जाते हैं।

शासक या सत्ताधारी नेताओं ने अपनी नीतियों और कार्यों द्वारा राज्य व्यवस्था के प्रति विभिन्न वर्गों की निष्ठा प्राप्त करने में योग दिया है। विषमता और अन्याय दूर करने के लिए विशेष कानून बनाये गये, गांवों में विकास की बहु

विज योजनाएं चालू की गईं, अनेक प्रकार की संघीय और स्थानीय स्वशासन की संस्थाएँ कायम की गयी। इस प्रकार की व्यवस्था अधिकांश मामलों में स्वत, नीचे से दबाव पडने या माग उठाने के पहले ही की गई, पर इसका लाभ और श्रेय स्थानीय नेताओं को प्राप्त हुआ।

सरकार की इन कारवाइयों के फलस्वरूप पुराने सामाजिक वर्गों, जातियों और फिरकों ने राजनतिक स्वरूप ग्रहण कर लिया। एक नये नेता वग का प्रादुर्भाव हो गया, जिन्होंने जातीय संघो, पचायतो और सहकारी सगठनो पर कब्जा करके प्रांतीय और राष्ट्रीय राजनीति में प्रवेश कर लिया। नगरों के कुछ नेताओं को भी मिला कर इन्होंने आधुनिकतावादियों का अपदस्थ कर दिया। हमने इसे आधुनिकीकारको द्वारा आधुनिकतावादियो के अपदस्थ किए जाने की प्रक्रिया की सना दी है। इसी अथ में सत्ता शहरियों के हाथ स निकल कर गाव वालो के हाथ में गई है। इसे जनता के हाथ में शक्ति का जाना या शहर पर गाव की विजय न समझना चाहिए। वास्तव में जिन मूल्यो व पद्धतियो का प्रसार हो रहा है, वे ग्रामीण न होकर शहरी और आधुनिक ही है। यह प्रक्रिया भी दश के जीवन के राजनैतिकीकरण का अग है।

भारत में ऐसा राजनतिक ढाचा निर्मित हो सका, जिसमें देश की विभिन्न उप सस्कृतियों और अल्पसख्यको की जीवन-पद्धतियों का समाप्त करने की कोशिश नही की गयी और राजनैतिक केन्द्र ने विभिन्नताओं में सामजस्य करके, स्थानीय नेताओं के माध्यम से नीचे तक जड जमाने का यत्न किया। इस प्रक्रिया में इस बात से मदद मिली कि नए राज्य की स्थापना के पूव ही बुनियादी बातो पर *मतैक्य हो चुका था। इस मतैक्य की स्थापना काग्रेस आदोलन द्वारा सभव हो* सकी और काग्रेस दल की रीति नीति द्वारा इसका क्रियान्वयन हुआ। भारत में समाज, मजहब, नस्ल, भाषा आदि की जो विभिन्नता पाई जाती है और जिन्हे हम फूट और अलगाव और सकीणता की प्रवत्ति समझते है, व भी सहमति के विकास और केन्द्र की प्रधानता में सहायक हुई। नए भारत ने बहुत से लक्ष्यो को एक साथ सिद्ध करने का प्रयास किया, जैसे समाज का पुनगठन, आर्थिक विकास और अतरराष्ट्रीय मामलो में सक्रिय भाग लेना। इनसे उसकी शक्तियां बिखर तो गयी परतु दूसरी ओर राजनैतिक चेतना फैलने से राष्ट्र के विभिन्न वर्गों की ओर से जो मागे उठी, उन्हें सभालने में भी मदद मिली।

लोकतन्त्र की भारतीय कल्पना

भारत की लोकतन्त्र की कल्पना यह नही है कि शासक वग एक अव्यवस्थित जनसमूह से शक्ति प्राप्त करे। भारत कई बातो मे ऐसे सामूहिक जनराज्य से भिन्न है। साथ ही भारतीय यह भी नही मानते कि भारत जैसे पिछड दश के लिए

ऐसी मजबूत और तानाशाही सरकार ज्यादा अच्छी है, जो चुनाव और वोट की झंझट से बरी हो। कुछ बुद्धिजीवी व्यक्ति ऐसे है जो लोकतंत्री राजनीति की अस्थिरता से ऊब कर मजबूत सरकार को अच्छा समझने लगते है। लेकिन ऐसी समसामयिक तानाशाही और मजबूत सरकारो का जो अनुभव हमें पास पडोस मे हुआ है उससे पता चलता है कि ये सरकारे लोकतंत्री सरकार से कम अयोग्य नही है। दूसरी तरफ, ये लोकतंत्री सरकारो की तरह अपने को सुधार नही सकती। लोकतंत्र मे सरकार या शासक दल को चुनाव मे हारने का डर लगा रहता है, और यह एकदम गैरजिम्मेदारी और निरकुशता का रुख नही अपना सकती। दूसरी ओर तानाशाही सरकार बौद्धिक वर्ग के असतोष के बल पर एक बार सत्तारूढ हो जाने के बाद बौद्धिकता का जामा उतार फेंकती है और निहित स्वार्थों की कठपुतली बन जाती है। फलत जनता की स्वतंत्रता तो मारी ही जाती है, शासन की कुशलता भी नही बढती। घाना इडोनेशिया और पाकिस्तान म यही देखने मे आया है। नेपाल और थाइ देश की राजाशाही सरकारो ने भी देश मे असतोष शात करने के लिए लोकतंत्र की कुछ प्रणालियो को ग्रहण किया है। मजबूत सरकार का सबसे बडा नमूना चीन है। क्रातिकारी कम्युनिज्म को सस्थागत रूप देने मे उसकी जनता को जो कष्ट उठाना पढ रहा है वह सर्वविदित है। भारतीय प्रणाली, इनसे बेहतर भले ही न हो लेकिन वह इनसे खराब भी नही है और इनका अच्छा विकल्प प्रस्तुत करती है।

'तीसरी दुनिया' में दो प्रकार की क्रातियां हो रही है। एक वह है जिसमे एक व्यक्ति या विचारधारा सभी विरोधो और मतभेदो को कुचल कर सारे देश को अपने ढग पर चलाने की कोशिश करती है। दूसरा तरीका है भारत का, इसमे वर्तमान ढाचे को बनाये रखते हुए परिवर्तन का स्वागत किया जाता है और इस प्रकार मूल व्यवस्था की सभावनाओ का विस्तार किया जाता है। इसे क्रमिक क्राति का नाम दिया जा सकता है। इस व्यवस्था मे रचनात्मक परिवर्तनो की ज्यादा गुजाइश होती है और यह तानाशाही या हिंसात्मक क्राति से ज्यादा टिकाऊ होती है।[1]

व्यवस्था की परीक्षा

इस प्रकार के लोकतंत्री क्रमिक क्राति की व्यवस्था की असली परीक्षा १९६२ और ६७ के बीच हुई। जब इसे एक के बाद एक लगातार सकटो का सामना करना पडा। दो बार देश के सर्वोच्च पद के नए उत्तराधिकारियो का चुनाव हुआ। यह

---

[1] इस प्रकार के परिवर्तन को 'गेमस रूल' का नाम दिया जाता है—इसमें परिवर्तन पुरानी व्यवस्था को बनाए रखने में सहायक होता है। देख—चार्ल्स एफ हैंबेट और राबर्ट एडार, 'द ह्यूमन रिवोल्यूशन' करेंट एन्थ्रोपालोजी पाँच, न ३, जून १०६४।

न केवल नेता या व्यक्ति का परिवतन था, वरन नतृत्व की शैली और उसकी शक्ति का भी परिवतन था। इसी के साथ दो पुरानी और महत्त्वपूण नीतिया को भी कडी चुनौतियो का सामना करना पडा। ये थी खेती और आर्थिक विकास की नीति और दूसरी भाषा नीति। ये दोना नीतिया ठीक से कार्यान्वित न हो सकी थी और इनकी विफलता को लोगो ने अनुभव किया था। यह विफलता और गभीर हो गयी, जब इसी के साथ देश म लगातार दो साल सूखा पडा, आर्थिक मदी आई, जीवन की अनिवाय आवश्यकता की वस्तुआ के दाम बढे। इसके फलस्वरूप जनता मे असतोप बढा विरोध और प्रदशन हुए और ससद पर भी धावा करने का प्रयत्न हुआ।[२] इन्ही कठिनाइया के दौरान देश को चीन और पाकिस्तान के आक्रमणो का भी सामना करना पडा। पाकिस्तान युद्ध के बाद विदेशी सहायता बद हो गयी, आयात मे कठिनाई पडी और विदेशी शक्तियो के दबाव मे आकर रुपये का अवमूल्यन करना पडा। १९६७ मे जब सूखे, अकाल और बाहरी आक्रमणा के प्रभाव से कठिनाइया बढ रही थी, देश मे आम चुनाव हुआ। इसमे काग्रेस का एकाधिकार टूट गया और राजनैतिक अस्थिरता का युग आया। देश के नतत्व की यह कठिन परीक्षा की घडी थी।

किसी भी व्यवस्था के लिए इन कठिनाइया का सामना करना आसान न था, खास कर एक नयी व्यवस्था के लिए जो भयानक गरीबी और पिछडेपन से झूझने म आकठ फसी हुई थी। फिर भी उसने इन समस्याआ का सफलता से सामना किया। दोनो आक्रमणा का सामना किया गया। खेती और आर्थिक विकास का नीतिया म परिवतन किया गया। भाषा के विवाद म भी समझौते से काम निकाला गया। नए प्रधान मन्त्रिया का चुनाव शातिपूवक हुआ। सब मिलाकर इन अभूत पूव सकटा का सामना करने में व्यवस्था सफल रही और उसका बुनियादी ढाचा टूटा नही।

इन समस्याओ पर हम विस्तारपूवक पिछले अध्याय में विचार कर चुके हैं। यहा हम नेतृत्व की शैली और राजनैतिक व्यवस्था के उन तत्त्वा का विश्लेषण करेंगे, जिनसे इन समस्याओ का मुकाबला सभव हुआ। इसस हमें इसकी कम जोरिया और मजबूरियो का पता चलेगा, जो भविष्य के लिए काम देगा (नीचे जो

---

२ ७ नवम्बर १९६६ को गौहत्या के विरोध में एक जलूस निकला, जिसम इधर उधर के कई दल शामिल थे। इसम ऐसे लोग भी थे जो देश में फैलते हुए असतोष और उपद्रवों का लाभ उठाना चाहते थे। इसने ससद पर आक्रमण किया। स्पष्टत यह सवधानिक व्यवस्था को तोडने की कोशिश थी। यह प्रयत्न विफल हुआ और प्रतिक्रियावादियों की पोल खुल गयी। गृहमत्री गुलजारीलाल नन्दा को साधुओं के उपद्रव को रोकने में विफलता के कारण हटना पडा। देखें- 'काग्रेस सिस्टम आन ट्रायल', एशियन सर्वे आठ, न २ फर १९६२।

कहा गया है, वह मोट तौर पर व्यवस्था की साधारण प्रवृत्तिया का सूचक है ।)[3]

समस्याए अलग अलग

भारत मे समस्याए विभिन्न क्षेत्रो को न ही एक साथ प्रभावित करती हैं, न ही उनकी तीव्रता एक जैसी होती है । यह उन समस्याओ पर भी लागू होता ह, जो साथ साथ उठती ह । अलग अलग समस्याआ पर विभिन्न राज्या व दला का अलग अलग रुख होता है इससे समस्याए एकजुट होकर खतरा पैदा करने के बजाय एक दूसरे को काट देती है । उदाहरण के लिए खेती आर भापा सबधी नीति के विषय में राज्या का अलग अलग रुख था। जब केद्र इन दोना समस्याआ मे उलना हुआ था उसी समय दो युद्धा और दो प्रधान मत्रिया के सफलतापूवक चुनाव के कारण देश में एकता बढी और केन्द्र की शक्ति भी बढी । भापा के विवाद से देश की एकता को खतरा पैदा हुआ, किंतु उसी समय पाकिस्तान के आक्रमण के कारण यह विवाद गौण हो गया । इन दोना समस्याओ में मुख्य पात्रा ने अलग अलग भूमिका अदा की। एक सकट दूसरे सकट से जुड न सका ।

बदलता पक्ष

दूसरी बात यह थी कि हर समस्या या विवाद म मुख्य पक्षो की स्थिति बदलती रही । एक ही बात पर अडने की प्रवत्ति न थी । हर प्रश्न को पुन पुन परिभाषित करने का प्रयत्न किया गया जिससे मतभेद कम होता गया । और सहमति का क्षेत्र व्यापक करने को प्रोत्साहन मिला । भापा, खेती और उत्तराधिकार (प्रधानमत्री के) सबधी प्रश्ना पर अलग अलग नेताओ ने मुख्य भूमिकाएँ अदा की । हर प्रश्न पर बातचीत के नए ढग और समझौते के नए सूत्र निकाले गए । और जैसे ही एक सूत्र अव्यावहारिक जान पडा, उसे छोड दिया गया और दूसरा निकाला गया, जैसे भापा सबधी विवाद मे । हर बार परिस्थिति के अनुसार निणय की नई परिपाटी अपनाई गयी । जैसे प्रधानमत्री के चुनाव मे दो बार अलग अलग तरीके काम म लाए गए । इस विषय मे एक रूढ परपरा का न होना लाभप्रद सिद्ध हुआ। समस्या का समाधान ढूढने म मुख्य प्रश्न को प्रक्रिया सबधी प्रश्नो से अलग करने की सद्प्रवत्ति दीख पडी ।

---

३ देखें-रजना कोठारी और थामस हेट्रिक 'राइसिस एण्ड नानक्राइसिस डेवलपमेंट इडिया १९६२–६७' (अभिलेख-सेंटर फार स्टडी आफ डेव लोपिग सोसा इटी और इस्टी आफ पोलि स्टडान, स्टैनफोर्ड १९६९)। यह निबध स्टैनफोर्ड युनि में गैब्रियल आमड द्वारा आयोजित राजनैतिक विकास सबधा सेमिनार में पढा गया था ।

हठवादिता का अभाव

तीसरी बात यह है कि सौदा पटाने या बातचीत करने म कट्टरता और हठ वादिता का रुख नही अपनाया जाता। किसी भी विवाद या सकट के समय विरोधी और सत्तारूढ नेताओ मे काफी मोलभाव होता है। दोना ही पक्षा के दावा म, उनके दाना मे भी जो हिमा पर उतारू हो, उनके दावा मे भी कुछ औचित्य होना है। सौदा करने वालो के हाथ बधे नही रहते, उनके पक्ष अपरिवतनीय नही होत। मागें बडे जोर से की जाती है पर शीघ्र ही स्वर धीमा हो जाता है। मागो के समथन मे प्रदशन और उपद्रव भी होत हैं, लेकिन वे व्यवस्था को चुनौती का रूप नही लेते। साथ ही यह सादेबाजी आर दबाव और उपद्रव एक खास प्रश्न को ले कर होते हैं। अलग अलग प्रश्ना को जोड कर सरकार को उलटने के लिए स्थायी मोरचेबदी नही की जाती। वस्तुत मोरचे और गठबधन टूटते और बनते रहते ह। कहा जा सकता है कि किसी एक समय में अनेक सकट हो सकते हैं, मगर ये वास्तविक सकट का रूप नही ले पाते।

दलबदल

इन सभी में अर्तनिहित निष्ठा मे तीव्रता का अभाव है। किसी दल या मारचे के प्रति अडिग निष्ठा की आशा या माग नही की जाती। हर श्रेणी के राजनतिक नता अपना दल या मोरचा आसानी से बदल देते है। विचारधारा या सिद्धात की उपेक्षा कर दी जाती है। जहा १९६७ में काग्रेस की शक्ति में कमी का कारण आतरिक फूट और बहुत से लोगो का उससे अलग हो जाना था, वहा गैर–काग्रेसी मोरचे में परस्पर विरोधी विचारो के दल भी शामिल थे। दलबदल और विरोधी विचारा के दलो के गठबधन की क्रिया को इस बात से भी मदद मिलती है कि भारत के गावा मे रहने वाली अधिकाश जनता राजनीति से अछूती है और राज नैतिक लोगा के दावपेच से ज्यादा मतलव नही रखती। इस कारण यहा सकट वहुत गभीर रूप नही धारण करने पाते। जनता के विभिन्न वर्गो या श्रेणिया में काफी दूरी रहती है और किसी प्रश्न पर प्रभावित हिता का सगठन करना कठिन होता है। इस प्रक्रिया में मध्यवर्ती समुच्चायको का भी वडा हाथ है। इस कारण राजनैतिक व्यवस्था, सामाजिक दवाव से साधारणत मुक्त रहती है। दूसरी ओर इसा कारण यहा एकता पर वहुत जार दिया जाता है। राजनतिक नेता एकता की अपील करते थकते नही। चाहे युद्ध हो या प्रधानमत्री का उत्तराधिकारी चुनना हो, या काग्रेस के सामने सकट हो, सब में एकता की दुहाई दी जाती है और इनसे एकता की प्रवत्ति होती भी है। इन स्थितियो म राजनैतिक व्यवस्था का वास्तविक चुनौती देना आसान नही। सहमति या एकमतता के आग्रह से मॉगें दब जाती ह। सकटा से परिवतना और सुधारा को प्रेरणा मिलती है पर उनसे व्यवस्था के वुनियादी

ढाचे को और उसकी आधारभूत सहमति को नुक्सान नही पहुँचने पाता। व्यवस्था को कायम रखते हुए उसे परिवर्तित स्थितिया के अनुकूल बना लिया जाता है।

व्यवस्था की त्रुटिया

जिस प्रकार व्यवस्था सकटा को पार कर सकी उससे भविष्य के लिए आशा बधती है। लेकिन ऊपर हमने व्यवस्था की जिन विशेषताओ को देखा, वे ही उसकी कमजोरिया भी साबित हो सकती है। व्यवस्था पर सामाजिक दबाव न होने का ही यह नतीजा हुआ कि देश के आधुनिकीकरण या नवनिर्माण की समस्या को व्यावहारिक दृष्टि से न देख कर किताबी दृष्टि से देखा गया और उसकी योजनाओ पर अमल करने मे नौकरशाही ढग से काम लिया गया। भारत के इतिहास मे फूट और पृथक्ता की जो प्रवृत्ति रही है, उसे देखते हुए हर बात म एक्ता और सहमति पर अत्यधिक जोर देना उचित था, किंतु इसमे जनता के विभिन्न वर्गों से लगातार सपर्क रखने और उनकी भावनाओ को जानने समझने पर पूरा ध्यान नही दिया गया। राजनैतिक दलो और विशिष्ट हिता की सस्थाओ का मजबूत सगठन न होने का नतीजा यह हुआ कि गठबधन और मोरचे मजबूत नही होते। जनता की मागा का दबाव कम होने का एक नतीजा यह भी है कि यहा समस्याओ और मतभेदा का डट कर सामना नही किया गया और प्रशासन तथा अन्य क्षेत्रो में सरकार का काम ढीलाढाला रहा।

अब भारतीय राजनीति के क्षेत्र का विस्तार हो रहा है, नये समूह और दल मैदान में आ रहे है और नए मोरचे तथा व्यूहा की सभावनाएँ पैदा हो रही हैं। इस कारण अब तक जो सामाजिक और आर्थिक सघर्ष नीचे दबे रहते थे, वे अब उभड कर ऊपर आएगे और नीतिया को प्रभावित करगे। साथ ही जो शहरी मध्यम वर्ग अब तक राजनीति पर हावी था, वह अपदस्थ हो रहा है और उसका असतोष बढ रहा है। फलस्वरूप राजनैतिक विरोध और विभिन्न वर्गो के असतोप को एकजुट करने की कोशिश की जा रही है। पुराने ढग से असतुष्टा को व्यवस्था में स्थान देकर इस विरोध को नही सभाला जा सकता। अब समस्याओ और प्रश्ना पर ध्यान देना होगा। इसी के साथ इन विषयो में ठोस कारवाई पर ध्यान देना होगा और देखना होगा कि सरकारी योजनाएँ व नीतिया कागज पर न धरी रह जाए, वरन ठीक से कार्यान्वित हा। इसके पहले कि शिकायत और समस्याए बढ कर सार्वजनिक माग और आदोलन का रूप धारण कर, उन्हे देखना होगा और ठोस कारगर कारवाई करनी होगी।

हमने उपर कहा था कि भारत ने क्रमिक क्राति का तरीका चुना है। यह तरीका हिंसक क्राति और तानाशाही प्रतिक्राति दोना का विकल्प है। मगर इसकी सफलता हमेशा इस बात पर निर्भर नही रह सकती कि राजनैतिक विरोध बटा रहे

और मार्गें उग्र न हो तथा सहमति व मतैक्य का आग्रह पहले जैसा बना रहे। इसकी सफलता अब इस बात पर निर्भर होगी कि व्यवस्था या सरकार लगातार (रुक रुक कर नही) अच्छा काम करती रहे नेता बडी समझदारी से काम ले[४] और अब तक जो उपलब्धि हुई है, उसको नुक्सान पहुचाए बिना परिवतन की गति को तेज कर। भारत मे स्थिरता व परपरा को कायम रखते हुए परिवतन की जो प्रतिभा है उसको देखते हुए यह काम असभव नही। पर इसे करने के लिए ऐसी भावना जगानी पडेगी और ऐसा वातावरण बनाना पडेगा, जिसम ऐसा मालूम पड सकता है कि पुरानी व्यवस्था और परपरा व स्थिरता के मूल्य नष्ट हो रह है।

नए प्रश्न

भविष्य म जो समस्याए उठेगी वे पुरानी समस्याओ से बिलकुल भिन्न होगी। इनको हल करने मे अब तक जो क्षमताएँ उत्पन्न हो चुकी है, वे सहायक होगी पर उनसे पूरी तरह काम न चलेगा।

पिछले अध्यायो मे हमने नयी समस्याओ की ओर सकेत किया है। जैसा कि हमने देखा, काग्रेस को मिलने वाले पक्के वोट ४० प्र० श० है, यह स्थिर सरकार के लिए काफी नही। अय मुख्य दलो का आधार भी ६ से ८ प्र० श० है। जब तक कि ये दल जनता मे और गहरे जाने की कोशिश नही करते इस स्थिति म परिवतन होना कठिन है। काग्रेस भी अब दो काग्रेसो म बट गयी है[५] एक की नेता इदिरा गाधी ह, यह पार्टी को सरकार के प्रभाव मे रखना चाहता है, और नयी नीतियो के प्रचार का साधन बनाना चाहता है। दूसरा दल काग्रेस के पुराने सरदारो का है जो सगठन को सर्वोपरि मानता है। काग्रेस का यह विग्रह अय दलो को भी प्रभावित करगा और सभावना यह है कि यह देश म दो प्रतिस्पर्धी गठबधनो को ज म देगा, जिनकी विचारधारा और कायक्रम भिन्न होगे। आगे चल कर इसका परिणाम अच्छा हो सकता है, क्योकि इससे प्रश्न और नीतियो मे स्पष्टता आ सकती है और देश की शिथिलता दूर हो सकती है, पर तात्कालिक रूप से इसने सत्तारूढ दल के सामने अपनी सत्ता को बनाए रखने की समस्या खडी कर दी है। (१९७१ का मध्यवधि चुनाव स्थिरता म सहायक हुआ है, इसम इदिरा गाधी के नेतत्व की काग्रेस और उसके साथी दलो की उल्लेखनीय जीत हुई है)।

---

४ इन मुद्दों पर मुझे अल्बर्ट ओ हर्शमैन और चार्ल्स ई लिन्डब्लाम के साथ विमर्श से लाभ हुआ है। ये विद्वान आर्थिक विकास पर राजनैतिक और सस्थागत प्रभावों का अध्ययन करते रहे हैं। देखें-लिन्डब्लाम 'इडियाज प्रासपेक्ट्स' (मीमियो, दिस १९६७)। इस अध्याय को लिखने में मैने गैब्रि आल्मड से भी विचारविमर्श किया है।

५ देखें, रजनी कोठारा, 'पोलिटिकल कसेंसस इन इडिया डिक्लाइन एड रीकस्ट्रक्शन', इको ऐंड पोलि वीकली चार, स ४१, अक्टू ११, १९६०।

मेती के आधुनिकीकरण के कारण गावो मे आर्थिक विषमता बढी है और इस कारण वहा भूमिहीन व गरीब तथा सपन्न किसानो मे सघर्ष बढेगा तथा राजनैतिक रूप लेगा। अब तक राजनीति से गाव वालो की अपेक्षाकृत उदासीनता के कारण सरकार को स्थिरता मे जो योग मिलता है वह अब न मिल पाएगा। यद्यपि भारत मे अभी बहुत दिनो तक गावो की प्रधानता रहेगी और शहर का मध्यम वर्ग अल्प सख्या मे रहेगा, फिर भी जैसा नव अध्याय मे सकेत किया गया है शहर और गाव के असतुष्ट तत्वो मे सहयोग की प्रवृत्ति बढेगी।

इसी प्रकार शिक्षा का अभूतपूर्व प्रसार हो रहा है, किन्तु उसी अनुपात मे रोजगार के अवसर नही बढ रहे हैं। सतोष और स्थापित व्यवस्था के प्रति निष्ठा के प्राचीन मूल्यो को शिक्षा नष्ट भी कर देती है। परिणामस्वरूप बेरोजगार और असतुष्ट शिक्षित युवक वर्ग विद्रोह और उपद्रव के मार्ग को अपना सकता है तथा प्रातीयता और उग्रवादिता को बढावा दे सकता है। यह प्रवृत्ति राजनैतिक दलो को भी प्रभावित करेगी।

राजनैतिक दलो मे असतुष्ट और उग्र युवजन के प्रवेश से उनके रुख मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होगा। राष्ट्रीय मामलो मे उनकी नीति ज्यादा उग्र होगी, और लक्ष्य भिन्न होगे, इसका असर विदेश नीति पर भी पडेगा। हो सकता है, इस परिवर्तन से व्यवस्था के उलटने की नौबत न आए (विशेषत जब तक उस का काम मामूली रूप से अच्छा हो और राजनैतिक आचरण का स्तर गिर न जाए)। फिर भी व्यवस्था की केन्द्रीय सस्थाओ पर भीतरी और बाहरी बोझ बढ जाएगा। अब तक सकटो से व्यवस्था को सुधरने का मौका मिलता था, हो सकता है अब यह क्रम उलट जाए क्योकि सकटो से विफलता, पराजय और निराशा की भावना उत्पन्न हो सकती है और इस के फलस्वरूप हताश और क्षुब्ध तत्व व्यवस्था को उलटने का, तोड फोड का, असामाजिक मार्ग ग्रहण करें।

व्यतिक्रमिक मीमासा

इन प्रवृत्तियो का एक ऐसा परिणाम हो सकता है जो मार्क्स के द्वन्द्वात्मक विकास-सिद्धात के विपरीत हो। मार्क्स के अनुसार द्वद्व तब उत्पन्न होता है जब उत्पादन की विधियां और तत्र बदल जाए और राजनैतिक तत्र न बदले और पिछडा रहे। भारत मे स्थिति उलटी है। यहा राजनैतिक सस्थाओ का ऊपरी ढाचा उन्नत और गतिशील ढाचा कमजोर और जड आधार पर टिका है। इस स्थिति मे विकासशील देशो के बारे मे सैमुअल हटिंगटन के सिद्धात की पुष्टि होती है। हटिंगटन का कहना है कि एकाएक आधुनिकीकरण और जनता के राजनैतिक दलो मे सगठित हो जाने के साथ साथ यदि राजनैतिक व्यवस्था उस अनुपात मे अपने को न बदल सके तो

राजनैतिक ह्रास शुरू होने लगता है।[६] लेकिन भारत की समस्या यह है कि यहा जो अति आधुनिक और नए तत्वों को ग्रहण करने मे सक्षम व्यवस्था निर्मित हुई है, उसी के अनुसार यदि सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों का आधुनीकीकरण न हुआ, तो इस राजनैतिक व्यवस्था के टूटने का खतरा है।[७] भारत मे राजनैतिक गठबंधन टूटते और बनते रहे और सरकारे बदलती रहे, पर इसमे हो सकता है कि जनता की सुखसुविधा और सामाजिक व आर्थिक विकास मे कोई वृद्धि न हो। जनता के असंतोष बढने और उसका दबाव पडने से पहले ही यदि इनमें (जनता की भलाई और आर्थिक विकास मे) वृद्धि न हुई तो व्यवस्था का टिकना असंभव हो जाएगा। हो सकता है कि जैसे जैसे इस के सीमित साधनो पर भार बढने लगे, व्यवस्था की वे त्रुटिया जाहिर हो जाए जो अब तक छिपी थी।

जैसा कि हमने तीसरे और चौथे अध्याय मे देखा भारत ने बहुत से क्षेत्रो में जनता के दबाव के बिना ही प्रगतिशील नीतिया शुरू की, इससे राजनैतिक व्यवस्था को जनता का समर्थन भी प्राप्त हुआ। तब से व्यवस्था इसी पूजी से काम चला रही है। लेकिन पिछली उपलब्धिया पर संतोष करने से काम न चलेगा। अब फिर आगे बढने, नई नीतिया शुरू करने, नया समर्थन प्राप्त करने और नये गठबंधन करने की जरूरत है। निरंतर स्थिति का जायजा लेते रहने और नयी समस्याओ के लिए नई नीति और नये कदम उठाते रहने से ही व्यवस्था कायम रह पाएगी। यदि राजनैतिक स्थिरता नयी सफलता को जन्म नही देती और व्यवस्था नए परिणाम नही दिखाती, तो यह जनता का समर्थन खो देगी जो अब तक उसे प्रचुर मात्रा मे प्राप्त हुआ है। राजनैतिक व्यवस्था यदि गतिशील न रही तो इसकी जडता अंत में प्रतिक्रिया को जन्म देगी।

---

६ सैमुअल पी हंटिंगटन, पोलिटिकल आर्डर इन चेंजिंग सोसाइटीज (न्यू हवेन और लंदन १९६८)। उसने भारत को अपवाद माना है और उसकी बडी प्रशंसा की है – "राजनीतिक रूप से अत्यंत उन्नत देश भी अन्य बातों में पिछड़ा हो सकता है। भारत को पिछड़े देशों का नमूना समझा जाता था– किंतु राजनैतिक संस्थाकरण में भारत न केवल एशिया अफ्रीका और दक्षिण अमरीका से, बल्कि अनेक उन्नत पश्चिमी यूरोपीय देशों से भी आगे था– भारत की स्थिर, कुशल और लोकतंत्री सरकार अपनी स्वाधीनता के प्रथम २० वर्षों में अपनी विकसित राजनैतिक संस्थाओं की विरासत पर अधिक आश्रित थी, नेहरू के चमत्कारी नेतृत्व पर कम।" ध्यान रहे कि हंटिंगटन भूत काल में बात करता है। मानो उसे आशंका है कि १०६७ के बाद से स्थिति खराब हो रही है।

७ भारत के अन्दर अध्ययन से पता चला कि आर्थिक आधुनिकीकरण राजनैतिक संस्थाओ की उन्नति और स्थिरता में सहायक है, जबकि पिछड़ापन राजनैतिक अस्थिरता का कारण न होने पर भी उसके साथ चलता है। पहली बात का उदाहरण मद्रास और दूसरी का उत्तरप्रदेश है। गेरी-पाल बार ब्राम, 'पोलि पार्टिसिपेशन, इंस्टीट्यूशनलाइजेशन एंड स्टेबिलिटी इन इण्डिया'-गवर्नमेंट ऐंड अपोजिशन, चार, न १ -विंटर १०६०।

भविष्य की नीतिया

हमें अब भविष्य की नीतियो के सबध में भी विवेचन करना है। हम जानते है कि बौद्धिक (या वैज्ञानिक) विवेचन राजनैतिक नेता की सूझ और अनुभवजन्य निर्णय का स्थान नही ले सकता। अक्सर यह देखा गया है कि राजनैतिक कार्यकर्ता या नेता वास्तविकता के अधिक सपर्क में रहता है और लोगो की आवश्यकताओ और भावनाओ को ज्यादा समझता है।[८] फिर भी अक्सर ऐसा हुआ है कि नेता की जानकारी पुरानी पड जाती है और उसके निर्णय गलत निकले है, और वह नई परिस्थिति का अनुमान करने मे चूक जाता है। इसलिए तटस्थ आलोचक का विवेचन भी उपयोगी है।

सुदढ राजनतिक केन्द्र

व्यवस्था के सुचारु ढग मे चलने के लिए सुदढ और कारगर केन्द्र का होना जरूरी है। यदि सत्तारूढ कांग्रेस को अपनी स्थिति बनाये रखना है तो इसे नए साथियो की तलाश करना है और अपने मतदाताओ की सख्या बढानी है। अध्याय ८ में हमने जो विवेचन किया है उससे दो बातें स्पष्ट होती है – एक तो निर्वाचन क्षेत्र मे अपना सगठन बढाना (केवल वोट दिलाने वालो पर भरोसा न करना) और दूसरे, ऐसी नीति अपनाना, जिससे वचित और गरीब जनता आकृष्ट हो। पर १९६७ के बाद भारत की राजनीतिक स्थिति में जो परिवर्तन हुआ है, उसे देखते हुए कुछ और कदमो की भी जरूरत है। भारत में केन्द्र तभी प्रभावी हो सकता है जब वह सघीय सिद्धान्त पर अमल करे, राज्यो के प्रति उचित नीति का पालन करे और राष्ट्रीय उद्देश्यो के लिए समान विचार वाले समूहो और दलो से हाथ मिलाने को तैयार हो। अध्याय ५ मे हमने भारतीय व्यवस्था में केन्द्र और राज्यो में सहयोग के महत्त्व पर प्रकाश डाला है। केन्द्र के लिए आवश्यक है कि वह राष्ट्रीय नीतियो और समस्याओ के लिए राज्य या प्रदेश के दलो से साथ या गठबधन करने को तैयार हो। इससे सत्ता का सघर्ष नीतियो के सघर्ष का रूप धारण करेगा और प्रादेशिक पार्टिया और राज्यो की विपक्षी दलो की सरकारें केन्द्र से ऐसे मामलो में सहयोग करने को तैयार हो जाएगी जिनका सबध एक राज्य या प्रदेश से न होकर सारे देश से हो। ऐसा होने से केन्द्र और राज्यो के बीच समझौता और लेन देन होगा और राज्यो का केन्द्रविरोधी रुख नरम हो जाएगा। ऐसा न होने से केन्द्र की सत्ता कमजोर हो जाएगी।

---

८ राजनैतिक की सूझ के मुकाबले आलोचक के निष्कर्ष का क्या मूल्य है इस पर विचार के लिए देखें-माइकेल ओकशाट- 'पोलिटिकल एजुकेशन'- लदन स्कूल आफ इकनामिक्स में उद्घाटन भाषण (कैम्ब्रिज १०५१)।

राज्यो के प्रति नीति

राज्या का किन बाता पर केन्द्र से विरोध हो सकता है, इसकी काफी जानकारी उपलब्ध है और गृह मत्रालय या मन्त्रिमडल सचिवालय में एक विशेष विभाग होना चाहिए, जो इन बाता का अध्ययन करके राज्या के प्रति उचित नीति तैयार करें। इसी के साथ ऐसी प्रणाली आर सस्थाए बनाने की जरूरत है जिससे सभी प्रमुख दला को सरकारी प्रक्रियाआ मे भाग लेने का अवसर मिले। न केवल इस बात की उपेक्षा की गयी है अपितु अक्सर अपने दल वालो के दवाव से केन्द्र ने राज्या के प्रति विरोध का रुख ग्रहण किया है, जिससे इस प्रकार के आरोप और प्रत्यारोप किए गए है कि अमुक वामपक्ष या दक्षिण पक्ष सविधान की व्यवस्था की जड खोदने की कुचेष्टा कर रह है।[१] व्यवस्था को कायम रखने की खातिर भी यह जरूरी है कि चुनाव में सफल होने वाली पार्टी को सवैधानिक तरकीबा से अपदस्थ करने या सत्ता से दूर रखने का प्रयत्न न किया जाए, जैसा १९५९ में केरल में आर १९६७ में बगाल मे हुआ। दल के हित का ध्यान न रखने की आशा न करते हुए भी, इतना तो कहा जा सकता है कि विपक्षी दला की सरकार के प्रति केन्द्र न केवल न्याय आर ईमानदारी का बर्ताव करे वरन ऐसा प्रतीत भी हो कि ईमानदारी की जा रही है। यह आदर्श की नही समझदारी की बात है और इसी प्रकार केन्द्र की शक्ति व प्रतिष्ठा बढ सकती है।

भारत की राजनैतिक व्यवस्था मे एकात्मक शासन की प्रवृत्ति अन्तर्निहित है। केन्द्र की कमजोरी राज्यो के दवाव के कारण न होगी, वरन उनकी उपेक्षा करने स होगी। अब तक व्यवस्था ने निचले स्तरो पर नए कार्यकर्ताआ या समूहो को राजनीति में आने का मौका दिया है और इस प्रकार राजनैतिक ढाचे का विस्तार होता रहा है। इससे भी बडा और कठिन काय है, विरोधी तत्त्वा का व्यवस्था में विभिन्न स्तरा पर स्थान देना। ये विरोधी तत्त्व केन्द्र और राज्या में काग्रेस व विरोधी गुटा से लेकर 'नक्सली' और दक्षिणपथी सम्प्रदायवादी है। भारत की सघीय या सबदल व्यवस्था में, इनको स्थान देने की जितनी शक्ति होगी उतना ही इनस खतरा कम होगा। भारत की क्रमिक विकास पद्धति की यही असली कसौटी है।

इसके लिये ऐसे राजनैतिक केन्द्र की आवश्यकता है जिसे प्रदेशा म समर्थन प्राप्त हो। १९६७ से इस केन्द्र पर दबाव बढता रहा है। काग्रेस के अन्तर्विरोध स यह लाभ हुआ कि उससे नीतिया के स्पष्ट होने का मौका मिला, पर केन्द्र या

---

१ इसी कारण मार्क्स कम्युनिस्टों ने अपने चुनाव कार्यक्रम में केंद्र-राज्य सबध के प्रश्न को भी शामिल किया है। कोई कारण नहीं कि यह समस्या व्यक्तिगत बातचीत और लेनदेन से हल न हो सके। १९६७ के बाद प्रधानमत्री इदिरा गांधी ने गैर-कांग्रेसी मुख्य मत्रियों को सहयोग का आश्वासन दिया था। यह प्रस्ताव कुछ ठडा पड गया है, इसे जारी रखना चाहिए।

सर्वोच्च स्तर पर इस प्रकार का विरोध अधिक दिना तक चलता रह तो उससे अनिश्चितता पैंदा हो जाती है। इसका सबसे अच्छा उपाय हे, समान विचार के या निकट के गुटा व दलो का गठबधन। इससे सरकार म स्थिरता आनी है और महत्त्वपूण निणय करने और उनको लागू करने की शक्ति प्राप्त होती ह। लाकतत्री राजनीति सवत्र यही गठबधन की नीति है। इसमे कठिनाइया भी आती है। एक तो गठबधन के नेताओ का मिल कर 'टीम' की तरह काम करना, दूसर, इस टीम पर विभिन्न स्तरा और वर्गो से दबाव को समालना। ये कठिनाइया स्वाभाविक ह और यदि सामूहिक नेतत्व या टीम की भावना कायम रही, तो दूसरी कठिनाई भी सभल जाती है। इस प्रकार प्रदेशा का मिला कर चलने के लिए एक प्रभावशाली केन्द्र का होना आवश्यक है।

सामाजिक एकीकरण

यही बात सामाजिक एकीकरण पर भी लागू होती है। भारतीय राजनीति की एक कठिन समस्या जा लोकतन्त्र के विस्तार के साथ साथ ओर कठिन होती जायेगी, अल्पसख्यक सप्रदायो की विशेषत मुसलमाना की समस्या है, कि वे बराबरी के दर्जे पर सक्रिय नागरिक के रूप मे देश की राजनीति म स्थान ग्रहण करें। गावो के मुकाबले शहरा में यह समस्या ज्यादा कठिन होती है। जैसा हमने अध्याय ४ में दखा मुसलमानो में आतमविश्वास बढा है और उन्होने अपना राजनैतिक सगठन करना शुरू किया ह। पर इसके प्रतिक्रियास्वरूप साप्रदायिक तनाव और सघष भी बढे हैं। जनसघ से लेकर कम्युनिस्ट और काग्रेस के एक वग ने भी इसका लाभ उठाने की कोशिश की है। एक तो अभी मुसलमान स्वय अपनी स्थिति निश्चित नही कर पाए ह, दूसरे पाकिस्तान का भी उनके ऊपर खिचाव पडता ह। इस स्थिति से राजनैतिक उलझन हुई है। स्थानीय असतुष्ट और उपद्रवी गुटो के अलावा कुछ राजनैतिक गुट ऐसे भी हैं, जो राष्ट्रीय एकता का भग करने और केन्द्र को कमजोर बनाने की कोशिश कर रहे ह। ऐसी हालत में अल्पसख्यका की समस्या का सावधानी से अध्ययन करना, नौकरी आदि के मामला मे उनकी उचित शिकायता को दूर करना और राष्ट्रीय हित के लिए उनका सहयोग प्राप्त करना वाछनीय है।

देश में जो और बुनियादी प्रवृत्तिया चालू ह उनकी ओर ध्यान दना और उनके सबध में उचित नीतियो को तैयार करना भी जरूरी है। ये प्रवृत्तिया जनसख्या के वितरण, शहरों और गावा के विकास, युवा वग के उपयोग, आर्थिक नीति और विदेश नीति और विदेशी आर्थिक नीति सबधी हैं।

देश की जनसख्या के नगरा और गावा में वितरण के सबध में सावधानी से एक निश्चित नीति बनाना जरूरी है। भारत में गावा की वतमान प्रधानता का बनाए

रखते हुए, आधुनिक साधनो से उनकी उन्नति करनी चाहिए और इस प्रकार उनके जरिये देश का तेजी से आधुनिकीकरण करना चाहिए। इसी के साथ साथ महा नगरो और नगरो का ऐसा विकास करना चाहिए कि वे आधुनिकीकरण और प्रगति के केंद्र बन जाए। आधुनिकीकरण के बारे मे कुछ लोगो की धारणाओ के प्रति कूल औद्योगिक समाज से उन्नतिशील और सपन्न ग्राम व्यवस्था का कोई विरोध नही है। बल्कि ऐसे ग्राम औद्योगिक व्यवस्था के सुदढ आधार हो सकते है। १८ वी और १९ वी सदी में औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप यूरोप मे नगरो में श्रमिको की भीडभाड हो गयी और उसमे उनकी जो दुर्दशा और आर्थिक शोषण हुआ, और परिणामस्वरूप जो उथल पुथल हुई, उसे यहा बचाया जा सकता है, और सरकार को उपलब्ध आधुनिक साधनो से नगरो का ऐसा आयोजन किया जा सकता है जिससे देश की शक्ति बढे। अगले दो दशको में भारत में जनसख्या के वितरण में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होगे। यह हमारे ऊपर है कि हम इनको ठीक दिशा में ले जाए या इन्हे अपना खतरनाक रास्ता पकडने दें।

गावो का ढाचा

खेती में जो क्रांति हुई है उससे एक प्रश्न यह उठता है कि क्या अग्रगामी इलाको से पिछडे इलाको में इस क्रांति का प्रसार हो रहा है? दूसरा प्रश्न सामाजिक न्याय का है। क्या विकास के इन कार्यक्रमो से गाव के सभी लोगो को, भले ही कम या ज्यादा फायदा पहुच रहा है? जहा ज्यादा और जल्दी नतीजा निकलने की सभावना हो, ऐसे क्षेत्रो मे भरपूर खेती के साधन जुटाने की नीति में परिवर्तन न करते हुए भी, ऐसी कार्रवाई करनी चाहिए कि गावो में विषमता और सघर्ष घटे। छोटे किसानो को बडे किसानो से कुछ ज्यादा बढावा और साधन देने की नीति अपनाई जानी चाहिए और वितरण की ऐसी नीति चालू करनी चाहिये, जिससे बहुसख्यक भूमिहीनो, मजूरी करने वालो और अधबटाइदारो को लाभ हो। समाज के गरीब वर्गों पर विकास का क्या बोझ पडता है इस ओर ध्यान न देने और सरकारी नीति पर सपन्न वर्गों का प्रभाव होने से अन्य देशो में बडा जन विक्षोभ और आदोलन हुए है। क्रमिक विकास की नीति पर कायम रहते हुए भी सरकार को समय रहते इस ओर ध्यान देना चाहिए। वरना अनेक तलगाना और नक्सलबाडिया सामने आएगी,[10] गावो मे क्षुब्ध और वचित वर्गों की भीड गहरा

---

१० स्वतत्रता के तुरत बाद आंध्र के तेलगाना इलाके में कम्युनिस्टों के नेतृत्व में सशस्त्र विद्रोह हुआ था। इसे दबा दिया गया। वर्तमान तेलगाना आदोलन से इसका कोई सबध नही। इस प्रकार १९६७ में वामपथी मोरचे की विजय के बाद पश्चिम बगाल के अत्यन्त उग्रवादी कम्युनिस्टों ने नक्सलबाडी में भूमिहीनों के ऊपर धनी जोतेदारों की ज्यादती से उत्पन्न क्षोभ का लाभ उठा कर सशस्त्र विद्रोह कर दिया। इसे सयुक्त मोरचा सरकार ने केन्द्रीय रिजर्व पुलिस की मदद से दबा दिया।

में आएगी और सामूहिक हिंसा की सभावना बढेगी।

नगरो का विकास

नगरो का विकास भारतीय आयोजन का सबसे उपेक्षित अग रहा है। काग्रेस के ऊपर शुरू से ग्राम विकास का आदश हावी रहा है और उसे गावो के वोटो की भी चिन्ता रही है, इस कारण शहरो की निरतर बिगडती हुई हालत पर वह ध्यान नही दे सकी। यह सही है कि गावो के मुकाबले शहरी जनसख्या बहुत थोडी है फिर भी यह कम नही। दूसरे शहर राजनीतिक गतिविधि के केन्द्र है। गावो के सगठनो और जातीय सघो के मुख्य केन्द्र शहरो में ही होते है। प्रादेशिक पार्टियो के मुख्यालय भी यही होते हैं। यहा थोडी सख्या के आदोलन भी बडा उग्र रूप और शक्ति प्राप्त कर लेते है (जैसे बबई में शिवसेना)। यह सर्वविदित है कि कलकत्ता में केंद्रीय सरकार के विरोध का सबसे बडा कारण वहा की भयानक समस्याओ की लगातार उपेक्षा है। इधर छोटे नगरो में जो साम्प्रदायिक दगे हुए है, उनमें भी बहुत कुछ हाथ उनकी गिरती हुई आर्थिक स्थिति और कामकाज के अवसरो का अभाव है।

पहले तो जरूरत शहरो के गरीब तबको की दशा सुधारने की है-निम्न मध्यम वग गरीब घरो के विद्यार्थी, अनुसूचित जाति के लोग और कारखानो के मजदूरो के अलावा अन्य प्रकार के मेहनत मजूरी करने वाले। इसका भार शहर के अधिक सपन्न वर्गों पर पडना चाहिए। दूसरी जरूरत नगरो की स्वशासन सस्थाओ को बढावा देने की है। इन सस्थाओ को विशेषकर बडे नगरो की सस्थाओ को राज्य सरकारो से स्वायत्तता मिलनी चाहिए और योजना के साधनो मे सीधा भाग मिलना चाहिए। नगरी सस्कृति का विकास तभी हो सकता है जब नगर निवासियो को जीवन की सुविधा हो और उनमें अपने नगर के प्रति प्रेम और गौरव का भाव हो। ऐसी नगर सस्कृति राष्ट्र की उन्नति मे महत्त्वपूर्ण योग दे सकती है।

युवावग

भारत के कालेजो व विश्वविद्यालयो की हालत देखकर बडी निराशा होती है। उनमें विद्यार्थियो की भीड, पढाई, खेलकूद चरित्रगठन के साधनो का घोर अभाव, घटिया और मुर्दादिल शिक्षक और दकियानसी पाठ्यक्रम और पढाई का नीचा स्तर। शिक्षा कमीशन की भारी भरकम रिपोर्ट को अलग अलग भागो में बाट कर एक एक सिफारिश पर कारवाई करनी चाहिए। इसी से सबधित विषय स्कूलो और कालेजो से निकलने वाले विद्यार्थियो का है (अध्याय नौ)। बानगी की पडताल से ज्ञात होता है कि साधारणत नया शिक्षार्थी वग उत्साह और आकाक्षा से परिपूर्ण होता है खास कर गरीब विद्यार्थी। परतु उसके इस उत्साह और आशा

का जब कोई दिशा नहीं मिलती तब वह हताश होकर असामाजिक कारवाइयों में लग जाता है। केन्द्र में एक शिक्षा और युवा सेवा मंत्रालय मौजूद है किंतु युवावर्ग की सेवा या उनकी शक्ति के उपयोग की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया है। देश के हित में आवश्यक है कि युवावर्ग के उत्साह, कर्मठता और प्रतिभा का उपयोग किया जाए। उससे राष्ट्रीय व्यवस्था को और बल मिलेगा।

आर्थिक विकास

मुख्य बात यह ध्यान रखने की है कि भारत की राजनैतिक व्यवस्था के भाग्य का निर्णय कारखाना और खेतों में होगा। यह इस बात पर भी निर्भर है कि उसकी आर्थिक नीति के निर्माता राजनैतिक प्रश्नों को कितना समझते हैं।

मुख्य प्रश्न ये हैं – (१)आधुनिक टेक्नीक का किस तरह उपयोग करना कि गावों और शहरों में एक-सा ढांचा बना रहे। (२) आर्थिक योजनाओं के जरिये किस प्रकार अधिक से अधिक रोजगार बढ़ाया जाये। (३) शिक्षा के प्रसार के साथ साथ रोजगार के अवसर किस प्रकार बढ़ाए जाएं। (४) आर्थिक विकास से गावों और शहरों में जो विषमता उत्पन्न होती है उसे कैसे रोका जाए। (५)साधनों का किस प्रकार संचय और प्रयोग किया जाए जिससे ये राजनीतिक उद्देश्य सिद्ध हों।

इन प्रश्नों को बिना विलंब दूरदर्शिता से सुलझाना चाहिए। भारत के अर्थवेत्ता और आर्थिक प्रशासक संसार में किसी से कम नहीं। शोध और जानकारी प्राप्त करने का उन्होंने बहुत ही अच्छा प्रबंध किया है, और विकास कार्य के प्राविधिक ज्ञान का प्रयोग करने के लिए काफी कारगर कदम उठाये गये हैं। कमी सिर्फ इस बात की है कि समस्याओं के उठने के बाद उनका उपाय करने के बजाय पहले से सोच विचार कर लंबे या दीर्घकालिक विकास की नीति बनायी जाए। साथ ही इन समस्याओं को प्रशासन तंत्र के भरोसे न छोड़ दिया जाए। जब जल्दीबाजी में चालू ढंग का काम होता है तब अफसरों के भरोसे काम छोड़ने की प्रवृत्ति और अधिक रहती है और सोचने या नए उपाय करने का कष्ट नहीं उठाया जाता। इस बात की अत्यंत आवश्यकता है कि हर मुख्य योजना या प्रस्ताव की इस दृष्टि से परीक्षा की जाये कि पूरी व्यवस्था पर उसका क्या प्रभाव पड़ेगा। योजना कमीशन के पर्सपेक्टिव प्लानिंग विभाग में या प्रधानमंत्री के सचिवालय में इसके लिए एक राजनैतिक टुकडी होनी चाहिए। इसका अध्ययन आर्थिक विकास के राजनैतिक पक्ष का विशेषज्ञ हो तो अच्छा है।

विशेष वर्ग

एक तरीका यह हो सकता है कि जनसंख्या के विशेष वर्गों के लिए विशेष योजनाएं बनायी जाए--जैसे शिक्षित युवा और शिक्षित बेरोजगार, शहरों के निम्न

मध्यम वर्ग, छोटे और भूमिहीन किसान, अनुसूचित और अन्य छोटी जातिया, आदिवासी और अल्पसंख्यक सप्रदाय। आर्थिक विकास से इन वर्गो पर विशेष दबाव पडता है, इनकी विशेष समस्याए उत्पन्न होती है, जिनसे असतोष और विरोध बढता है। इसलिए इन वर्गो की समस्याओ पर विशेष ध्यान देने की जरूरत है।

गभीर त्रुटिया

देश के विकास की सस्थाओ में शिक्षा और सार्वजनिक प्रशासन बहुत महत्त्वपूर्ण हैं, और इन दोनो का ह्रास हो रहा है। सब से बुरा हाल है शिक्षा का। प्राय हर स्तर पर और हर प्रदेश में दकियानूसी पाठ्यक्रम, अशिक्षित अध्यापक, घोर कुव्यवस्था और कल्पनाशून्य नीति है जो हर नयी बात का विरोध करती है। सुधार के उपाय भी सुज्ञात है। शिक्षा कमीशन की रिपोर्ट में बहुत सी सिफारिशें है, मगर इनको कार्यान्वित करने का कोई जरिया नही। केंद्रीय शिक्षा मत्रालय नौकरशाही और अयोग्यता का नमूना है। विश्वविद्यालयो की हालत भी बुरी है। इनके ऊपर शिक्षा अनुदान आयोग की नौकरशाही हावी है। उत्तम अध्ययन के नमूनो के रूप में जो उच्चतर शिक्षा केंद्र खोले गये थे वे भी विश्वविद्यालय के पिछडे हुए विभागो के ही विस्तार-मे है। स्कूली शिक्षा की हालत तो कहने लायक नही। इसमें तो आमूल परिवर्तन होना चाहिए। मगर जब तक कि शिक्षा मत्रालय का ढाचा और उसके कार्यक्रम की प्राथमिकताएँ एकदम नही बदल जाती सुधार की कोई आशा नही।

सार्वजनिक प्रशासन का हाल भी बुरा है। ऊपर से जो नई नीतिया और साहसिक प्रयोग किए भी जाते है वे नौकरशाही के दलदल मे फस कर ठीक ढग से कार्यान्वित नही हो पाते। उदाहरण के लिए, बैंको के राष्ट्रीयकरण के समर्थको को भी आशका थी कि इस कारवाई का लक्ष्य पूरा न होगा, क्योकि बैंक सरकारी विभागो की तरह सुस्ती से काम करने लगेगे। विदेशी राज्य के समय का प्रशासनिक ढाचा देश के नवनिर्माण के लिए अनुपयुक्त है। इसके लिए प्रशासको मे विकास के लक्ष्यो में विश्वास और सेवा की भावना होनी चाहिए। नौकरशाही का पूरा ढाचा, मनोवृत्ति, प्रशिक्षण का ढग बदलना चाहिए।

यहा भी सुधार के उपाय सुविदित हैं। प्रशासनिक सुधार कमीशन और अन्य अनेक जाच कमेटियो ने बुनियादी सुधारो की ओर इगित कर दिया है। जरूरत यही है कि भारत सरकार अपनी पूरी शक्ति से इन म से सबसे जरूरी सिफारिशो को कार्यान्वित करे। गृह मत्रालय ने कई क्षेत्रो म अच्छा काम किया है किन्तु इस अत्यावश्यक विषय पर उसका ध्यान नही गया है। मगर कई दृष्टियो से यह अन्य सब बातो से ज्यादा जरूरी है।

बाहरी दुनिया में देश की प्रतिष्ठा से अक्सर आंतरिक मामलों में नयी नीतियों को शुरू करने का उत्साह या शक्ति भी प्राप्त होता है। इस दृष्टि से परराष्ट्र सबंधों का महत्व है।

हमने देखा कि नेहरू के युग में परराष्ट्रनीति में देश की स्वतन्त्रता और प्रतिष्ठा बढ़ाने में और पूर्तिमान में विश्व-नीति सफल सिद्ध हुई थी, यद्यपि हमारा आर्थिक और प्राविधिक आधार कमजोर था और बड़े राष्ट्रों की सत्ता से एक खतरा उत्पन्न हो गया था। मगर नेहरू के बाद अंतर्राष्ट्रीय स्थिति पर हमारी पकड़ ढीली पड़ गयी है। हमने दबाव का भी अपनी मर्यादा से ज्यादा अपना लिया है। चीन और पाकिस्तान से विरोध, युद्ध में कमी आने के बाद अमरीका और रूस दोनों से हमारे संबंध में परिवर्तन और जरूरी वस्तुओं के आयात के लिए इन पर निर्भरता, से अंतरराष्ट्रीय मामलों में देश की स्वतन्त्रता कम हुई है। लेकिन इधर हमारी आंतरिक स्थिति सुधरी है। खाद्य की समस्या अब इतनी विकट नहीं कि कोई देश हमारे ऊपर दबाव डाले, हमारी रक्षा-व्यवस्था भी ज्यादा मजबूत हुई है, बड़े राष्ट्रों की ओर से हमारा गलतफहमी दूर हुई है हमें वास्तविकता का बोध हुआ है, और अपने ऊपर भरोसा करने की प्रवृत्ति पैदा हुई है।

मगर वास्तविकता का बोध होने का यह मतलब नहीं कि हम डर डर कर चलें। हम आत्मनिर्भरता और परराष्ट्र संबंधों में स्वतन्त्रता का मूल्य चुकाने को तैयार होना चाहिए और अपना प्रभाव-क्षेत्र बनाने का यत्न करना चाहिए। भारत जैसा देश सब से अलग नहीं रह सकता। हम अभी विश्वशक्ति का पद प्राप्त न कर पाए हों, किन्तु हमारी औद्योगिक और सैनिक क्षमता का विकास हुआ है और चारों ओर जो शक्तिशून्यता की स्थिति है, उसे देखते हुए, हम अपने क्षेत्र में अपना प्रभाव डाल सकते हैं।

ऊपर हमने कहा है कि बाहरी दुनिया में प्रतिष्ठा से आंतरिक मामलों में बल प्राप्त होता है, उसी तरह आंतरिक नीतियों से भी बाहरी प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। इसलिए आंतरिक क्षेत्र में हमें जो काम करने हैं, उनका हमारी विदेश नीति से भी सीधा संबंध है।

विदेशी सहायता

विदेशी सहायता के बारे में भी हमें अपना रुख बदलना होगा। अब तक हमारा रुख दूसरे देशों का मुंह जोहने का रहा है। वास्तव में आर्थिक और टेकनीकी दृष्टि से अब हम इतने परमुखापेक्षी नहीं रहे। हमें देश की प्रौद्योगिक क्षमता के विकास पर अधिक ध्यान देना चाहिए और इसी के बल पर अपना आर्थिक विकास करना चाहिए। इसमें विदेशी व्यापार की आमदनी अवश्य सहायक होगी। इसलिए

हमें विदेशा में अपने माल का बाजार खाजना चाहिए। (इससे आतरिक व्यापार व उद्योग का भी वल मिलेगा।) अव तक हम विदशी सहायता की दष्टि मे अपना कायक्रम बनाते रहे हैं, देश की जरूरत का ख्याल रग कर नही। हम यह नही कहत कि विदेशो सहायता एकदम से बद कर दी जाए पर हमारा यह जरूर कहना ह कि हमें भीख मागने की मनावृत्ति छोड देनी चाहिए और देश की जरूरत का अनुमान कर के उसी आधार पर विदेशी सहायता क लिए सौदा करना चाहिए, और इस ध्यापक अतरराष्ट्रीय नीति क सदभ में देखना चाहिये।

विदेशी सहायता लेत समय हमें देश पर पडने वाले उस के दूरगामी प्रभाओ का भी सोचना चाहिए। विदेशी सहायता स हाने वाले तात्कालिक लाभ क फेर में हमें देश पर कज का भारी भार न लाद देना चाहिए जिसका चुकात चुकाते नाक में दम आ जाए। आर्थिक विकास क लिए विदेशी सहायता स भी अधिक महत्त्व आत्मसम्मान का ह। भारत का भविष्य बहुत कुछ उच्च वग और नेता वग के मनाबल पर निभर है। लबी आर्थिक परनिभरता स यह मनोबल और आत्मसम्मान क्षीण होता है। इसलिए *विदेशी सहायता के साथ यदि ऐसा शर्तें लगायी जाएँ जा* हमार आ मसम्मान के विपरीत हा ता हमें उसे अस्वीकार कर देना चाहिए। यही बात रहतिया या पुराने पडे विदेशी हथियारा और मशीना की खरीद के लिए दवाव पर भी लागू हाती है।

अगला चरण

ऊपर भविष्य की समस्याआ और उन के सदभ में नीतिया पर जो विचार किया गया है उससे यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि विकास के क्रम में कोई अनिवायता नहीं है। यह बहुत-सी बाता पर निभर है, यदि अमुक बात न की गयी तो अमुक परिणाम निकल सकता है। जब समस्याआ का इस रूप में देखा जाता ह कि हमे क्या क्या काम करने है तो पता चलता है कि इन में कोई काम असभव नही। इसलिए हमने जो त्रुटिया दिखाई है, उसस यह न समझना चाहिए कि हम स्थिति को निराशाजनक समझत ह। हमारी आलोचना को इस पुस्तक म किए गए व्यापक विवेचन के परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिये। हमारे विवेचन मे भारतीय व्यवस्था की महान क्षमता की ओर इगित किया गया ह और दिखाया गया ह कि किस प्रकार १९४७ मे भारतीय समाज ने अपने लवे इतिहास का एक नया अध्याय शुरू किया ह और अब तक काफी कर दिखाया है। मगर इस विवेचन म यह भी जाहिर होता है कि अब हम राजनैतिक विकास के एक नए नाजुक दौर म प्रवेश कर रह है, तथा स्थिति पर नए सिरे स विचार करने और नई नीतिया शुरू करने की जरूरत है।

भारत की राजनतिक पद्धति बुनियादी तौर पर सही है। भारतीय व्यवस्था की

विशेषता और मजबूती उस की विविधता और विभिन्न वर्गों की विशेषता को कायम रखते हुए उनको राष्ट्रीय धारा में सम्मिलित करने की नीति है। यह उदारता और मनुष्यता की नीति है। मनुष्य को राज्य की मशीन का पुर्जा बना देने और एक साँचे में ढालने की पश्चिम की नीति का अनुकरण हमारे भारतीय आधुनिकवर्ताओं को न करना चाहिए उनको अपना रास्ता स्वयं निकालना चाहिए। संरक्षण और नवीनता एक ही क्रिया के दो पहलू हैं। बिना नवीनता लाए और परिवर्तन किए, परंपरा का संरक्षण संभव नहीं।

विशिष्ट वर्ग की भूमिका

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था की जड़ें काफी फैल चुकी हैं, फिर भी इसका भविष्य इसके राजनीतिक प्रशासनिक और बौद्धिक नेतावर्ग की रचनात्मक प्रतिभा पर निर्भर है।

इसी विशिष्ट वर्ग का यह काम है कि वह स्थिति की समीक्षा करता रहे और नयी स्थितियों के अनुसार नीतियों को बदले और परिवर्तन की गति को तेज करे, तथा देश के विभिन्न वर्गों को इसके लिए मानसिक रूप से तैयार करे। इस काम में नेतावर्ग को परिवर्तन के लिए आतुर और विद्रोह पर उन्मुख बौद्धिक वर्ग, शिक्षित बेरोजगारों की बहुसंख्या भूमिहीन और छोटे किसान और खलबलाते हुए छात्र और युवजन से सहयोग मिल सकता है। सत्ता बनाए रखने के लिए दल के अंदर जोड़तोड़, विदेशी शक्तियों और बौद्धिकों से पथप्रदर्शन और साधन की याचना और चुनाव में हार का डर छोड़ कर नेताओं को अधिक आत्मविश्वास के साथ काम करना चाहिए।

हमने देखा है कि समय समय पर उठने वाले संकटों से व्यवस्था को कुछ कर दिखाने की प्रेरणा मिली है, किंतु संकटों के भरोसे बैठे रहने से समाज में निराशा और व्यवस्था पर अविश्वास बढ़ेगा। जैसा स्वतंत्रता के पहले कुछ वर्षों में किया गया था, आने वाली कठिनाइयों का पहले से अनुमान लगा कर उपयुक्त नीति बनानी चाहिए और उसपर अमल करना चाहिए। इससे जब संकट उठते हैं तो नीति में व्याधात नहीं आता, और राजनीतिक जुआ खेलने की प्रवृत्ति दबी रहती है।

नेतृत्व की कसौटी

ऊपर जिन समस्याओं का संकेत किया गया है और उनसे निबटने के लिए जिस सक्रिय नीति का और शासन की रीतियों में परिवर्तन का सुझाव दिया गया है, क्या वैसा करने की क्षमता सत्तारूढ़ कांग्रेस के नेताओं में है? क्या वे नयी नीतियों के लिए संसद और जनता से समर्थन प्राप्त कर सकते हैं? या कांग्रेस में और फूट बढ़ेगी और इससे सरकार में अस्थिरता आएगी? क्या इंदिरा गांधी नयी

जदाता

हमें ऐसे

उस सम

१९६७ में

बल्कि देश के

उन्हीं के नेतृत्व में

चलने में

का निस्संदेह

चुनौती बनी

मालूम देने

अच्छा

इसके

में

है।

नेतृत्व

सिल	११	११		
	३६१	२८४	२९	५२

१— कम्युनिस्ट में मार्क्सवादी भी शामिल हैं। मो...
...र आयोग की रिपोर्ट से, लिए गए हैं।

रह है। हर जगह विवेक और परिवतन की शक्तियो की टक्कर अविवेक और प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तियो से हो रही है। इस विश्व-सदभ में भारत की राजनतिक चुनौती एक व्यापक महत्त्व प्राप्त कर लेती है। यदि जो व्यवस्था इसने अपनायी है वह इन चुनौतिया का सफलता से सामना करती है तो दूसरे देशा म भी इसका प्रभाव पडेगा। इसी प्रकार यदि यह विफल होती है तो सभव है कि दूसरे स्थाना में भी विवेक और सुधार के समथका की हार हो जाए।

आदश व्यवस्था की ओर

भारत में जो ऐतिहासिक परिवतन हुआ है, उसकी प्रेरक शक्ति लोकतत्र का आदश है। इस आदश के प्रति उत्साह को कसे जीवित रखा जाए, यही प्रश्न है। भारत के महान नेता जवाहरलाल नेहरू के हृदय में यही आग जलती थी कि किस प्रकार राष्ट्र का नवनिर्माण हो, जिससे वह अपने लक्ष्य को पा सके। उनकी मत्यु के बाद उनकी मेज पर पायी गयी राबट फ्रास्ट की इन पक्तिया में उनकी यही भावना प्रतिध्वनित होती है—

> बुलाता सघन वन ये सुदर सुहाना
> मुझे किंतु वादे हैं अपने निभाना
> औ सोने से पहले बहुत दूर जाना
> औ सोने से पहले बहुत दूर जाना।[11]

पश्चिम ने पहले लक्ष्य को पा लिया है और अब इसे इनकी साथकता पर सदेह हो रहा है, किंतु भारत को अभी बहुत दूर चलना है। मजिल कठिन और दूर है, समय कम है और ठोकरें भी लग सकती ह, मगर इसमें रुकने या सुस्ताने का समय नही। नेहरू के शब्दा में, "हमे भारत के भविष्य का निर्माण करना है। मेरे ऊपर, हमारे ऊपर, और इस ससद के ऊपर इतिहास न यह भार डाला है। इसी भावना से मैं इस समस्या का सामना करता हूँ।"[12]

नेहरू के बाद की पीढी पर भी इतिहास का यह भार है। बुजुर्गों के इस महान स्वप्न का साकार करने के लिए इसको इस रूपम देखना होगा कि क्या काम करना है, किन लोगा को साथ लेना है, और फिर सूझ-बूझ स इनको कार्यान्वित करना है तथा इस प्रकार देश ने जिस व्यवस्था का अपना भाग्य सौंपा है, उसका सफल बनाना है। अतीत का अनुभव इस काय में बहुत सहायक होगा, पर वह भविष्य के लिए पूरी तरह पथप्रदशन नही कर सकेगा।

११ कम्प्लीट पोएम्स आव राबर्ट फ्रास्ट, स्टापिंग बाइ उड्स आन ए स्नोइ इवनिंग' कापीराइट १९२३, होल्ट, रीनार्ट एड विंस्टन इन कापीराइट १९५१ राबर्ट फ्रास्ट, होल्ट रीनार्ट ऐंड विंस्टन इन तथा लारेंस पोलिंगर लि की अनुमति से पुनमुद्रित।

१२ 'द न्यू इण्डिया प्रोब्लेम्स भू डेमोक्रेसी' (दिल्ली-१९५७)।

तालिका भाग १ — १९६२–१९६७ में [illegible]

राज्य	कांग्रेस ६२–६७		कम्युनिस्ट ६२–६७		[illegible] ६२–६७		[illegible] ६२–६७		[illegible] ६२–६७		[illegible] ६२–६७		[illegible] ६२–६७	
असम	६	१०	—	१	३	३	—	—	—	—	१	१	—	—
आंध्र प्रदेश	३४	३४	३	१	—	—	१	३	—	—	—	—	१	३
उड़ीसा	१८	६	—	—	२	१	—	८	—	—	४	—	—	१
उत्तर प्रदेश	६२	४७	२	५	३	१०	३	१	३	१२	४	१	१	[illegible]
केरल	६	१	६	१९	—	१	—	—	—	—	१	३	१	१
गुजरात	१६	११	—	—	१	—	४	१२	—	—	१	—	—	१
जम्मू-कश्मीर	—	५	—	—	—	—	—	—	—	—	—	१	—	—
नागालैंड	—	१	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—
प. बंगाल	२२	१४	६	१०	—	३	—	—	—	—	१	३	[illegible]	३
पंजाब	१०	६	—	—	—	—	—	—	—	१	१	१	—	—
बिहार	३९	३४	१	५	१	८	३	—	—	१	१	१	—	४
मद्रास	३१	३	२	४	—	—	—	६	—	—	—	२५	—	१
मध्य प्रदेश	२४	२४	—	—	४	—	—	१	१	१०	१	—	४	
महाराष्ट्र	४१	३७	—	२	१	१	—	—	—	—	—		२	१
मैसूर	२६	१८	—	—	—	१	—	५	—	—	१	—	—	१
राजस्थान	१४	१०	—	—	—	—	३	८	१	१	१	—	३	२
हरियाणा	३	७	—	—	१	—	—	—	१	१	१	—	—	१
केन्द्रशासित	११	१२	२	१	१	—	—	—	—	३	—	१	—	३
योग	३६१	२८४	२९	४२	१८	३६	१८	४४	१४	१५	१६	४४	२०	३६

नोट — कम्युनिस्ट [illegible] [illegible]
[illegible] में, [illegible] है।

तालिका ७ – चुनाव परिणाम १९६२–६७ राज्यों की विधानसभाओं में दलों की स्थिति

राज्य	कांग्रेस १९६२	१९६७	कम्युनिस्ट ६२	६७	सोशलिस्ट ६२	६७	स्वतंत्र ६२	६७	जनसंघ ६२	६७	अन्य ६२	६७	निर्दल ६२	६७
असम	७८	७९	—	७	६	९	—	२	—	—	१२	९	८	२५
आन्ध्र प्र	१७७	१६५	५१	७०	७	१	१९	२९	—	३	—	१	५१	६८
उड़ीसा	८२	३१	४	८	१०	२३	—	४९	—	—	३७	२६	७	३
उत्तर प्र	२४९	१९९	१४	१५	६२	११	१५	१२	४९	९८	१०	१०	३१	३७
केरल	६३	९	२८	७१	२०	१९	—	—	—	—	११	१९	३	१७
गुजरात	११३	९३	—	—	७	३	२६	६६	—	१	१	१	७	५
जम्मू कश्मीर	—	६१	—	—	—	—	—	—	—	३	७३	८	२	३
पंजाब	४८	४७	९	८	—	१	—	—	५	९	१९	२९	५	१०
प बंगाल	१५७	१२७	५०	५९	५	१४	—	१	—	१	२९	८७	११	३१
बिहार	१८५	१२८	१२	१८	३६	८६	५०	३	३	२६	२०	१४	१२	३३
मद्रास	१३९	५०	२	१३	१	६	६	२०	—	—	७३	१३८	५	७
मध्य प्र	१४२	१६७	९	१	४७	१८	२	७	४१	७८	१६	२	३९	२२
महाराष्ट्र	२१५	२०३	६	११	१०	१२	—	—	—	४	१८	२४	१५	१६
मैसूर	१३८	१२६	३	२	२१	२६	९	१६	—	४	१०	१	२७	४१
राजस्थान	८८	८९	५	९	७	८	३६	४८	१५	२२	३	—	२२	१६
हरियाणा	३१	४८	—	—	४	—	३	३	४	१२	३	२	९	१६
केन्द्र शासित	३१	७७	—	६	—	४	—	१	—	७	४	२८	८	२७
योग	१९३८	१९९३	१९६	२४९	२३८	२८६	१६६	२५७	११६	२६८	३११	३४९	२६२	३७१

सारणी पार ३ – चुनाव का रुख लोकसभा और विधान सभाओं में सीटों और वोटों में कांग्रेस का प्रतिशत

राज्य विधान सभाएं १९६७ में	१९५२ वोट	१९५२ सीट	१९५७ वोट	१९५७ सीट	१९६२ वोट	१९६२ सीट	१९६७ वोट	१९६७ सीट
असम	४३.८१	७९ ३८	४९.३४	९१.९९	४८ ९५	७५ ९४	४३ ६०	७७ ९४
आंध्र प्र.	३१.५१	३८.३३	४१.७२	९१.७५	४७ ९५	५८ ००	४५ ४२	७७ ४८
उड़ीसा	३८.८९	६७.८९	३८ २१	[illegible]	४३ २८	७८ ५७	३० ६२	२२ १४
उत्तर प्र.	४७ ९३	९०.७७	४२.४२	९९.५९	३१ ३३	५७ ८०	३२ २०	४६ ८२
केरल	३५.७५	९८.९८	३७.८५	३५.१२	३४ ४२	५० ००	३५ ४३	९ ७७
गुजरात	५५.३१	८०.९८	५१.८०	७८ ९८	५० ८४	७३ ३८	४८ ९६	५५ ३६
पंजाब	३७.७१	५९.९५	४८ ५१	८९.५६	४५ ७४	५९ ९०	३७ ७४	४१ १८
प. बंगाल	३८.८९	९१.७५	४५.१५	६० ३९	४७ २९	६२ ३०	४१ १३	४५ ३९
बिहार	४१.३२	७५ ११	४१.२१	९९ ०५	४१ ३५	५८ १०	३३ ०१	४० ३५
मद्रास	३८.७१	५७.८३	४५.३४	७३ ६६	४६ ११	९७ ४८	४१ ३०	३१ ३७
मध्य प्र.	४४.४३	७९.५१	४८.४३	८० ५६	३८ ५४	४९ ३१	४० ९७	५९ ४२
महाराष्ट्र	४७ १४	८० ७९	४५.३१	५१ ५२	५१ ९९	८१ ४५	४७ ०३	७५ १८
मैसूर	४१ २८	७७ १०	४९ ०८	७९.६०	५० २२	६६ ३५	४० ४३	५० ३२
[illegible]	३९ ७१	५३ ६८	४५.१३	६७.६१	२९ ९०	५० ००	४१ ४२	४० ३७
[illegible]	४० ३१	८३ ६०	४५ ८४	७० ३१	५० ५२	५७ ०१	४१ ३३	५९ २९
[illegible]	४५ ९९	७५ ५५	४७ ४८	७५ १०	४५ ७२	७३ ०८	५० ७८	५४ ९२

[illegible] आंकड़ों को यथोचित रीति से नये राज्यों में जोड़ लिया गया है। [illegible] १९५७ के [illegible] शामिल हैं और केरल तथा उड़ीसा में १९६१ के [illegible] [illegible] से लिया गया।

सारणी पांच ४ — १९५२ से १९६६ तक कांग्रेस सरकारों में मंत्रियों में परिवर्तन

राज्य	व्यक्तियों में परिवर्तन (क)		
	मुख्यमंत्री	मंत्रिपरिषद् के मंत्री	अन्य मंत्री
असम	१	९	१०
आंध्र प्र	३	२६	१
उड़ीसा	४	२०	२
उत्तर प्र	३	१२	३३
केरल (ग)	४	२६	—ग
गुजरात	२	१९	२६
जम्मू-कश्मीर	३	१६	१२
पंजाब	२	१८	२४
प बंगाल	१	१६	३४
बिहार	२	१५	२१
मद्रास	२	१२	—ग
मध्य प्र	३	१७	२२
महाराष्ट्र	३	२९	३०
मैसूर	२	३०	८
राजस्थान	१	१८	१८

क — [illegible] पुनः [illegible] नहीं गिना गया है।

ग — [illegible]

ग — [illegible]

([illegible])

[illegible]

ग मं ता ७०

सारणी पाच ५ – पाच राज्यो में मध्यावधि चुनाव १९६७ और १९६८–६९

राज्य	कांग्रेस		कम्युनिस्ट		सोशलिस्ट		जनसघ		अयदल		निदल	
	६७	६९	६७	६९	६७	६९	६७	६९	६७	६९	६७	६९
हरियाणा स्थान	४८	४८	–	–	–	–	१२	७	५	२० वि	१६	६
वोट प्र श	४१ ३३	४३ ८८	१ ४४	० ४६	३ ७९	० ९७	१४ ३९	१० ४५	६ ०८	२७ १४	३२ ९७	१७ १०
उत्तर प्र स्थान	१९९	२११	१४	५	५५	३६	९८	४९	२२ स्व	१०७ भा	३७	१७
वोट प्र श	३२ २०	३३ ९८	४ ५०	३ ५५	१४ ०७	९ ५८	२१ ६७	१७ २६	८ २७	२५ ९३	१८ ६९	९ ७०
विहार स्थान	१२८	११८	२८	२८	८६	७०	२६	३४	१७जक्र	८९ जन	३३	१९
वोट प्र श	३३ ०९	३० ३०	८ १९	११ ३१	२४ ५८	१९ २१	१० ४१	१५ ९१	५ ८४	२ १६	१७ ८८	२१ ११
प वगाल स्थान	१२७	५५	५९	११०	१४	१४	१	–	४८ फा	७८ वा	३१	२३ दिव
वोट प्र श	४१ १३	४१ ३१	२४ ६४	२६ ९६	४ ०१	३ १७	१ ३३	० ८३	१५ ४१	१२ ९७	१३ ४९	१४ ७६
पजाव स्थान	४७	३८	८	६	१	३	९	८	२९ अ	४५ अका	१०	४
वोट प्र श	३७ ७४	३९ १९	८ ४६	७ ९१	१ २३	१ ३३	९ ८४	९ ०२	२६ ९८	३२ ३८	१५ ७६	१० २१

नोट – हरियाणा में म य चुनाव १९६८ में हुए थे। कम्युनिस्ट में मार्क्स वादी तथा सोशलिस्ट में स सो तथा प्र सो दोनों शामिल।

वि विशाल हरियाणा १६ स्थान १४ ८६ वोट प्र श
स्व स्वतन्त्र १२ स्थान ४ ७३ वोट, रिपब्लिकन पार्टी १० स्थान ४ १४ वोट
भा भारतीय क्रान्ति दल ९९ स्थान २१ २२ वोट
ज क्र जन क्रांति दल १३ स्थान १ ३३ वोट
जन जनता पार्टी १४ स्थान ० २८ प्र श वोट
फा ४ फारवर्ड ब्लाक १३ स्थान ४ ४३ प्र श बांगला कांग्रेस ३४ स्था १० १६ प्र श

रिव रिवोल्युशनरी सोशलिस्ट पार्टी १२ स्थान
अ अकाली २६ सीट २४ ६८ वोट
अका अकाली ४३ सीट २९ ५९ वोट
आकडे – रिपोर्ट फोर्थ जेन एलेक्शन १९६७ खड २
(एलेक्शन कमीशन १९६७ नई दिल्ली)
पी आइ बी भारत सरकार मध्यावधि चुनाव विज्ञप्ति।

सारणी पांच ६— पार्टी पसंद १९६७ (प्रतिशत)

	कांग्रेस	जनसंघ	स्वतंत्र	सोशलिस्ट दोनों	कम्युनिस्ट दोनों	द्र मुक	अन्य	निर्दल	कोई नहीं	पता नहीं याद नहीं इनकार
सब से ज्यादा [illegible]	४३ १	७ १	५ १	४ ६	४ १	३ ०	२ ५	३ ४	२६ २ वोट नहीं दिया	० ५
सन् १९६७ में जिस दल को वोट दिया (राज्य चुनाव)	४३ १	७ १	५ २	७ ४	५ ५	४ १	२ ३	७ ०	११ ८	६ ६
१९६७ में वास्तविक वोट प्राप्त (क) (राज्य चुनाव)	४० ०	८ ८	६ ८	८ ७	८ ७	४ ४	६ ०	१६ ७	—ख—	—

क - यह संख्या [illegible] की है।
ख - [illegible] वोट न देने वालों की संख्या नहीं दी गई। पर वास्तव में १८ प्र श मतदाताओं ने वोट नहीं दिया।
स्रत - [illegible] 'नेशनल इलेक्शन स्टडी १९६७'।

सारणी पाच ७ – काग्रेस के विरुद्ध शिकायत से सहमतिया असहमति (१९६७)

शिकायत	जोर से हाँ	हा	नही	जोर से नही	नही जानता
काग्रेस मूल्यवृद्धि नही रोक सकी	६१०	२३४	६८	१७	७१
काग्रेस खाद्य का वितरण ठीक न कर सकी	५१८	२३७	१३४	३१	८०
काग्रेस भ्रष्टाचार का उन्मूलन न कर सकी	५५५	२२६	७१	२०	१२८
काग्रेस अमन कानून कायम न रख सकी	३६९	२८५	१५७	४५	१४४
काग्रेस ने किसानो की मदत नही की	३८३	२१६	२१९	८०	१०२
काग्रेस देश को दृढ नेतृत्व न दे सकी	३५४	२७५	१३७	३७	१९७

नोट — ये प्रारभिक आंकड़े हैं (अधिकतर उत्तरदाता मर्द थे)।
सूत्र — सेंटर फॉर द स्टडी ऑफ डेवलपिंग सोसाइटीज़ दिल्ली 'नेशनल एलेक्शन स्टडी १९६७

सारणी पाच ८ – पार्टीवार तथा पेशेवार ससद सदस्यो का विवरण। चौथी लोकसभा, प्रतिशत मे

	जमीन	राजनैतिक सामाजिक मजदूर सगठनकार्य	वकालत	डाक्टर इजीनियर	शिक्षा पत्रकारी	व्यापार उद्योग	भूतपूर्व राजा	प्रशासन सेवा	अन्य
काग्रेस	३६ ८	१७ ०	२२ २	३ ९	९ ८	५ १	२ ५	२ ९	१ ८
स्वतत्र	४० ५	२ ४	१२	४ ८	२ ४	१६ ७	७ १	७ १	७ १
जनसघ	२२ ९	१९ ४	१३	३ ३	१२ ९	१२ ९	० ०	६ ५	६ ५
कम्यु इ	१० ५	७३ ७	० ०	० ०	१५ ८	० ०	० ०	० ०	० ०
कम्यु मार्क्स	० ०	८० ०	५ ०	० ०	१५ ०	० ०	० ०	० ०	० ०
ससोपा	४२ १	४२ १	५ ३	० ०	१० ५	० ०	० ०	० ०	० ०
प्रसोपा	२३ १	१५ ४	३८ ५	० ०	१५ ४	० ०	० ०	७ ७	० ०
द्रमुक	३७ ५	८ ३	१६ ७	० ०	१६ ७	१६ ७	० ०	४ २	८ ३
अन्यदल	१३	२१ ७	२१ ७	० ०	२६ १	१७ ४	० ०	० ०	० ०
निर्दल	१९ ३	१२ १	१९ ४	६ ५	१२ १	१६ १	१२ ९	३ ३	० ०
योग	३१ ३	२१ १	१७ ३	३ २	११ २	७ ८	२ ८	३ ०	२ २

स्रोत— रत्ना दत्त, द पार्टी रिप्रेजेन्टेशन इन फोर्थ लोकसभा इक ऐंड पोलि वीकली, धार, स १—२ जून १९६९।

सारणी पाच ९– पिछले अनुभव के हिसाब से सदस्यो का (४ थी लोकसभा) वर्गीकरण, प्रतिशत मे

	काग्रेस	स्वतन	जनसघ	कम्यु ई	कम्यु माक	ससोपा	प्रसोपा	द्रमुक	अन्य	निदल	योग
पिछला अनुभव विधायक के रूपमें											
कुछ नही	१५ ९	६४ ३	४८ ४	४७ ४	४५ ०	४२ १	३० ८	३३ ३	३९ १	३५ ५	२९ ३
केवल केन्द्रीय स्तर पर	२९ २	९ ५	६ ५	२६ ३	१० ०	५ ३	२३ १	२५ ०	२६ १	२९ ०	२३ ७
केवल राज्य तथा केन्द्र	२० ६	७ १	१९ ४	१५ ८	४० ०	३१ ६	२३ १	८ ३	१३ १	२९ ०	२० १
गाव जिला / म्युनिस राज्य तथा केन्द्र	३४ ३	१९ ०	२५ ८	१० ५	५ ०	२१ १	२३ १	३३ ३	२१ ७	१२ ९	२६ ९
मजदूर सगठन											
नही	७९ ८	८८ १	८७ १	२६ ३	३५ ०	४७ ४	६१ ५	७५ ०	७९ ८	८७ १	७५ ५
हाँ	२१ २	१२ ०	१२ ९	७३ ७	६५ ०	५२ ६	३८ ५	२५ ०	२० २	१२ ९	२४ ५
सहकारी सगठन											
नही	७९ ४	८३ ३	९० ३	९४ ७	९५ ०	८४ २	१००	८७ ५	१००	९३ ६	८४ ७
हाँ	२० ६	१६ ७	९ ७	५ ३	५ ०	१५ ८	०	१२ ५	०	६ ५	२५ ३

सूत्र — रत्ना दत्त, 'द पार्टी रिप्रेजेन्टेशन इन फोर्थ लोकसभा' इक ऐंड पोलि वीकली, चार, स १—२ जून १९६९।

सारणी पाच १० — पेशेवार पार्टीवार वोट (प्रतिशत में)

	काग्रेस	स्वतंत्र	जनसंघ	कम्यु इ	कम्यु मा	ससोपा	प्रसोपा	द्रमुक	अन्य	निदल	वोट नहीं दिया	मालूम नहीं
पेशेवर	३८ ५	००	१३ २	२ ६	५ ३	७ ९	२ ६	२ ६	२ ६	२ ६	१३ २	७ ९
व्यापारी	४७ ०	१ ७	७ ७	० ८	१ ७	५ १	३ ८	२ ६	६ ०	७ ७	१२ ८	३ ४
बुद्धिजीवी	३१ २	१ ४	१२ १	२ ८	२ ८	२ ८	३ ५	० ७	७ १	७ १	१७ ७	१० ६
कुशल कामगार	३९ ९	१ २	६ ८	१ ८	५ ३	३ ९	८ ३	५ ३	५ ७	६ १	१२ ३	५ ३
मामूली कामगार	६२ ६	२ २	६ ९	३ ३	३ ८	५ ५	२ ७	२ ७	१ १	७ ७	११ ९	६ ६
खुद काश्त	६६ १	८ ६	८ १	३ ६	१ ३	२ ०	२ ८	४ ९	० ७	६ ९	८ ४	६ ७
खेत मजदूर	६४ ३	६ ७	४ ०	३ ६	२ ०	५ ९	४ ३	४ ७	० ८	६ ७	१४ २	४ ७
बेरोजगार	२९ ६	३ ९	८ ८	२ ८	२ ९	६ ८	२ ०	२ ०	६ ९	६ ९	१४ ७	१४ ७

स्रोत — से फार स्टडी डेव सोसा दिल्ली, 'नेशनल इलेक्शन स्टडी १९६७' के आंकड़े।

सारणी आठ १ – भारत की भाषाएँ । १९६१

भाषाएँ	भाषाओं की संख्या	बोलने वाले	जनसंख्या का प्रतिशत
भारतीय आर्य	५७४	३२,१७,२१,०००	७३ ३
भीतरी उपशाखा		२१,२४,८२,०००	
* हिंदी		१३,३४,३५,०००	
* उर्दू		२,३३,२३,०००	
* गुजराती		२,०३,०४,०००	
राजस्थानी		१,४९,३३,०००	
* पंजाबी		१,०९,५१,०००	
पहाड़ी		८१,६२,०००	
अन्य		४९,७४,०००	
बाहरी उपशाखा		१०,९२,३९,०००	
* बंगला		३,३८,८९,०००	
* मराठी		३,३२,८१,०००	
बिहारी		१,६८,०७,०००	
* उड़िया		१,५७,१९,०००	
* असमिया		६८,०३,०००	
अन्य		३१,९९,०००	
द्रविड़	१५३	१०,७४,११,०००	२४ ५
* तेलुगु		३,७६,६८,०००	
* तमिल		३,०५,६३,०००	
* कन्नड		१,७४,१६,०००	
* मलयालम		१,७०,१६,०००	
अन्य		४७,४९,०००	
आस्ट्रो-एशियाई	६५	६१,९२,०००	१ ५
तिब्बती चीनी	२२६	३१,८४,०००	० ७

* संविधान की ८ वीं अनुसूची में उल्लिखित सेंसस आफ इंडिया १९६१, पार्ट दो सी (२ भाषा सारणी । हजार से कम-ज्यादा संख्याएँ हजार बना ली गई हैं ।

सारणी नं १ – भारत में नगरीकरण की दर १९०१ से १९६१

दशक	शहरों में जनसंख्या कुल का प्रतिशत	शहरी प्रतिशत में अंतर	शहरी प्रतिशत में अंतर का प्रतिशत
१९०१	१० ८४	–	–
१९११	१० २९	– ० ५५	– ५ ०७
१९२१	११ १७	+ ० ८८	+ ८ ५५
१९३१	११ ९९	+ ० ८२	+ ७ ३४
१९४१	१३ ८५	+ १ ८६	+ १५ ५२
१९५१	१७ २९	+ ३ ४४	+ २४ ८४
१९६१	१७ ९७ (१९ ०५)क	+ ० ६८ (+ १ ७६)क	+ ३ ९३ (+ १० १८)क

क–परिभाषा में परिवर्तन के हिसाब से ठीक किया, यह मान कर कि शहरों की परिभाषा १९६१ में वही थी जो १९५१ में थी।

आशीस बोस, 'सिक्स डिकेट्स आफ अर्बनाइजेशन इन इंडिया १९०१-१९६१' – द इंडियन इक० ऐंड सोशल हिस्ट्री रिव्यू, वो स १, जन १९६५।

सारणी नौ २ – बड़े नगरो मे प्रवास पेशेवार (प्रतिशत)

नगर	काश्तकार	खेतमजदूर खेतिहर, मछुए	पेशेवर, क्लर्क, दूकान विक्रेता	खनिक, परिवहन, व्यापार, कारीगर	सेवा, खेल, मनोरजन	अवर्गीकृत कामगार	गैर कामगार
१ बबई	० १०	० ६५	१७ ८५	२७ ०१	८ १०	० ०३	४६ २६
२ कलकत्ता	० ०१	० ३४	२२ ८०	२१ २२	९ ३४	० १७	४६ १२
३ दिल्ली	० १७	० ४६	१९ २६	१६ ५८	५ ०१	० ०८	५८ ४४
४ मद्रास	० ०१	० ७५	१९ ०५	१६ ०८	६ १२	० ११	५७ ८६
५ अहमदाबाद	० ०४	० ६३	११ ८०	२६ ८०	४ ३६	० ०१	५६ ३६
६ हैदराबाद	० २९	१ ०८	१८ ११	१५ ८७	६ ६७	० ०३	५७ ९५
७ बगलौर	० ९१	१ १३	१६ ७३	१९ ९४	५ २०	० २२	५५ ८७
८ कानपुर	० २२	० ६३	१३ २७	२७ ६३	२ ९६	० ७९	५४ ५०

सेंसस आफ इंडिया १९६१, १ पार्ट दो सी (२) माइग्रेशन टेबुल।

सारणी नं ३ – गावों में आबादी की घनता और नगरों को चाला

राज्य	गावा में घनता (१९६१) कामगार। १००० एकड	शहरों में जानेवाली ग्रामीण जनसख्या का प्रतिशत
असम	६३५	२०१(२२०४६०)
आंध्र	४६७	६२०(१८४२३२८)
उडीसा	४०५	२०६(३३८२२१)
उत्तरप्रदेश	५०६	३२४(२०८१७८५)
केरल	४४०	३२०(४५९६३३)
गुजरात	२४२	८४७(१२९७१६३)
जम्मू-कश्मीर	७०६	२३३(६९२४२)
पजाब	२४२	५७०(९२४७८३)
प बगाल	४६०	८०१(२११३१७९)
बिहार	७३७	२९४(१२४८६६१)
मद्रास	६०२	८०४(१९२६२७६)
मध्य प्रदेश	३३०	४२६(११८१८५२)
महाराष्ट्र	२८१	१२३४(३५०४८१६)
मैसूर	२८६	६६६(१२२०६८२)
राजस्थान	२२६	३६४(५८०८६३)
पूरा भारत	३८६	५४६(१६६७९७९७)

नोट — गावों म घनता का अर्थ है, बोई हुइ भूमि से खेतिहरों का अनुपात। प्रतिशत है शहरों को जाने वाला सख्या म गांवों की कुलसख्या का अनुपात। ये आकडे सेंटर फार स्ट डेव लोसा दिल्ली में सकलित।

स्रोत भारत सरकार — इडियन ऐग्रिकल्चरल स्टैटिस्टिक्स, १ (१९६०—६१)। ससस आफ इडिया १९६१ —यूनियन प्राइमरा सेंसस एक्सट्रैक्ट — इन्डिया पार्ट २ ए। सेंसस आफ इंडिया १९६१ एक, पाट २ सी (३) माइग्रेशन टेबुल्स।

सारणी नो ४ – शिक्षा के हिसाब से बेरोजगारी का (१५ वर्ष और ऊपर) प्रतिशत

राज्य	अशिक्षित	शिक्षित	प्राइमरी जूनियर	मैट्रिक और ऊपर
असम	५१ ०१	२२ ५१	१८ ६०	७ ८८
आन्ध्र प्र	६ २७	१३ २१	३३ २८	४४ २४
उडीसा	२२ ४३	३६ ११	२६ ९७	१४ ४९
उत्तर प्र	२९ ४८	२२ ७६	२२ १८	२५ ५८
केरल	७ ५४	२७ ३४	२० ६७	४४ ४५
गुजरात	२५ ७५	१६ ७४	४७ २६	१० २५
जम्मू-कश्मीर	२७ ००	२१ ७१	२१ १८	३० ११
दिल्ली	२० ८१	१९ ९१	१८ ८३	४० ४५
पजाब	१६ ९६	८ २९	३० ६१	४४ १४
प बगाल	२९ १३	२७ ९१	२६ ६८	१६ २८
बिहार	२६ ४२	२५ ४२	२२ ६२	२५ ५४
मद्रास	११ ५९	२४ १०	३१ ३७	३२ ९४
मध्य प्रदेश	२७ ६२	३२ ९४	२४ ६२	१४ ८२
महाराष्ट्र	२३ ३०	१९ ३६	४० ५७	१६ ७७
मैसूर	१६ ५७	२९ ०७	१९ ६६	३४ ७०
राजस्थान	३५ ६६	३९ ३७	७ ०६	१७ ९१
भारत	२२ २५	२४ ०३	२८ २८	२५ ४७

सेंसस आफ इडिया १९६१, १ पार्ट २ बी (१) जेनरल इकनामिक टेबुल्स।

सारणी नौ ५ – रोजगार दफ्तरो के चालू रजिस्टर मे दर्ज उम्मेदवार पेशे के हिसाब से

	दिमबर १३, १९६६ को दज सख्या	कुल का प्रतिशत
पेशेवर, शिल्पिक आदि	१५३०५८	५ ८
प्रशासन, प्रबध अधिकारी	४३६४	० २
क्लक, विक्रेता आदि	९४३१६	३ ६
खेतिहर, दूधिया आदि	९७०२	० ४
खनक	२४८१	० १
परिवहन, सचार	६२१८६	२ ४
कारीगर, मिस्त्री	१९५३२३	७ ४
रसोइया चौकीदार जमादार	९९५३६	३ ८
मजदूर (अवर्गीकृत) किसी पशे के अनुभव से रहित	१०३३७१	३ ९
क – मैट्रिक से कम तथा अपढ	११७३७९४	४४ ८
ख – मैट्रिक तथा अडर ग्रेजुएट	६५०८०२	२४ ८
ग – ग्रेजुएट और ऊपर	७३८९९	२ ८
योग	२६२२४६०	१०० ०

सारणी नं ६ – बडे नगरो मे प्रवासी उम्र के हिसाबसे (प्रतिशत)

नगर	०–१४ वर्ष	१५–३४ वर्ष	३५–५९ वर्ष	६० वर्ष और ऊपर	उम्र नही बताई
१–बबई	१५ ०२	५१ ४१	२९ ४६	४ ०९	० ०२
२–कलकत्ता	१४ २५	४८ ५८	३२ ८१	४ ३५	० ०१
३–दिल्ली	१९ ४०	४८ ५५	२६ ४०	५ ६३	० ०२
४–मद्रास	१५ ६२	४८ ३५	३० १४	५ ८८	० ०१
५–अहमदाबाद	१८ ६४	४६ २३	३० ७२	४ ४०	० ०१
६–हैदराबाद	२१ ०२	४८ ३०	२५ ८०	४ ८८	० ००
७–बगलौर	१८ २१	४८ २४	२७ ६७	५ ८७	० ०१
८–कानपूर	१५ ५०	४९ ६०	२९ ९६	४ ९३	० ०१

ससस १९६१ १ पार्ट २ से (३) माइग्रेशन टेबुल्स।

सारणी नौ ७ – उम्र के हिसाब से बेरोजगारों का प्रतिशत १९६१

राज्य	१५–३४ वर्ष	३५–५९ वर्ष	६० और ऊपर	उम्र नहीं बताई गई
असम	७५ ६४	१९ ५४	४ ७८	० ०४
आंध्र प्र	८८ २०	१० ८२	० ९७	० ०१
उड़ीसा	८२ ४५	१५ ७२	१ ७४	० ०९
उत्तर प्र	८२ ७९	१४ ९४	२ २३	० ०४
केरल	८९ ६६	९ ६४	० ६८	० ०२
गुजरात	७७ ४१	१९ ६५	२ ९२	० ०२
जम्मू-कश्मीर	८३ ६७	१५ ०१	१ २५	० ०७
दिल्ली	८५ ५०	१३ ०३	१ ४७	० ००
पंजाब	९० १७	७ ७०	२ १०	० ०३
प बंगाल	७६ ०८	२१ २९	२ ६२	० ०१
बिहार	८६ ४१	१२ ००	१ ५४	० ०५
मद्रास	८६ ६२	१२ १३	१ २४	० ०१
मध्य प्रदेश	८० ६१	१७ ०२	२ ३५	० ०२
महाराष्ट्र	८१ ०९	१६ ४३	२ ४६	० ०२
मैसूर	८७ ६५	११ ५६	० ७१	० ०८
राजस्थान	७१ ८२	२४ ००	४ ०१	० १७
भारत	८२ ३०	१५ ६५	२ ०३	० ०२

सेंसस आफ इंडिया १९६१ १ पार्ट २बी (३) जेनरल इकनामिक टेबुल्स पृ ५४०—५७९ और ६०१-६२१।

सारणी नौ ८ — माध्यमिक शिक्षा मे छात्र-सख्या सामान्य और व्यावसायिक

कक्षा । वर्ष	सम्बधित वय वर्ग का प्रतिशत			कुल छात्र सख्या का प्रतिशत, व्यावसायिक शिक्षा में		
	लडके	लडकिया	जोड	लडके	लडकियाँ	जोड
कक्षा ८ – १०						
१९५०–५१	१० ६	१ ८	६ ५	२ २	८ ८	३ १
१९५५–५६	१४ ६	३ ३	६ ३	२ ०	७ ६	३ ०
१९६०–६१	२० ८	५ ४	१३ १	२ २	४ ७	२ ७
१९६५–६६	२८ ७	९ १	१९ १	१ ९	३ ३	२ २
१९७०–७१	३४ २	१२ २	२३ ४	३ ४	५ ०	३ ८
१९७५–७६	४० ८	१६ ६	२९ १	६ ०	७ ६	६ ४
१९८०–८१	४९ १	२२ ६	३६ ३	११ ०	१२ ४	११ ४
१९८५–८६	६० ४	३० ४	४६ ०	२० ०	२० ०	२० ०
कक्षा ११–१२						
१९५०–५१	३ ३	० ५	१ ९	४२ ७	५३ ६	४४ २
१९५५–५६	५ २	० ९	३ १	४१ ६	४९ ४	४२ ७
१९६०–६१	८ ०	१ ६	४ ९	४१ ७	४४ ९	४२ २
१९६५–६६	११ ५	२ ३	० ७	४० ७	३८ ५	४० ३
१९७०–७१	१४ ६	३ ५	९ २	४२ ५	४० २	४२ १
१९७५–७६	१७ ०	४ ८	११ ०	४६ ३	४४ ५	४५ ९
१९८०–८१	२१ ७	७ ४	१४ ८	४८ १	४७ २	४७ ९
१९८५–८६	२८ ८	११ ४	२० ४	५० ०	५० ०	५० ०

रिपोर्ट आफ द एजुकेशन कमीशन (मिनिस्ट्री आफ एजुकेशन, फार्म ए १९५०-५१ स १९६०-६१ के आधार पर)।

सारणी दस १ – विदेशी सहायतापर सरकारी क्षेत्र की निर्भरता

योजना अवधि	कुल विनियोग करोड रु में	काम में लगी विदेशी सहायता करोड रु	विदेशी सहायता कुल विनियोग के प्रतिशत में
पहली योजना	१५६०	१२९६	१२ ६
दूसरी योजना	३६५०	१३५२	२७
तीसरी योजना	६३००	२४७९	३९

गवर्मेंट आफ इंडिया इकनामिक सर्वे १९६५-६६।

सारणी दस २ – विदेशी महायता के स्रोत

स्रोत	तीसरी योजना के अंत तक स्वीकृत राशी		तीसरी योजना के अंत तक उपयोग	
	वास्तविक करोड रु	कुल का प्र श	वास्तविक	कुल का प्र श
स रा अमेरिका	३०२७ १२	५१ ५५	२५८८ १८	५७ ३२
सोवियत संघ	४८९ २७	८ ३३	२८७ ०४	६ ३६
आइ बी आर डी	४६२ ८१	७ ८८	३७९ ९८	८ ४२
जर्मन संघीय गणराज्य	४४९ ९६	७ ६६	३४७ ३३	७ ६९
ब्रिटेन	३६६ ४३	६ २४	२९३ ५३	६ ५०
आइ डी ए	२७८ ५५	४ ७४	२०० ६३	४ ४४
कनाडा	२२२ ४३	३ ७९	१६१ ६१	३ ५८
जापान	१७४ ०१	२ ९६	११३ ३५	२ ५१
अन्य	४०२ ०६	६ ८५	१४३ ४६	३ १८
योग	५८७२ ६४	१०० ००	४५१५ ११	१०० ००

गवर्मेंट आफ इन्डिया इकनामिक सर्वे १९६६-६७।

सारणी दस ३ – प्राप्त विदेशी सहायता, वापसी के तरीके के अनुसार

वापसी का तरीका	अवमूल्यन के पहले की दर पर करोड रुपए मे				
	पहली योजना के अत तक	दूसरी योजना के दौरान	तीसरी योजना के दौरान	अप्रैल १–१९६६ से सित ३०–१९६८	योग
क – विदशी मुद्रा में चुकाए जाने वाले ऋण	१२४ १३	६०७ ९३	१७५२ ०९	६६२ २३	३१४६ ३८
	(६१ ५५)	(४२ ५१)	(६१ ०७)	(६२ २५)	(५६ ५४)
ख – रुपये मे चुकाए जाने वाले ऋण	२ २९	११६ ८२	१५६ ३९	८ १६	२८३ ६६
	(१ १४)	(८ १७)	(५ ४५)	(० ७७)	(५ १०)
ग – अय सहायता (अ)	५ ०७	५४४ ८१	८५३ २२	३२१ ८०	१७२४ ९०
	(२ १५)	(३८ ०९)	(२९ ७४)	(३० २५)	(३१ ००)
घ – अनुदान	७० १८	१६० ६४	१०७ १५	७१ ५५	४०९ ५२
	(३४ ८०)	(११ २३)	(३ ७४)	(६ ७३)	(७ ३६)
योग	२०१ ६७	१४३० २०	२८६८ ८५	१०६३ ७४	५५६४ ४६
	(१०० ००)	(१०० ००)	(१०० ००)	(१०० ००)	(१०० ००)

अ — पी एल ४८०, पी एल ६६५ और थर्ड कड्री करेंसी असिस्टेंस

नोट — कोष्ठक की सख्या प्रत्येक योजना की अवधि में कुल सहायता का प्रतिशत है। गवर्मेंट आफ इंडिया इकनामिक सर्वे, १९६७–६८।

पुस्तक की मुख्य स्थापनाएं हैं– " राजनीति की स्वतंत्र सत्ता, भारतीय समाज में परिवर्तन लाने में शासन की सक्रिय भूमिका, भारतीय राजनीति की अपनी अलग शैली– जो पश्चिमी ढांचे के बाहुल्य के समुच्चयीकरण और आर्थिक शक्तियों की सार्वभौमता के मानववादी ढांचे, दोनों से भिन्न है–, इसके सामाजिक विश्लेषण की, जिसमें एक दल की प्रधानता को मुख्य स्थान है, देश में आनेवाले संकटों की चुनौती से राजनीति और शासन की कार्यप्रणाली में होनेवाले कई परिवर्तन, लोकतांत्रिक पद्धति और राज्य की मुख्य नीतियों की सफलता के बारे में आशावादी दृष्टिकोण।
पश्चिमी देशों में विकसित आधुनिकतम राजनीतिक धारणाओं तथा सिद्धान्तों का परीक्षण भारत के संदर्भ में किया गया है। तथा भारत जैसे नवीन राष्ट्रों की राजनीति का विश्लेषण करने में ये धारणाएं तथा सिद्धान्त किस तरह अक्षम हैं इसका विवेचन किया गया है।